दादा साहेब मावलंकर

लोक सभा के जनक

सुभाष काश्यप
संपादक

35

G. V. MAVALANKAR 1888-1956

MUKTI INDIA

1981

35
G.V. MAVALANKAR 1888-1956
INDIA
1991

दादा साहेब मावलंकर

लोक सभा के जनक

लोक सभा सचिवालय, नयी दिल्ली-110001
के लिए प्रकाशित

दादा साहेब मावलंकर

लोक सभा के जनक

उनका जीवन, कार्य एवं विचार

जन्म-शताब्दी ग्रंथ

संपादक

डॉ० सुभाष काश्यप

महासचिव, लोक सभा

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
23, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

शाखाएं
चौड़ा रास्ता, जयपुर
34, नेताजी, सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-3

लोक सभा सचिवालय, नयी दिल्ली-110001
के लिए प्रकाशित
[लोक सभा के प्रक्रिया तथा कार्य संचालन नियम
(छठा संस्करण) के नियम 382 के अधीन]

समीक्षा संबंधी प्रयोजन को छोड़कर, इस पुस्तक का कोई भी अंश, लोक सभा सचिवालय की लिखित पूर्व अनुमति के बिना, उद्धृत न किया जाये

ISBN 81-214-0241-7

मूल्य : 100.00

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 द्वारा प्रकाशित / प्रथम संस्करण : 1989 / © लोक सभा सचिवालय, 1989 / रुचिका प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 में मुद्रित। [225.1-11-1188/N]

DADA SAHEB MAVALANKAR---Father of Lok Sabha
(A Centenary Volume) edited by Dr. Subhash C. Kashyap Rs. 100.00

राष्ट्रपति
भारत गणतंत्र

संदेश

भारतीय संसदीय ग्रुप ने इस वर्ष श्री जी० वी० मावलंकर की जन्मशती के अवसर पर उनके जीवन और कार्यों से संबंधित लेखों को एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित करने का जो निर्णय किया है वह उपयुक्त ही है।

हममें से जिन लोगों को भारतीय संसदीय प्रणाली के उद्भव को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, श्री मावलंकर जी उन सौभाग्यशालियों के केंद्र बिंदु हैं। वे 1937 से 1940 के बीच बंबई विधान सभा के अध्यक्ष रहे, 1946 से 1947 तक केंद्रीय विधान सभा के प्रेसीडेंट रहे, वर्ष 1947 से 1950 तक संविधान सभा (विधायी) के अध्यक्ष रहे, 1950 से 1952 तक अंतरिम संसद के अध्यक्ष रहे और अंततः 1952 से लेकर 1956 में अपने निधन काल तक पहली लोक सभा के अध्यक्ष रहे। श्री जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही कहा था कि मावलंकर जी 'लोक सभा के जनक' हैं। उपर्युक्त सभाओं के पीठासीन अधिकारी के रूप में मावलंकर जी की भूमिका केवल इतनी-सी ही नहीं रही कि उन्होंने उस पद को गरिमापूर्ण ढंग से धारण किया। उन्होंने इस कार्य को इस सहज ढंग से किया जैसे उसे करने का उनमें जन्मजात गुण हो। उनकी भूमिका सभा के कार्यवाही संचालन से कहीं अधिक रही। इतिहास के उस काल में अपने पद के दायित्व के रूप में उनसे यह अपेक्षा की गयी थी कि वे क्रांति के स्वप्न को संवैधानिक प्रक्रियाओं का सुव्यवस्थित रूप दें। इसके लिए धैर्य, सहनशीलता और इस सबसे ऊपर दूरदर्शिता की आवश्यकता थी।

मावलंकर जी प्रक्रिया तथा नियमों में पारंगत थे। उन्होंने सदस्यों को कभी भी असंबद्ध प्रश्न पूछने, असंगत तर्क करने या अपने सुझाव देने की अनुमति नहीं दी। वे प्रश्नकाल को ऐसी जानकारी प्राप्त करने का अवसर मानते थे जिसका प्रयोग सदस्य बाद में वाद-विवाद के दौरान कर सकें। वे स्वयं सदन की गरिमा बनाये रखते थे और अन्य सदस्यों पर भी इस बात को लागू करते थे। सरकार उनकी उपेक्षा नहीं कर सकती थी तथा सदा सतर्क रहती थी। उनके विनिर्णय विद्वतापूर्ण, वजनदार और अकाट्य होते थे तथा वे आज तक बुद्धिमत्ता और निष्पक्षता के प्रमाण के रूप में बने हुए हैं। वास्तव में वे एक आदर्श अध्यक्ष थे जो दृढ़ होने के साथ-साथ विनम्र भी थे, कठोर होने के साथ-साथ उदार एवं सहानुभूतिपूर्ण भी थे तथा सभा के सभी वर्गों के प्रति सदैव न्यायपरायण थे।

मावलंकर जी वाद-विवाद का स्तर उच्च बनाये रखने में सहायता करते थे। उन्हें सदस्यों की विशेषज्ञता का ज्ञान था और वे उन सदस्यों को बोलने के लिए आमंत्रित करते थे जो वाद-विवाद में अपना उत्तम योगदान दे सकते थे। वे युवा सदस्यों का ध्यान रखते थे और उन्हें सभा में अपना कार्य अच्छे ढंग से निष्पादित करने के लिए प्रोत्साहित करते थे। वह सभा का इस प्रकार मार्गदर्शन करते थे कि सामान्य रूप से अधिक घुमाव-फिराव वाले वाद-विवाद का अच्छा और रचनात्मक परिणाम सामने आता था। वास्तव में वे मात्र अध्यक्ष से अधिक एक महान पीठासीन जनक थे।

हमारे देश में बढ़ती हुई राजनीतिक जागरूकता और जनाकाक्षांओं के संदर्भ में संसदीय संस्थाओं की भूमिका का महत्व अत्यधिक हो गया है। इन संस्थाओं के परिपक्व, गरिमामय और दायित्वपूर्ण आचरण पर ही भारत में संसदीय जीवन का भविष्य निर्भर करता है। मावलंकर जी का महान आदर्श भारतीय लोकतंत्र के लिए सर्वदा एक प्रेरणादायक प्रकाश-स्तंभ का कार्य करता रहेगा।

मुझे विश्वास है कि यह पुस्तिका उनके बहुआयामी व्यक्तित्व के साथ न्याय करेगी तथा युवा सांसदों के लिए एक पाठ्यपुस्तक का कार्य करेगी।

R. Venkataraman

नई दिल्ली,
22 जून, 1988

(आर० वेंकटरामन)

उप-राष्ट्रपति, भारत

संदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि श्री जी० वी० मावलंकर की जन्मशती उनकी गरिमा के अनुरूप ढंग से मनायी जा रही है और इस अवसर पर उनकी स्मृति में भारतीय संसदीय ग्रुप एक पुस्तिका प्रकाशित करने जा रहा है।

मावलंकर जी एक महान देशभक्त तथा हमारे विधानमंडल के एक महान जनक थे। पहली लोक सभा में स्वाभाविक और सर्वसम्मत रूप से उन्हें अध्यक्ष-पद का कार्यभार सौंपा गया। यह दायित्व भूतपूर्व बंबई विधान सभा और केंद्रीय एसेम्बली के अध्यक्ष के रूप में उनके अनुभव और उनकी कानूनी पृष्ठभूमि तथा विभिन्न बौद्धिक एवं भावनात्मक गुणों को देखते हुए सौंपा गया था। श्री मावलंकर जी के लोक सभा का अध्यक्ष बनने पर पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था: "आप उस उच्च पद के संचित बुद्धिकौशल को हम तक पहुंचायें और जिन लोगों को आपको जानने का सुअवसर मिला है, वे इस सदन में एक परामर्शदाता, मित्र और मार्गदर्शक तथा एक नेता के रूप में आपका महत्व समझते हैं।"

लोक सभा के प्रथम अध्यक्ष के रूप में, श्री मावलंकर ने भारत में संसदीय प्रक्रियाओं और प्रथाओं के विकास को रचनात्मक रूप से प्रभावित किया। सदन में वाद-विवाद के दौरान उनके द्वारा दिये गये विनिर्णय, निष्कर्ष और टिप्पणियां और संसदीय समितियों द्वारा अपने हाथ में लिये गये विभिन्न मामलों में उनके निर्णय मूल्यवान पूर्वोदाहरण तथा मार्गदर्शक सिद्ध हुए हैं।

श्री मावलंकर जी के निधन पर उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था : "वे लोक सभा के सबसे पहले अध्यक्ष थे, बल्कि हम यह भी कह सकते हैं कि वे लोक सभा के जनक थे और मुझे यकीन है कि उनका नाम लोक सभा और हमारी संसद के साथ एक लंबी अवधि तक एक ऐसे पुरुष के रूप में जुड़ा रहेगा जिसने उसे रूप दिया, उसका दिशा निर्देश किया और उस पर अपने व्यक्तित्व की छाप और प्रभाव छोड़ा।"

मैं श्री मावलंकर जी के जीवन और उनके कार्य के बारे में प्रकाशित की जा रही इस पुस्तिका का स्वागत करता हूं और आशा करता हूं कि इससे हमारे देश में संसदीय लोकतंत्र के विकास के बारे में और उसको समझने में गंभीर अध्ययन करने का प्रोत्साहन मिलेगा।

S D Sharma

(शंकर दयाल शर्मा)

नई दिल्ली
17 अगस्त, 1988

सत्यमेव जयते

प्रधान मंत्री

संदेश

श्री जी० वी० मावलंकर आधुनिक भारत के अत्यंत महान व्यक्तियों में से थे। कानूनी व्यवसाय और स्वतंत्रता संग्राम में उनके योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। एक विचारक, लेखक और मानवतावादी के रूप में उन्हें समाज के सभी वर्गों तथा समुदायों से सम्मान और प्रशंसा मिली। लोक सभा के प्रथम अध्यक्ष के रूप में उन्होंने भारत की लोकतांत्रिक संस्थाओं और परंपराओं को नया रूप देने में सहायता की। वे अपने पीछे ऐसे अनेक मूल्य और आदर्श छोड़ गये हैं जो आज के युवा वर्ग के लिए प्रासंगिक हैं।

श्री जी० वी० मावलंकर की जन्मशती के उपलक्ष्य में किये जा रहे समारोहों की सफलता के लिए मैं अपनी शुभकामनाएं भेज रहा हूं।

(राजीव गांधी)

नई दिल्ली
3 जून, 1988

डॉ० बलराम जाखड़
अध्यक्ष, लोक सभा

सत्यमेव जयते

प्राक्कथन

स्वतंत्र भारत के प्रथम अध्यक्ष, दादा साहेब के नाम से विख्यात, स्वर्गीय श्री गणेश वासुदेव मावलंकर अपने जीवनपर्यंत 'सादा जीवन, उच्च विचार' के उदाहरण रहे। वह एक महान दूरदर्शी, विद्वान, व्यापक दृष्टिकोण वाले और निष्ठावान व्यक्ति तथा प्रख्यात अधिवक्ता, निस्वार्थ समाजसेवी, प्रगतिशील शिक्षाविद्, प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी और एक आदर्श अध्यक्ष थे।

उन्होंने भारत के औपनिवेशिक राज्य से संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न गणतंत्र बनने तक की महत्वपूर्ण संक्रमण अवधि के दौरान देश के विधायी निकायों के विचार-विमर्श में मार्गदर्शन किया। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें ठीक ही 'लोक सभा के जनक' कहा था और उसी रूप में अध्यक्ष मावलंकर ने संसदीय लोकतंत्र के सार को भली भांति समझा था और स्वस्थ संसदीय परंपराएं तथा नये नियम और प्रक्रियाएं बनाने में पथ-प्रदर्शक की भूमिका निभाई थी। उन्होंने अपने अध्यक्ष-पद के कार्यकाल में संसदीय प्रक्रियाओं और विधायी सिद्धांतों के बारे में आश्चर्यजनक विद्वत्ता प्रदर्शित की थी। उनकी प्रखर प्रतिभा, विषयाधीन प्रश्नों को तुरंत समझने की विलक्षण बुद्धि, अपार धैर्य और हास-परिहास से परिपूर्ण उनके अद्वितीय व्यक्तित्व के कारण लोग उनका सम्मान करते थे।

लोक सभा के प्रथम अध्यक्ष के रूप में, मावलंकर जी ने सभा में संसदीय जीवन के विकास को नयी तथा सही दिशा प्रदान की। उन्होंने कहा था कि "हम सभी को

यह बात याद रखनी होगी कि हमारे विचारों और कार्य-प्रणालियों में चाहे जितनी भी भिन्नता हो, फिर भी यहां हम सब एक सांझे उद्देश्य, जो संविधान की प्रस्तावना की भाषा में देश के सभी नागरिकों को, 'न्याय', 'स्वतंत्रता', 'समता' और 'बंधुता' उपलब्ध कराना है, के लिए राष्ट्र के प्रतिनिधियों के रूप में एकत्र हुए हैं।"

मावलंकर जी ने भारत के विधायी निकायों के पीठासीन अधिकारियों के सम्मेलनों में गहन रुचि दिखायी और उन्हें विचारों तथा अनुभवों के आदान-प्रदान तथा संपूर्ण भारत के विधानमंडलों में स्वस्थ प्रथाएं तथा प्रक्रिया विकसित करने के विचार से वार्षिक आयोजन का स्वरूप प्रदान किया।

हमारे राष्ट्रीय जीवन के सामाजिक, राजनीतिक तथा संसदीय क्षेत्रों में मावलंकर जी ने विविध योगदान दिया। उनका हमारे संसदीय इतिहास में अत्यंत सम्मानजनक स्थान है। एक महान व्यक्ति और भारत के यशस्वी सपूत मावलंकर जी हम सभी के लिए सदैव प्रेरणा के स्रोत बने रहेंगे। उनकी जन्म-शताब्दी के सुअवसर पर हम उन्हें अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। लोक सभा सचिवालय द्वारा अल्पावधि में तैयार की गयी और महासचिव द्वारा कुशलतापूर्वक संपादित यह पुस्तक भारत में संसदीय संस्थाओं के विकास में श्री मावलंकर जी की बहुमूल्य सेवाओं के प्रति असीम आभार का प्रतीक मात्र है।

मुझे विश्वास है कि भारतीय राज्यतंत्र में सामान्य रुचि रखने वाले और संसदीय संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं में विशेष रुचि रखने वाले सभी व्यक्तियों के लिए यह पुस्तक उपयोगी और पाठनीय सिद्ध होगी।

(बलराम जाखड़)

नई दिल्ली
3 नवम्बर, 1988

प्रस्तावना

श्री गणेश वासुदेव मावलंकर, जिनका जन्म-शती समारोह 27 नवंबर, 1988 को आरंभ हो रहा है, स्वतंत्र भारत के प्रथम अध्यक्ष थे। उन्होंने 1946-56 के कठिन वर्षों के दौरान केंद्र में विधायी निकायों में हुए वाद-विवाद की अध्यक्षता की और नयी प्रक्रियाएं एवं स्वस्थ परंपराएं स्थापित करके संसदीय लोकतंत्र और उसकी संस्थाओं की ठोस नींव रखी। भारतवासी प्यार से उन्हें दादा साहेब कहते थे और श्री जवाहरलाल नेहरू ने तो उन्हें 'लोक सभा के जनक' की संज्ञा से विभूषित किया था।

अतः यह नितांत स्वाभाविक है कि भारतीय संसदीय दल और लोक सभा सचिवालय द्वारा अध्यक्ष मावलंकर की जन्म-शती भव्य रूप में मनायी जा रही है। यह पुस्तक जन्म-शती समारोह की एक कड़ी है।

यह पुस्तक चार भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में कतिपय ऐसे प्रख्यात व्यक्तियों के लेख दिये गये हैं जो श्री मावलंकर के जीवन, समय तथा कृत्य से सुपरिचित थे। प्रस्तावना अध्याय में श्री मावलंकर की जीवनी की एक झलक दी गयी है और संसदीय इतिहास में उनके स्थान को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। इसके बाद वाले अध्यायों में श्री मावलंकर की सेवाओं तथा विचारों का मूल्यांकन किया गया है। निजी संस्मरणों के ताने-बाने में ये अध्याय श्री मावलंकर के मोहक व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर रोशनी डालते हैं।

मावलंकर जी एक प्रभावशाली अध्यक्ष तथा सशक्त लेखक थे। उनके तर्क व्यंग्यात्मक, अकाट्य एवं विचारोत्तेजक हुआ करते थे। तर्क प्रस्तुत करने की उनकी शैली निराली थी। उनके भाषणों तथा लेखों से उनकी मनःस्थिति तथा विचारों का एक अंतरंग आभास मिलता है। दूसरे भाग में उनके कतिपय लेखों एवं भाषणों से उद्धरण दिये गये हैं।

श्री जी० वी० मावलंकर को इस बात का अहसास था कि स्वतंत्र भारत के प्रथम अध्यक्ष के नाते यह सुनिश्चित करना उनका कर्तव्य बनता है कि संसद से संबंधित विभिन्न संसदीय प्रक्रियाओं एवं नियमों और संवैधानिक उपबंधों का कार्यान्वयन उसी भावना से किया जाये जिस भावना से उनकी परिकल्पना की गयी थी। अतः वह सभा में विनिर्णय तथा टिप्पणियां करने के मामले में बहुत सावधानी

धानी करता करते थे। तीसरे भाग में उनके कतिपय महत्वपूर्ण विनिर्णयों एवं टिप्पणियों को संगृहीत किया गया है।

विभिन्न अवसरों पर महान हस्तियों द्वारा श्री मावलंकर को उत्कृष्ट एवं भाव-भीनी श्रद्धांजलियां दी गयी हैं। यह इस बात की परिचायक है कि उनको संसदविदों एवं अन्य व्यक्तियों के बीच कितना सम्मान प्राप्त था। श्री मावलंकर को दी गयी श्रद्धांजलियों से उद्धरण भाग चार में दिये गये हैं।

विवेकी पाठकों को पुस्तक की विषय-वस्तु में कतिपय पुनरुक्तियां मिल सकती हैं, जिसके लिए उनसे सादर क्षमाप्रार्थना है। इस प्रकार की किसी कृति में जिसमें विभिन्न महान हस्तियों के लेख संगृहीत हो, संपादक के लिए अधिक कांट-छांट करना मुश्किल है, अतः कुछ पुनरुक्तियों का होना अपरिहार्य हो जाता है।

इस पुस्तक के लिए राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री ने जो संदेश भेजे हैं उसके लिए हम उनके आभारी हैं। इस पुस्तक को प्रकाशित करने में प्रेरणा तथा मार्गदर्शन प्रदान करने और प्राक्कथन लिखने के लिए हम लोक सभा के माननीय अध्यक्ष तथा भारतीय संसदीय दल के प्रेजिडेंट डॉ० बलराम जाखड़ के भी आभारी हैं। श्री मावलंकर के जीवन तथा कार्य पर मूल्यवान लेख लिखने के लिए हम प्रो० एन० जी० रंगा, संसद सदस्य; श्री सत्येन्द्र नारायण सिंह, संसद सदस्य; श्री फ्रैंक एन्थनी, संसद सदस्य; श्री डी० बसुमतारी, संसद सदस्य तथा एस० एल० शकधर, लोक सभा के भूतपूर्व महासचिव तथा लोक सभा के अवैतनिक अधिकारी के प्रति भी आभार प्रकट करते हैं। हम श्री पी० जी० मावलंकर, भूतपूर्व ससंद सदस्य, को भी अध्यक्ष मावलंकर के 'रोल ऑफ लेजिस्लेटर्स' शीर्षक लेख की पांडुलिपि भेजने के लिए धन्यवाद देते हैं।

नेशनल पब्लिशिंग हाउस भी इस बात के लिए प्रशंसा तथा बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने पूर्णतया अपनी लागत पर तथा अल्प अवधि में इस पुस्तक को शीघ्रता-पूर्वक प्रकाशित किया। अंत में हम लोक सभा सचिवालय के अधिकारियों तथा कर्मचारियों, विशेषकर ग्रंथालय तथा संदर्भ, शोध, प्रलेखन तथा सूचना सेवा, के प्रति भी उनके मूल्यवान कार्य एवं सहायता के लिए आभार प्रकट करते हैं।

उनकी जन्म-शती के अवसर पर हम इस पुस्तक को अध्यक्ष जी० वी० मावलंकर को समर्पित करते हैं और उनकी स्मृति में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

नई दिल्ली,
4 नवम्बर, 1988

सुभाष काश्यप
महासचिव, लोक सभा

विषय-सूची

संदेश

राष्ट्रपति (v)
उप-राष्ट्रपति (vii)
प्रधान मंत्री (ix)
प्राक्कथन (xi)
प्रस्तावना (xiii)

भाग एक
उनका जीवन और कृतित्व

1
दादा साहेब मावलंकर : 'लोक सभा के जनक'
डॉ० सुभाष काश्यप
[3]

2
अध्यक्ष मावलंकर—एक मूल्यांकन
प्रो० एन० जी० रंगा, संसद सदस्य
[38]

3
जी० वी० मावलंकर—एक श्रद्धांजलि
सत्येन्द्र नारायण सिंह, संसद सदस्य
[45]

4

गणेश वासुदेव मावलंकर : स्वतंत्र भारत के प्रथम अध्यक्ष

फ्रैंक एन्थनी, संसद सदस्य

[49]

5

जी० वी० मावलंकर : उनका कार्य और आदर्श

डी० बसुमतारी, संसद सदस्य

[53]

6

दादा साहेब मावलंकर

एस० एल० शकधर

[58]

भाग दो

उनके विचार

श्री जी० वी० मावलंकर के भाषण तथा लेख

7

नये युग का सूत्रपात

[69]

8

पीठासीन अधिकारियों के सम्मेलन : स्वरूप तथा भूमिका

[70]

9

लोकतांत्रिक आदर्श तथा परंपराएं

[73]

10
विधानमंडल सचिवालय की स्वतंत्रता
[74]

11
पीठासीन अधिकारियों के कृत्य तथा
विधानमंडलों की भूमिका
[77]

12
संसदीय समितियां और सक्षम सरकार
[80]

13
विधानमंडल की प्रभुसत्ता
[85]

14
प्राक्कलन समिति तथा प्रशासन
[90]

15
वित्तीय नियंत्रण : लोक लेखा समिति
[96]

16
विधायकों की भूमिका
[103]

17
संसदीय सरकार : ब्रिटिश परंपराओं की प्रासंगिकता
[107]

18
लोकतंत्र का भविष्य तथा अध्यक्ष की स्थिति
[110]

19
विधानमंडलों की समस्याएं
[116]

20
अधीनस्थ विधान
[123]

21
भारत में संसदीय लोकतंत्र
[126]

22
प्रशासन पर निगरानी
[129]

23
अध्यक्ष की स्थिति : अविश्वास प्रस्ताव तथा संसदीय समितियां
[135]

24
संसद की महत्वपूर्ण भूमिका
[141]

25
अध्यक्ष का पद
[146]

भाग तीन
महत्वपूर्ण विनिर्णय

26
अध्यक्ष मावलंकर द्वारा दिये गये कुछ महत्वपूर्ण विनिर्णय
[153]

1. स्थगन प्रस्ताव 153
2. विधेयक 159
3. बजट 172
4. समितियां 175
5. विशेषाधिकार 188
6. प्रश्न 190

भाग चार
श्रद्धांजलियां

27
अध्यक्ष मावलंकर को श्रद्धांजलियां
[197]

भाग एक

उनका जीवन और कृतित्व

1

दादा साहेब मावलंकर 'लोक सभा के जनक'

—डॉ० सुभाष काश्यप*

भारत में संसद और संसदीय लोकतंत्र के इतिहास में गणेश वासुदेव मावलंकर—जिन्हें स्नेह से 'दादा साहेब' पुकारा जाता था—का नाम देशवासियों द्वारा बहुत सम्मान एवं कृतज्ञता के साथ हमेशा याद किया जायेगा। भारत में संसदीय पद्धति की ठोस और मजबूत नींव रखने में मावलंकर का स्थान उनके योगदान की महत्ता और अधिकता की दृष्टि से शायद जवाहरलाल नेहरू के बाद है। स्वयं नेहरू ने उन्हें 'लोक सभा के जनक' की संज्ञा देते हुए कहा था :

> "लोक सभा के स्वरूप निर्माण के प्रारंभिक समस्यापूर्ण दिनों में श्री मावलंकर एक मार्गदर्शक देवता की भांति लोक सभा में हमारी सहायता करते थे, हमें डांटते थे, और ठीक राह पर रखने का प्रयास करते थे। उन्होंने लोकतंत्रीय परंपराएं स्थापित करते हुए भारत में संसदीय जीवन के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। वह लोक सभा के प्रथम अध्यक्ष थे जिन्हें हम 'लोक सभा के जनक' की संज्ञा दे सकते हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि उनका नाम लोक सभा और हमारी संसद के साथ ऐसे व्यक्ति के रूप में भविष्य में सदा जुड़ा रहेगा जिसने इसे वर्तमान स्वरूप प्रदान किया, इसका मार्गदर्शन किया और इस पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ी।"

* डॉ. काश्यप लोक सभा के महासचिव हैं। यह लेख प्रकाशित होने वाली उनकी कृति 'हिस्टरी ऑफ पार्लियामेंट' (संसद का इतिहास) पर अंशतः आधारित है और इसमें अन्य बातों के साथ-साथ यह बताया गया है कि भारतीय संसद के इतिहास में मावलंकर का क्या स्थान है।

प्रारंभिक जीवन और शिक्षा

गणेश वासुदेव मावलंकर का जन्म बड़ौदा में अपने नाना के यहां 27 नवम्बर, 1888 को हुआ था। उनका परिवार मूलतः तत्कालीन बम्बई राज्य के रत्नागिरी जिले में मावलंग नामक स्थान में रहता था। लगभग 200 वर्ष पूर्व वे गुजरात में जा बसे थे।

मावलंकर ने प्रारंभिक तथा अंग्रेजी की छठी कक्षा तक माध्यमिक शिक्षा कोंकण (दक्षिण जिले) के महाड, देवरख और राजापुर स्थानों पर प्राप्त की, जहां उनके पिता वासुदेव केशव मावलंकर उप-न्यायाधीश के रूप में कार्यरत थे। वह 1902 के अंत में आगे शिक्षा के लिए अहमदाबाद में अपने पारिवारिक घर आये।

उन्होंने 1904 में बंबई विश्वविद्यालय से मैट्रिक पास किया और 1905 से 1908 तक गुजरात कॉलेज, अहमदाबाद से कॉलेज स्तर की शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने बीस वर्ष की अवस्था में भौतिक शास्त्र और रसायन शास्त्र वैकल्पिक विषय लेकर बी० ए० की परीक्षा 1908 में पास की। वह एक वर्ष (1909) के लिए कॉलेज के 'दक्षिणा फैलो' रहे। इसके बाद उन्होंने कानून का विषय लिया और कानून की दोनों परीक्षाएं (1911 और 1912 में) प्रथम श्रेणी में पास कीं। एल० एल० बी० (प्रथम वर्ष) की परीक्षा में वह विश्वविद्यालय के सफल छात्रों में प्रथम रहे।

वकील के रूप में

मावलंकर ने फरवरी 1913 में वकालत शुरू की। वह दीवानी मुकदमों के वकील थे और थोड़े से समय में ही वह दीवानी मामलों के नामी वकील बन गये तथा उनका वकालत का काम बहुत अधिक बढ़ गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आह्वान पर उन्होंने 1921 और 1922 में दो वर्ष के लिए अपना वकालत का पेशा छोड़ दिया था।

समाजसेवी और स्वतंत्रता सेनानी के रूप में

श्री मावलंकर ने समाज सेवा में युवावस्था से ही गहरी रुचि ली। यह कहना ठीक होगा कि उनका व्यवसायी पेशा और समाज सेवा एक साथ शुरू हुई और दोनों ही में साथ-साथ वृद्धि हुई। उन्होंने 1913 में अस्तित्व में आयी गुजरात एजुकेशन सोसायटी की सेवा अवैतनिक सचिव के रूप में की।

अपने वकालत के पेशे और जनसेवा के दौरान 1914 में वह सरदार वल्लभ-भाई पटेल के संपर्क में आये तथा उसके बाद उन्होंने सरदार पटेल के साथ मिल-कर अनेक जनसेवा और राष्ट्र निर्माण के कार्यों को संपन्न किया। जब गांधीजी

1915 में दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद अहमदाबाद में बस गये, तब देश के तत्कालीन अन्य गण्यमान्य देशभक्तों की भांति वह भी गांधीजी की ओर आकर्षित हो गये।

मावलंकर 'गुजरात सभा' नामक एक राजनीतिक संगठन के सदस्य बने और 1916 में उसके सेक्रेटरी चुने गये। अगले वर्ष इस सभा के प्रेजिडेंट पद के लिए गांधीजी को आमंत्रित किया गया। मावलंकर ने कैरा 'किराया नहीं आन्दोलन' में सक्रिय भाग लिया। गुजरात में 1918 में फैले इन्फ्लूएन्जा रोग के दौरान उन्होंने राहत कार्यों की व्यवस्था की और 1919 में अकाल के दौरान उन्होंने लोगों की बहुत सेवा की।

वह 1921-22 में गुजरात प्रोविंशियल कांग्रेस कमेटी के सचिव पद पर रहे और उन्होंने उसकी पहली बैठक नागपुर में दिसम्बर 1920 में स्वीकृत कांग्रेस के नये संविधान के अन्तर्गत बुलायी। अहमदाबाद में दिसम्बर 1921 में हुए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 36वें सत्र में वह स्वागत समिति के महासचिव थे। इस पूरे समय में वह कताई, खादी की बुनाई, राष्ट्रीय शिक्षा जैसी अनेक गतिविधियों से संबद्ध रहे।

पूरे गुजरात में 1927 में भयंकर बाढ़ आयी और मावलंकर ने एक बार फिर अपने वकालत के पेशे को छोड़ दिया जिससे वह राहत कार्यों में पूर्णरूप से संलग्न हो सकें।

गुजरात कॉलेज में 1928 में हुई हड़ताल मावलंकर के जीवन की एक बहुत बड़ी घटना है। कॉलेज के यूरोपीय प्रिंसिपल फिंडले शिराज उन छात्रों को दंडित करना चाहते थे जिन्होंने साइमन कमीशन के आगमन का विरोध करने के लिए उस दिन हुई सावधिक परीक्षा में अपनी कोरी कापियां वापस कर दी थीं। साइमन कमीशन का सभी दलों ने बहिष्कार किया था और ऐसी दशा में छात्र या तो परीक्षा से गैरहाजिर हो सकते थे या अपने परीक्षा पत्र कोरे वापस दे सकते थे। जिस हड़ताल का नेतृत्व मावलंकर ने किया, वह भी इस प्रिंसिपल के दमन का विरोध करने के लिए ही हुई थी। इस हड़ताल का समर्थन गांधीजी, पटेल और अन्य ने भी किया था। लगभग 750 छात्रों ने यह हड़ताल 35 दिन तक जारी रखी और अन्त में छात्रों की विजय हुई।

मावलंकर दिल से यह चाहते थे कि मृत्यु दंड समाप्त कर दिया जाये और इस विषय पर उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण लोगों से पत्र-व्यवहार किया। नेशनल राइफल एसोसिएशन, जिसके वह चेयरमैन थे, और अफ्रीका-एशियाई संबंध संस्थान की स्थापना का श्रेय भी उन्हें ही जाता है। उन्होंने जीवन के सामाजिक, शैक्षिक,

साहित्यिक, सांस्कृतिक और धार्मिक आदि सभी पहलुओं और सभी प्रकार की गतिविधियों में गहन रुचि ली।

वह अनेक धर्मार्थ ट्रस्टों और संगठनों से प्रेजिडेंट और ट्रस्टी आदि के रूप में संबद्ध रहे। इनमें साबरमती स्थित महात्मा गांधी का हरिजन आश्रम, कस्तूरबा गांधी नेशनल मेमोरियल फंड और गांधीजी की हत्या के पश्चात् प्रारम्भ किया गया गांधी मेमोरियल फंड (गांधी स्मारक निधि) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दिसम्बर 1950 में इस निधि के चेयरमैन पद को सरदार पटेल के स्थान पर मावलंकर ने संभाला। फिर वह कस्तूरबा गांधी निधि के चेयरमैन भी बन गये। यह काम बहुत कठिन था किंतु फिर भी मावलंकर ने इस कार्य को करने में आनन्द का अनुभव किया, क्योंकि इन कार्यों के माध्यम से उन्हें निर्धनों, हरिजनों, आदिम जातियों, महिलाओं और जन-साधारण की सेवा करने का अवसर प्राप्त हुआ। कस्तूरबा गांधी निधि और गांधी स्मारक निधि के कार्यों के संबंध में उन्होंने देश के सभी भागों का दौरा किया, क्योंकि वह सभी केन्द्रों की कार्य पद्धति को स्वयं देखना चाहते थे और साधारण कार्यकर्ताओं से स्वयं मिलना चाहते थे। अपने स्वास्थ्य की भी परवाह न करते हुए उन्होंने लंबी-लंबी यात्राएं कीं।

देश के स्वतंत्रता संग्राम के दौरान वह कई बार जेल गये और कुल मिलाकर उन्होंने छः वर्ष का कारावास भोगा। युद्ध का विरोध करने हेतु कांग्रेस द्वारा 1940 में शुरू किये गये वैयक्तिक सविनय अवज्ञा आंदोलन में उन्होंने भाग लिया। 26 नवम्बर, 1940 से 18 नवम्बर, 1941 तक वह जेल में रहे। 8 अगस्त, 1942 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा पारित 'भारत छोड़ो आंदोलन' के प्रस्ताव के सिलसिले में उन्हें 9 अगस्त, 1942 को अहमदाबाद में पुनः गिरफ्तार कर लिया गया और 10 मार्च, 1944 को रिहा किया गया।

नगरपालिका प्रशासक के रूप में

मावलंकर का सबसे बड़ा शौक स्वायत्त शासन था जिसके लिए अपने लंबे प्रारंभिक रचनात्मक जीवन में, जबकि वह अहमदाबाद नगरपालिका के सक्रिय सदस्य थे, उन्होंने सर्वश्रेष्ठ कार्य किया। श्री मावलंकर इस नगरपालिका के लिए पहली बार वर्ष 1919 में निर्वाचित हुए और वर्ष 1930-33 तथा वर्ष 1935-36 के दौरान अहमदाबाद नगरपालिका के दो बार अध्यक्ष रहे तथा वर्ष 1919-1936 की अवधि के दौरान उन्होंने विभिन्न पदों पर कार्य किया। वह दिल और दिमाग से नगरपालिका के कार्य के प्रति समर्पित रहे और बाद के वर्षों में भी नगरपालिका के कार्य के प्रति उनका लगाव जीवन-भर बना रहा। जब वह दिल्ली में थे, तो प्रायः कहा करते थे कि राष्ट्रीय स्तर पर सफल होने के लिए किसी भी व्यक्ति को स्वायत्त

शासन के स्तर पर अपना प्रारंभिक कार्य शुरू करना चाहिए और वह राष्ट्रीय स्तर के कार्य की तुलना में नगरपालिका के अपने कार्य को प्राथमिकता देंगे। जब कभी भी स्थानीय स्वायत्तशासी निकायों से संबंधित कोई सम्मेलन अथवा चर्चा होती थी तो मावलंकर सदैव सहयोग देने के लिए तैयार रहते थे। उन्होंने गुजरात में नदियाड में आयोजित स्थानीय स्वायत्तशासी निकायों के सम्मेलन का सभापतित्व किया और जून, 1954 में शिमला में स्वायत्तशासन मंत्रियों के सम्मेलन का भी उद्घाटन किया। उनके कार्यकाल के दौरान अहमदाबाद ने भारी प्रगति की और उन्होंने विशेष रूप से पूर्ववर्ती अध्यक्ष सरदार पटेल द्वारा किये गये रचनात्मक और प्रशासनिक कार्य के उदाहरण से प्रेरणा ली जो वर्ष 1924-28 की अवधि के दौरान अहमदाबाद नगरपालिका में पदासीन थे।

शिक्षाशास्त्री के रूप में

गांधी जी द्वारा असहयोग आंदोलन के एक कार्यक्रम के रूप में प्रारंभ की गयी संस्था गुजरात विद्यापीठ में मावलंकर ने कानून के प्रोफेसर के पद पर कार्य किया। वह अनेक शिक्षा संस्थाओं के साथ संबद्ध थे। वर्ष 1935 में उन्होंने और उनके साथियों ने अहमदाबाद एजूकेशन सोसायटी स्थापित की। वह गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी के अध्यक्ष थे, जिसे अब गुजरात सभा के नाम से जाना जाता है। यह एक प्रमुख संस्था है जो वर्ष 1948 में प्रारंभ की गयी थी और सामान्यतः गुजराती साहित्य और ज्ञान के विकास के लिए कार्यरत है। वह गुजरात विश्वविद्यालय एसोसिएशन के कार्यकारी सभापति और बंबई सरकार द्वारा नियुक्त गुजरात विश्वविद्यालय की समिति के भी सभापति थे। गुजरात विश्वविद्यालय को अस्तित्व में लाने के लिए उन्होंने कठोर परिश्रम किया, गुजरात विश्वविद्यालय न्यास की स्थापना की और विश्वविद्यालय की स्थापना करने संबंधी विधेयक के पारित होने से पहले लगभग 42 लाख रुपये की धनराशि एकत्रित की। अहमदाबाद एजूकेशन सोसायटी के अधीन, जिसके मावलंकर अध्यक्ष थे, धन संग्रह का अभियान जारी रखा गया। एक करोड़ पच्चीस लाख रुपये की कुल धनराशि एकत्रित की गयी।

लेखक के रूप में

कुछ लोगों को ही इस बात की जानकारी होगी कि अपने दिन-प्रतिदिन के कार्य के बारे में मावलंकर एक नियमित डायरी में लिखा करते थे। उन्होंने दिसम्बर, 1927 से ऐसा करना प्रारम्भ किया था। उनकी डायरी के उद्धरणों के दो छोटे खण्ड मराठी में प्रकाशित किये गये हैं। उन्होंने गुजराती में एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम 'मानवताना झरना' है। इसमें उन कैदियों के बारे में कुछ सत्य कथाएं हैं जिनसे वह

मिले थे और वर्ष 1942 से वर्ष 1944 की अवधि के दौरान, जबकि वह स्वयं जेल में थे, उन कैदियों का उन्होंने मार्गदर्शन किया था। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय सिद्ध हुई कि इसका पहला संस्करण केवल कुछ महीनों के समय में ही हाथोंहाथ बिक गया और दूसरा संस्करण प्रकाशित करना पड़ा। इस पुस्तक का मराठी, हिन्दी और मलयालम में भी अनुवाद किया गया है। गुजराती में लिखी गयी एक अन्य पुस्तक में गांधी जी के साथ बिताये गये दिनों के उनके संस्मरण और उन्हें गांधी जी से प्राप्त पत्रों को शामिल किया गया है। यह पुस्तक 'संस्मरणों' के नाम से प्रकाशित की गयी है। अंग्रेजी में मावलंकर ने वकील के रूप में अपने जीवन के संस्मरण 'माई लाइफ एट दि बार' नामक पुस्तक में लिखे हैं। इस पुस्तक ने सम्पूर्ण देश में लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उक्त पुस्तक प्रारम्भ में नयी दिल्ली से प्रकाशित 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में विभिन्न किस्तों में लेखों के रूप में प्रकाशित हुई थी। इसके अतिरिक्त वर्ष 1950 में यूरोप से अपने पुत्र के नाम मराठी में लिखे गये विवरणात्मक पत्र भी अब पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो गये हैं।

सांसद और अध्यक्ष के रूप में

श्री मावलंकर बहुमुखी प्रतिभा वाले व्यक्ति थे। राष्ट्र के कार्यों और जनता की सेवा में उन्होंने भारी योगदान किया। आने वाली पीढ़ियां उन्हें एक महान सांसद और स्वतंत्र भारत के पहले अध्यक्ष के रूप में स्मरण करेंगी। वह निःसंदेह एक जन्मजात अध्यक्ष थे। वह लगभग दो दशक तक विधायक रहे। इस दौरान वह कभी भी एक साधारण सदस्य के रूप में किसी भी सभा में नहीं बैठे। वह हमेशा प्रधान अथवा अध्यक्ष रहे।

बंबई विधान सभा (1937-1945) : फरवरी, 1937 में मावलंकर पहली बार विधायक बने; उन्होंने बंबई विधान सभा में अहमदाबाद नगर का प्रतिनिधित्व किया। उन्हें सूरत बंबई विधान सभा का अध्यक्ष चुन लिया गया और अपनी सदस्यता की अवधि (1937-45) में वे सभा के अध्यक्ष रहे। मावलंकर अपनी भारी जिम्मेदारियों के प्रति पूर्णतः जागरूक थे। अपने निर्वाचन पर सभा के सभी वर्गों से प्राप्त बधाई का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा :

> "मैं आपको आश्वस्त कर दूं कि मैंने यह कार्य पूरी विनम्रता और सेवाभाव के साथ स्वीकार किया है; और इस सभा के प्रत्येक सदस्य के सहयोग की आशा में अब मैं कह सकता हूं कि हमारे सामने जो कार्य है वह बहुत ही कठिन है। जैसा हमारे प्रधान मंत्री ने कहा, हम एक नये शासन की दहलीज पर खड़े हैं और जिस ढंग से हम इस राज्य के भाग्य का निर्माण करेंगे उसके दूरगामी परिणाम होंगे। जैसाकि एक वक्ता ने कहा, नये संविधान के अंतर्गत हमारी

यह पहली विधान सभा है और यदि हमें इतिहास में अपना स्थान बनाना है, तो हमें यह याद रखना होगा कि हमारी जिम्मेदारियां बहुत भारी हैं···चूंकि अध्यक्ष का किसी दल से संबंध नहीं होता इसलिए मैं भी किसी दल से संबंध नहीं रखूंगा और मैं किसी दलगत या व्यक्तिगत बातों को ध्यान में रखे बिना नियमों और विनियमों को पूरी निष्पक्षता के साथ लागू करूंगा।"

बंबई विधान सभा के अध्यक्ष के रूप में उनकी सफलता के कारण कांग्रेस दल ने उन्हें जनवरी, 1946 में, जब कांग्रेस ने फिर से केंद्रीय और विधान-मंडलों में प्रवेश करने का फैसला किया, केंद्रीय विधान सभा का अध्यक्ष चुन लिया।

केन्द्रीय विधान सभा (1946-47) : छठी केंद्रीय विधान सभा के निर्वाचनों के पश्चात् विधान सभा की पहली बैठक 21 जनवरी, 1946 को हुई। विधान सभा के अध्यक्ष का निर्वाचन होने तक सभा की कार्यवाही को चलाने के लिए एक नाम-निर्दिष्ट सदस्य, सर कोवासजी जहांगीर, को सभापति नियुक्त किया गया। विधान सभा के अध्यक्ष पद के लिए निर्वाचन 14 जनवरी, 1946 को हुआ। इस निर्वाचन में लोगों ने बड़ी सरगर्मी से भाग लिया। सर कोवासजी जहांगीर सरकारी उम्मीदवार थे और उन्हें सरकारी पक्ष, यूरोपीय ग्रुप और मुस्लिम लीग का पूरा समर्थन प्राप्त था। उन्होंने चुनाव लड़ने के लिए सभापति पद से त्यागपत्र दे दिया। उनके नामांकन का प्रस्ताव नवाबजादा लियाकत अली खान द्वारा किया गया और सैयद गुलाम भीक नारंग ने उनके प्रस्ताव का अनुमोदन किया। श्री जी० वी० मावलंकर कांग्रेस के उम्मीदवार थे। उनका सरकार ने खुला विरोध किया। उनके नाम का प्रस्ताव सरत चन्द्र बोस और मनु सुबेदान ने किया तथा कांग्रेस के सत्य नारायण सिन्हा और श्री प्रकाश ने उसका अनुमोदन किया। उस समय अध्यक्ष का चुनाव गुप्त मतदान द्वारा किया जाता था। दोनों पक्षों के वचनबद्ध सदस्य थे और ऐसा लगता था कि कोवासजी जहांगीर निश्चित रूप से चुनाव जीत जायेंगे। जब मतगणना हुई तो लोगों को यह जानकर बड़ी हैरानी हुई कि मावलंकर तीन वोटों से जीत गये हैं और उन्हें 63 के मुकाबले 66 वोट से निर्वाचित घोषित कर दिया गया। यह संभवतः इस कारण हुआ कि सरकारी पक्ष के कुछ लोगों ने भी श्री मावलंकर को वोट दे दिये। ऐसा लगता है कि सरकार के कुछ सदस्यों को श्री मावलंकर को वोट देने के लिए राजी कर लिया गया था, भले ही इससे सरकार नाराज हो। वास्तव में सरकार इतनी नाराज हुई कि वह उन लोगों के नाम जानना चाहती थी जिन्होंने सरकारी आदेश की अवज्ञा की और मावलंकर को वोट दिये और इसलिए सरकार ने निर्वाचन अधिकारी एम० एन० कौल से मतदान-पत्र दिखाने के लिए कहा। निर्वाचन अधिकारी को उम्मीद थी कि ऐसा होगा और इसलिए उन्होंने कहा कि उन्होंने मतदान पत्र नष्ट कर दिये हैं।

औपचारिक बधाई भाषण देते हुए लियाकत अली खान जैसे मुस्लिम लीग के कई सदस्यों ने साम्प्रदायिक आधार पर कुछ तनाव और विवाद पैदा करने की कोशिश की। यूरोपीय ग्रुप की ओर से बोलते हुए पी० जी० ग्रिफिथ्स ने एक गरिमापूर्ण भाषण दिया और कहा :

"मैं यूरोपीय ग्रुप की ओर से इस महान पद पर आपके निर्वाचन के लिये आपको हार्दिक बधाई देता हूं और अपने पूरे समर्थन का आश्वासन देता हूं और हमारा विश्वास है कि आप अपनी बुद्धिमता और निष्पक्षता से इस सभा की कार्यवाही का मार्गदर्शन करेंगे। हम इस ग्रुप के लोग उस देश से आये हैं जिसे संसदीय परंपरा को जन्म देने का गौरव प्राप्त है और हमें इस बात का पूरा अहसास है कि इस सम्मानित सभा का प्रेसीडेंट, जैसाकि हाउस ऑफ कामन्स के अध्यक्ष के मामले में हैं, उस संसदीय परंपरा का केंद्र बिंदु है। इसका अभिप्राय यह है कि आपकी गरिमा कायम रखकर हम अपनी गरिमा बनाये रख सकते हैं और आपकी आज्ञा मानकर ही हम जनता को यह सिखा सकते हैं कि वह विधान-मंडल के निर्णयों को कोई आपत्ति उठाये बिना स्वीकार करे। हर मामले में हम जितना आदर आपके प्रति प्रदर्शित करेंगे उतना ही आदर हम विधान-मंडल के प्रति भी प्रदर्शित करेंगे और उतनी ही दृढ़ता से हम इस देश में संसदीय परंपरा स्थापित करेंगे। अतः अब चूंकि आप इस उच्च पद पर निर्वाचित हो गये हैं, इसलिये आप एक वर्ग अथवा दल-विशेष के ही नहीं अपितु समूची सभा के प्रतिनिधि बन गये हैं और इसलिए आप अपने कर्तव्यों के निर्वहन में इस सभा के प्रत्येक दल और सदस्य के पूरे समर्थन की अपेक्षा कर सकते हैं। इस ग्रुप की ओर से मैं आपको पूरा आश्वासन देता हूं कि आपको हमारा पूर्ण समर्थन मिलेगा और हमें इसमें कोई संदेह नहीं है कि सभी दलों के उस समर्थन के जवाब में आप उन सभी को उनके राजनीतिक संबंधों का ध्यान किये बिना निष्पक्ष और समान रूप से अपना संरक्षण प्रदान करेंगे।

अन्त में हम आशा करते हैं कि आपके बुद्धिमतापूर्ण मार्गदर्शन के कारण इस सभा की गरिमा बढ़ेगी और यह सभा, जो इस समय अधीनस्थ विधानमंडल है, आपका कार्यकाल समाप्त होने से पहले पूर्णरूपेण प्रभुसत्तासम्पन्न निकाय के रूप में परिवर्तित हो सकेगी। इस बीच हमारा यह उद्देश्य होगा कि हम आपके इन कठिन एवं दायित्वपूर्ण कर्तव्यों के निर्वहन में आपकी पूरी सहायता करें।"

मावलंकर 14-15 अगस्त, 1947 तक केंद्रीय विधान सभा के अध्यक्ष के पद पर रहे। भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के अन्तर्गत भारत की संविधान सभा

को एक पूर्णरूपेण प्रभुसत्तासम्पन्न निकाय घोषित किया गया और 14-15 अगस्त, 1947 की अर्ध-रात्रि को विधान सभा को देश का शासन चलाने के पूरे अधिकार मिल गये। उक्त अधिनियम के अन्तर्गत, केंद्रीय विधान सभा और कौंसिल ऑफ स्टेट्स 14 अगस्त, 1947 के बाद समाप्त हो गयीं और भारत की संविधान सभा, जो संविधान बनाने के प्रयोजनार्थ 9 दिसंबर, 1946 से कार्य कर रही थी, को देश के प्रभुसत्तासम्पन्न विधानमंडल के रूप में कार्य करने के लिये भी अधिकार दे दिये गये। 20 अगस्त, 1947 को जब भारत के कई भागों में ध्वजारोहरण समारोह से संबंधित घटनाओं पर संविधान सभा में चर्चा हो रही थी, तो एक व्यवस्था का प्रश्न उठाया गया कि क्या वे संविधान सभा और साथ ही देश के विधानमंडल के रूप में कार्य कर सकते हैं? इस प्रश्न तथा इससे संगत अन्य मामलों पर विचार करने के लिये उसी दिन (20 अगस्त, 1947) को मावलंकर की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गयी। समिति ने 25 अगस्त, 1947 को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। 29 अगस्त, 1947 को मावलंकर समिति के प्रतिवेदन पर विचार करने के बाद संविधान सभा ने संकल्प किया कि विधान सभा द्वारा संविधान बनाने वाले निकाय के रूप में किये जाने वाले कार्यों को इसके एक औपनिवेशिक विधानमंडल के कृत्यों से पृथक माना जाना चाहिए और जब विधान सभा एक औपनिवेशिक विधानमंडल के रूप में कार्य कर रही हो, तो इसके कार्यसंचालन के लिये एक अध्यक्ष के निर्वाचन की व्यवस्था की जानी चाहिए। उपर्युक्त संकल्प के अनुसार औपनिवेशिक भारत की स्थापना से तुरंत पूर्व प्रवृत्त भारतीय विधायी नियमों में संशोधन किये गये और उन्हें संविधान सभा के अध्यक्ष द्वारा स्वीकार किया गया।

संविधान सभा (विधायी) : जब विधान सभा ने सामान्य विधियां बनाने के लिये बैठकें कीं, तो यह संविधान सभा की विधायी शाखा अथवा संविधान सभा (विधायी) कहलायी। अध्यक्ष की अध्यक्षता में इसने देश के विधानमंडल के रूप में कार्य किया और स्वतंत्रतापूर्व विधान सभा का सचिवालय इसका सचिवालय था। संविधान सभा (विधायी) के पहले सत्र की पहली बैठक कौंसिल हाउस के असेम्बली चैम्बर (जो इस समय संसद भवन का लोक सभा कक्ष कहलाता है)में 17 नवम्बर, 1947 को मध्याह्नपूर्व 11 बजे हुई। संविधान सभा के अध्यक्ष पीठासीन थे। चूंकि अध्यक्ष के पद के लिये केवल एक ही अर्थात श्री जी० वी० मावलंकर का ही नामांकन पत्र प्राप्त हुआ था, इसलिये उन्हें विधिवत निर्वाचित घोषित किया गया। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने अध्यक्षपीठ खाली की और अध्यक्ष मावलंकर उस पर विराजमान हुए।

अंतरिम संसद (1950-1952) : भारत के लोगों ने अपनी संविधान सभा में 26 नवम्बर, 1949 को स्वतंत्र भारत का संविधान अंगीकृत, अधिनियमित और

आत्मार्पित किया। संविधान 26 जनवरी, 1950 को लागू हुआ किंतु नागरिकता, निर्वाचन और अंतरिम संसद संबंधी प्रावधान 26 नवम्बर, 1949 को तुरंत ही लागू हो गये। अनुच्छेद 379 के अन्तर्गत, डोमिनियन विधानमंडल अर्थात् संविधान सभा (विधायी) अंतरिम संसद के रूप में बनी रही और पहले की स्थिति में कोई अधिक अंतर नहीं आया। यह महत्वपूर्ण है कि भारत में संसदीय संस्थाओं के इतिहास में 'संसद' शब्द का पहली बार प्रयोग हुआ। आम प्रयोग में अंतरिम विशेषण भी प्राय: भूल जाता था और संघीय विधानमंडल अथवा भारत के गणतंत्र के राष्ट्रीय विधान-मंडल को संसद के नाम से पुकारा जाने लगा।

अंतरिम संसद की पूरी अवधि के दौरान मावलंकर अध्यक्ष के पद पर बने रहे। इससे अच्छी और कोई व्यवस्था नहीं हो सकती थी कि एक ही व्यक्ति स्वतंत्रता से पूर्व और पश्चात् पीठासीन अधिकारी बना रहे जो दो विभिन्न स्थितियों में प्राप्त अनुभवों और कौशल का बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार प्रक्रियाओं में समा-योजन और रूपभेद करने के लिए प्रयोग कर सके और स्वतंत्र भारत के एक उत्तर-दायी विधानमंडल की आवश्यकताओं को पूरा कर सके। चूंकि वह दृष्टांतों को नयी आवश्यकताओं से जोड़ सके और नैरन्तर्य बनाये रखते हुए परिवर्तन ला सके, इसलिये उनके अध्यक्ष पद पर रहने की अवधि को भारत में संसदीय प्रक्रियाओं के विकास के लिए बहुत ही लाभप्रद समझा जा सकता है। उनके बहुत से महत्त्वपूर्ण विनिर्णय विधान सभा में उनके पिछले अनुभव के आधार पर दिये गये। 5 मार्च, 1952 को अंतरिम संसद के सदस्यों को अध्यक्ष द्वारा दिये गये बिदाई भाषण का उत्तर देते हुए प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा :

> "'''महोदय, आप पीठासीन होते थे तो हमारा मार्गदर्शन करते थे और जब तक आप पीठासीन होते थे हम अधिक नहीं भटकते थे। जो भी हो, हमने जो कुछ भी किया है, इसमें कोई संदेह नहीं कि जो प्रथाएं, आदतें और प्रक्रियाएं विकसित हुई हैं उनका विकास मुख्य रूप से आपके कुशल और मैं तो कहूंगा कि बड़ी सूझबूझ से इस सभा का मार्गदर्शन करने के कारण हुआ है। हम सभी बाद की संसद में पुन: आते हैं अथवा नहीं, आपके इस मार्गदर्शन से बहुत लाभान्वित हुए हैं और हम जिस भी कार्यकलाप में संलग्न हों यह लाभ हमें होता रहेगा'''इसके अतिरिक्त, मुझे विश्वास है कि हम आपको तथा आपने इन वर्षों में हमें जो शिक्षा दी उसे याद रखेंगे।"

अंतरिम संसद भारतीय विधानमंडल के इतिहास में एक बहुत ही महत्वपूर्ण चरण अर्थात एक उपनिवेशीय संस्था से पूर्णतया प्रतिनिधिक संसदीय लोकतंत्र के सिद्धांतों पर आधारित स्वतंत्र भारत के संविधान के अन्तर्गत एक प्रभुतासम्पन्न

संसद के रूप में परिवर्तन की द्योतक है। यह एक पूरी तरह से जवाबदेह सरकार के एक नये युग के सूत्रपात की भी द्योतक है। संविधान के प्रावधानों के अनुसार सभा के कार्यसंचालन के लिए कुछ प्रक्रिया संबंधी तथा अन्य रूपभेद करना स्पष्ट रूप से आवश्यक था। बदलती हुई परिस्थितियों के कारण आवश्यक हुए अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का संकेत अध्यक्ष मावलंकर द्वारा अन्तरिम संसद के प्रारंभ में एक वक्तव्य में दिया गया था। कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण परिवर्तनों का, जिन पर अध्यक्ष मावलंकर के व्यक्तित्व की छाप है, संक्षिप्त ब्यौरा नीचे दिया गया है।

प्रश्न

सरकार विधानमंडल के प्रति जवाबदेह बन गयी और इसे प्रशासन के सभी मामलों के बारे में जानकारी संसद के समक्ष रखने के लिए सहमत होना पड़ा। सभी मंत्रालयों/विभागों को प्रश्नों का उत्तर देने के लिए तीन समूहों—समूह एक, समूह दो और समूह तीन—में विभाजित किया गया। मंत्रालयों/विभागों के विभिन्न समूहों के लिए विभिन्न दिन नियत किये गये। चूंकि सभा एक सप्ताह में छः दिन अर्थात् रविवार के सिवाय सभी दिन समवेत होती थी, इसलिये मंत्रालयों/विभागों के प्रत्येक समूह की बारी सप्ताह में दो बार आती थी। प्रश्न संबंधित मंत्रालय को सम्बोधित किये जाते थे।

अल्प-सूचना प्रश्न : अल्प-सूचना प्रश्नों की प्रक्रिया सदस्यों द्वारा अविलंबनीय लोक महत्त्व के मामलों में जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से बार-बार दिये जाने वाले स्थगन प्रस्तावों की संख्या कम करने के उद्देश्य से अन्तरिम संसद काल में ही आरंभ की गयी। इन प्रश्नों का उत्तर तीन दिन की अल्प-सूचना देने पर दिया जा सकता है, बशर्ते कि संबद्ध मंत्री इसके लिए सहमत हो।

आधे-घंटे की चर्चा : दूसरी जो नयी महत्वपूर्ण विधा अन्तरिम संसद-काल में विकसित हुई, वह है उन महत्वपूर्ण लोकहित के मामलों पर सदस्यों को आधे घंटे की चर्चा उठाने की अनुमति प्रदान करना जो हाल ही में सभा में पूछे गये प्रश्नों के विषय रहे हों। यह प्रक्रिया इस उद्देश्य से आरंभ की गयी कि सदस्यों को पूरी-पूरी जानकारी मिल सके और वे प्रश्नकाल के दौरान पूछे गये मौखिक प्रश्नों की अपेक्षा सविस्तार मुद्दे उठा सकें। आशा थी कि इस व्यवस्था के उपरान्त अनुपूरक प्रश्नों पर कम समय नष्ट होगा और सदस्य अधिक मौखिक प्रश्न पूछ सकेंगे। 5 मार्च, 1952 को संसद में बोलते हुए अध्यक्ष मावलंकर ने टिप्पणी की :

> "प्रश्नकाल के दौरान जो मुद्दे उठते हैं उनका स्पष्टीकरण करने हेतु हमने एक नियम की व्यवस्था की है जिसे तकनीकी तौर पर हम आधे-घंटे की चर्चा

कहते हैं, और मुझे खुशी है कि सदस्यों ने इस व्यवस्था का लाभ उठाया है।"

विधायी प्रक्रिया : विधायी प्रक्रिया के क्षेत्र में अन्तरिम संसद काल में इस आशय की एक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था की गयी कि प्रत्येक विधेयक के साथ एक वित्तीय ज्ञापन होगा जिसमें उन खंडों की ओर विशेष ध्यान आकृष्ट किया जायेगा जिनमें व्यय अन्तर्ग्रस्त है और यह बताया जायेगा कि विधेयक पारित हो जाने की दशा में अनुमानत: कितना आवर्ती तथा अनावर्ती व्यय होगा। यह व्यवस्था भी की गयी कि प्रवर समिति का सभापति अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किया जायेगा और यदि उपाध्यक्ष उस समिति का सदस्य है तो वह उसका पदेन-सभापति होगा। समिति की बैठक के लिए गणपूर्ति सदस्यता की एक-तिहाई कर दी गयी जबकि पहले यह पांच निर्धारित थी। संचित निधि के निर्माण के बाद वित्तीय मामलों में भी प्रक्रिया में संशोधन करना आवश्यक हो गया। संसद को पूरा बजट पास करने से पहले लेखानुदान पास करने की शक्ति प्रदान की गयी। लेखानुदान और विनियोग विधेयक पारित करने की प्रक्रिया भी निर्धारित की गयी।

स्थगन प्रस्ताव : जिन दिनों केन्द्रीय विधान सभा थी उन दिनों सरकार विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं होती थी। अत: स्थगन प्रस्ताव को सरकार की निंदा का प्रस्ताव नहीं माना जा सकता था। इस स्थिति में आजादी के बाद परिवर्तन हुआ, क्योंकि अब सरकार संसद के प्रति उत्तरदायी हो गयी। इसलिए आजादी के बाद भी स्थगन प्रस्ताव को स्वीकार करने के विषय में वही नियम लागू नहीं किये जा सकते थे। पहले सदस्यों को पर्याप्त प्रक्रियागत सुविधाएं उपलब्ध न होने के कारण स्थगन प्रस्ताव की व्यवस्था का उपयोग विशिष्ट मामलों की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट करने और सरकार की आलोचना करने के लिये किया जाता था। आजादी के बाद, उस उद्देश्य के लिये कई और विधाएं उपलब्ध हो गयीं। अत: सभी छोटे-मोटे मामलों में स्थगन प्रस्ताव स्वीकार नहीं किये जा सकते थे। अध्यक्ष मावलंकर के शब्दों में :

"15 अगस्त, 1947 से समग्र राजनीतिक ढांचा बदल गया है। अब लोकप्रिय सरकार है और वह पूर्णत: निर्वाचित जन-प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी है। अत: स्थगन प्रस्तावों संबंधी नियम उतनी ही कट्टरता से लागू करने होंगे जितनी कड़ाई से वे ब्रिटेन में लागू होते हैं।"

राष्ट्रपति के अभिभाषण पर चर्चा : स्वतंत्रता और स्वतंत्र भारत के संविधान के लागू होने से पूर्व गवर्नर जरनल के अभिभाषण पर विधानमंडल के सदनों द्वारा

चर्चा किये जाने के विषय में कोई व्यवस्था नहीं थी। अभिभाषण को केंद्रीय विधान मंडल में आलोचना का विषय नहीं बनाया जा सकता था क्योंकि सरकार विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं होती थी। अंतरिम संसद के समय ही वस्तुतः 'धन्यवाद प्रस्ताव' के जरिये राष्ट्रपति के अभिभाषण पर चर्चा करने की परिपाटी आरंभ हुई।

संसदीय समितियां : अध्यक्ष मावलंकर के मार्गदर्शन में और उनके निदेशानुसार संसदीय समितियों के गठन और प्रक्रिया संबंधी नियमों में संशोधन किया गया ताकि उनके स्वरूप में नयी राजनीतिक स्थिति के अनुसार परिवर्तन किया जा सके। कई नयी समितियां भी स्थापित की गयीं। यह निर्णय किया गया कि एक संसदीय समिति गठित की जाये जो संसदीय विशेषाधिकार भंग होने के मामलों की जांच करे जिससे सभा के समय में बचत हो सके। अन्तरिम संसद की स्थापना के बाद ही 2 अप्रैल, 1950 को पहली बार अध्यक्ष द्वारा विशेषाधिकार समिति नियुक्त की गयी जिसके दस सदस्य थे। तथापि समिति ने अन्तरिम संसद के कार्यकाल में कोई रिपोर्ट नहीं दी।

अध्यक्ष मावलंकर के सुझाव पर नियम समिति बनाने का भी विचार किया गया। सभा द्वारा नियमों को अंगीकार करने के लिए प्रधान मंत्री पंडित नेहरू द्वारा 31 अगस्त, 1948 को संविधान सभा (विधायी) में एक प्रस्ताव पेश किया गया। उन्होंने सुझाव दिया कि सभा को सामान्य रूप से नियमों का अनुमोदन कर देना चाहिए और बाद में सभा की एक समिति द्वारा उन पर विस्तार से विचार किया जा सकता है। सदस्यों से कहा गया कि नियमों में संशोधन के बारे में वे अपने सुझाव दें। 1 अप्रैल, 1950 को अध्यक्ष ने अपने सभापतित्व में एक समिति नियुक्त करने की घोषणा की जिसके द्वारा संसदीय प्रक्रिया तथा कार्य संचालन नियमों में संशोधन करने और ऐसी सिफारिशें करने, जिन्हें वह उचित समझे, के लिए सदस्यों द्वारा समय-समय पर प्राप्त सुझावों पर विचार किया जा सके। स्थापित किये जाने से लेकर 1951 तक नियम समिति ने अध्यक्ष के सलाहकार निकाय के रूप में कार्य किया। मई, 1951 में नियम समिति के सभापति (अध्यक्ष स्वयं ही सभापति थे) ने यह टिप्पणी की कि चूंकि नियम समिति पहले ही एक अनौपचारिक व्यवस्था के अधीन कार्य कर रही है और समिति के कार्यचालन से प्राप्त अनुभव संतोषजनक है, अतः यह प्रस्ताव किया गया है कि उसके गठन तथा कृत्यों आदि को मूर्त रूप दे दिया जाये। समिति सहमत हुई और पहली बार मई, 1951 में नियम समिति से संबंधित उपबंधों को प्रक्रिया नियमों में शामिल किया गया।

अध्यक्षपीठ द्वारा महत्वपूर्ण विनिर्णय / टिप्पणियां

अन्तरिम संसद के कार्यकाल के दौरान अध्यक्ष मावलंकर ने स्थायी महत्व के कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण विनिर्णय दिये। उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं :

1. स्थगन प्रस्ताव की सूचना देने वाले सदस्य के नाम का उल्लेख सदैव करने की जरूरत नहीं। कई बार स्थगन प्रस्ताव स्पष्टतया बहुत ही महत्वहीन होता है और उसकी सूचना देने वाले सदस्य को सूचना देने से ही ख्याति मिल जाती है। ऐसे मामलों में सदस्य के नाम का उल्लेख नहीं किया जाना चाहिए। (7 मार्च, 1950, पृष्ठ 1177-79)
2. दिन-प्रतिदिन चलने वाली नीति को स्थगन प्रस्ताव की विषय-वस्तु नहीं बनाया जा सकता। (15 नवम्बर, 1950, खंड 19-20)
3. सीमान्त शीर्षक विधेयक का अंग नहीं होता, उसमें संशोधन की अनुमति नहीं है। (10 फरवरी, 1950, पृष्ठ 409-10)
4. किसी संशोधन विधेयक पर चर्चा के दौरान संपूर्ण विधि पर नहीं बल्कि उन्हीं धाराओं पर चर्चा होती है जिनमें संशोधन किया जाना हो (3 फरवरी, 1950, पृष्ठ 189)। उन धाराओं पर जिन्हें संशोधन विधेयक में शामिल नहीं किया गया है, विचार नहीं किया जा सकता। (8 फरवरी, 1951, स्तम्भ 2573-81)
5. सभा के समक्ष विधेयक प्रस्तुत किये जाने के बाद विधेयक के किसी खंड को वापस नहीं लिया जा सकता। उसे सभा में पेश करना होगा और सभा द्वारा उसे अस्वीकृत करना होगा। (21 दिसम्बर, 1950, स्तम्भ 2215)
6. गैर-सरकारी सदस्यों के उन विधेयकों पर, जिनमें भारत की संचित निधि में से व्यय अंतर्गस्त हो, सभा में विचार किये जाने से पूर्व राष्ट्रपति की मंजूरी प्राप्त होनी चाहिए। (12 अप्रैल, 1951, स्तम्भ 6727-28)
7. इस प्रश्न का निर्णय कि कोई विधेयक संविधानेतर है, अध्यक्षपीठ द्वारा नहीं किया जायेगा। इसका निर्णय सभा पर छोड़ा जाये जो विधेयक के संविधानेतर पाये जाने पर उसे अस्वीकार कर सकती है। यदि सभा विधेयक पर विचार किये जाने को स्वीकार कर लेती है, तो प्रभावित पक्ष उच्चतम न्यायालय या अन्य न्यायालय के पास जा सकता है। (10 अगस्त, 1950, स्तम्भ 765-81, 24 अप्रैल, 1952, स्तम्भ 7366)
8. परंपरा के अनुसार किसी विनियोग विधेयक पर वाद-विवाद नहीं हो सकता। (5 मार्च, 1952, स्तम्भ 1999-2000)

9. विधेयक को किसी नयी प्रवर समिति को पुनः भेजने की अनुमति है। (4 सितंबर, 1951)

10. प्रवर समिति के सदस्यों को वाद-विवाद में भाग लेने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। (4 जून, 1951, स्तम्भ 10, 14-24)

11. विशेषाधिकार का प्रश्न उठाने के लिए पहले अध्यक्षपीठ से उनके चैंबर (कक्ष) में मिलना और उन्हें मामले से परिचित कराना आवश्यक है। इसे सीधे ही सभा में नहीं उठाना चाहिए। (10 मार्च, 1950, पृष्ठ 337, 38)

12. यह सभा के अधिकार में है कि यदि विशेष परिस्थितियां हैं और पूछताछ की जानी है, तो अन्य विशेष समितियां गठित की जा सकती हैं। (6 जून, 1951, स्तम्भ 1024-26)

13. उच्च न्यायालय के आदेश के गुणावगुणों पर सभा में वाद-विवाद नहीं हो सकता क्योंकि सभा न्यायालय की कार्यवाही के बारे में अपना निर्णय नहीं दे सकती। जिस मामले के बारे में उच्च न्यायालय ने आदेश दिये हों, उससे संबंधित सभा की कार्यवाही की प्रति न्यायालय को नहीं भेजनी चाहिए। (3 मार्च, 1952, स्तम्भ 440-41)

14. अध्यक्ष ही यह निर्णय ले सकता है कि प्रथम दृष्टि में विशेषाधिकार का मामला बनता है या नहीं। यदि वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि मामला बनता है, तो वह उसे विशेषाधिकार समिति को सौंप सकता है। (1 मार्च, 1950, पृष्ठ 1019; 10 अप्रैल, 1951, स्तम्भ 6660-61)

15. निस्सन्देह, अनुच्छेद 112 का आशय यह है कि विनियोग विधेयक एक होना चाहिए परंतु इसमें संचित निधि को एक बार ही इस्तेमाल करने का प्रावधान नहीं है। यह तथ्य, कि संविधान इस सभा को लेखानुदान और अतिरिक्त अनुदानों को एक अथवा अधिक भागों में विभाजित करने की अनुमति देता है, से यह साबित होता है कि इसमें यह कहीं भी उल्लिखित नहीं है कि सभा समस्त व्यय को एक बार ही लेगी और केवल एक विनियोग विधेयक पर ही विचार करेगी। (24 मार्च, 1950, पृष्ठ 2064-67)

पहली लोक सभा

पहले आम चुनाव, जो कि वयस्क मताधिकार के आधार पर कराये गये थे, अक्टूबर, 1951—फरवरी, 1952 में संपन्न हुए। भारत की जनता में से 17 करोड़ 30 लाख लोगों को मताधिकार दिया गया था परन्तु वास्तव में केवल 8 करोड़ 80 लाख लोगों ने ही मतदान किया। विश्व में कहीं भी इससे पूर्व इतनी अधिक संख्या में लोगों ने मतदान नहीं किया था।

पहली लोक सभा का गठन 17 अप्रैल, 1952 को किया गया तथा पहली बार इसकी बैठक 13 मई, 1952 को हुई। इसमें 499 सदस्य थे। लोक सभा की 499 की कुल सदस्यता में से 363 स्थान प्राप्त करके कांग्रेस सबसे बड़ा दल रहा। दिनांक 15 मई को नेहरू ने यह संकल्प प्रस्तुत किया कि "जी० वी० मावलंकर को अध्यक्ष चुना जाये।" यद्यपि एस० एस० मोरे को विपक्ष के उम्मीदवार के रूप में खड़ा किया गया था, मावलंकर इस चुनाव में विजयी रहे। उनके पक्ष में 394 और विपक्ष में 55 मत पड़े। तालियों की गड़गड़ाहट और डेस्क थपथपाने की आवाज के बीच जवाहरलाल नेहरू, मौलाना आजाद और ए० के० गोपालन उन्हें अध्यक्ष के स्थान तक ले गये। इस प्रकार, मावलंकर स्वतंत्र भारत के पहले अध्यक्ष तथा विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र की संसद में लोक सभा के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। इस सभा में ऐसे महान महिला और पुरुष संसद सदस्य विद्यमान थे जो प्रगाढ़ विद्वान थे— संसदीय प्रक्रिया में वह इतने विद्वान तथा मेधावी एवं संसदीय वाद-विवाद में इतने कुशाग्र थे कि विश्व में किसी भी संसद के लिए यह गौरव की बात है। उनमें से कुछ के नामों का उल्लेख यहां प्रासंगिक होगा। कांग्रेस दल में नेहरू, पुरुषोत्तम दास टंडन, हरे कृष्ण मेहताब, निजलिंगप्पा, शाह नवाज खां, एस०के० पाटिल, महावीर त्यागी, एन० वी० गाडगिल, ओ० वी० अलगेशन, के० डी० मालवीय, स्वर्ण सिंह, आर० वेंकटरमन और अन्य दिग्गज थे। यहां बी० दास, जो स्वराज आंदोलन के दिनों से सक्रिय थे, सेठ गोविन्द दास, अचिंतराम और ठाकुर दास भार्गव जैसे अनुभवी कांग्रेसजनों का उल्लेख करना भी उपयुक्त होगा। विपक्ष में भी कोई कम मेधावी सदस्य नहीं थे। इनमें आचार्य कृपलानी, अशोक मेहता, डॉ० एस० पी० मुकर्जी, ए० के० गोपालन, एच० एन० मुकर्जी, एन० सी० चटर्जी, रेणु चक्रवर्ती, एम० एस० मोरे, तुलसीदास किलाचंद, लंका सुंदरम, मेघनाथ साह, एच० वी० कामथ, सरदार हुकम सिंह और अन्य कई महान स्वतंत्रता सेनानियों तथा वक्ताओं के नाम उल्लेखनीय हैं।

मावलंकर को उनके निर्वाचित हो जाने पर बधाई देते हुए जवाहरलाल नेहरू ने उनके विशद अनुभव की चर्चा की तथा यह विचार व्यक्त किया कि यह प्रथम लोक सभा का सौभाग्य है कि उन जैसा विद्वान पुरुष "हमारा मार्गदर्शन करने, और अगर हम भटक जाएं तो सही रास्ता दिखाने, हम पर अंकुश रखने के लिए" विद्यमान है। बधाई-भाषणों के जवाब में अध्यक्ष मावलंकर ने जो अविस्मरणीय भाषण दिया वह भविष्य में संसदीय प्रक्रियाओं के विकास के लिए मार्गदर्शी रहेगा। एक ओर तो हमने अंग्रेजी परंपराओं और प्रथाओं, जहां वे हमारी परिस्थितियों में पूरी तरह प्रासंगिक थीं, को अपनाया, "परंतु यह हमारे अपने पर निर्भर करेगा कि हम अपने राष्ट्रीय चरित्र, प्रतिभा, इतिहास और संस्कृति को ध्यान में रखते हुए

अपनी परंपराएं कायम करें।" मावलंकर इस तथ्य से अवगत थे कि संसदीय प्रक्रिया एक नाजुक पौधे के समान है जिसकी देखभाल बहुत सलीके से तथा ध्यानपूर्वक करनी होती है। पहली लोक सभा में उन्होंने विशेष रूप से अपना यह कर्तव्य समझा और यह कहा कि "स्वस्थ और सुदृढ़ परंपराएं कायम की जाएं चूंकि इस समय जो कुछ भी किया जायेगा वह आगे आने वाले समय में सदैव उदाहरण के रूप में रहेगा।" उन्होंने कहा :

> "संसदीय सरकार को विचार-विमर्श से चलनेवाली सरकार भी कहा गया है। प्रत्येक सदस्य को यह ध्यान में रखते हुए अपने विचार व्यक्त करने की पूरी स्वतंत्रता है कि दूसरे सदस्य को भी यह स्वतंत्रता प्राप्त है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि विचार-विमर्श के विषय, स्वरूप तथा भाषा पर संयम बरता जाये। वाद-विवाद उपयोगी, सहायक और प्रभावी हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि परस्पर सहनशीलता, सद्भाव और आदर की भावना हो। इसके लिए अनुशासित होने की भी जरूरत है जिससे न केवल नियमों और विनियमों अपितु संसदीय वाद-विवाद की सभी परंपराओं के प्रति भी आदर व्यक्त किया जाये, क्योंकि जाहिर है उनमें से प्रत्येक को नियमों या विनियमों के अंतर्गत नहीं लाया जा सकता। विभिन्न मत अथवा विचारधारा रखने वाले व्यक्ति परस्पर जितने सहिष्णु होंगे एवं दूसरे के मत को समझने का प्रयत्न करेंगे संसदीय सरकार उतनी ही सफल हो सकेगी। एक-दूसरे के प्रति दायित्व की भावना से जितने अपेक्षित परिणाम प्राप्त हो सकते हैं उतने नियम अथवा विनियमों के बनाने से नहीं हो सकते।"

अध्यक्ष की भूमिका और उसके पद के गैर-दलीय स्वरूप के बारे में मावलंकर ने जिन सीमा रेखाओं और परिमापों की परिभाषा दी वह आज भी सही है। उन्होंने सभा को आश्वासन दिया कि अध्यक्ष के रूप में कार्य करते समय वह "एक गैर-पार्टी वाला सदस्य रहेंगे अर्थात वह पार्टी में विचार-विमर्श तथा विवादास्पद विषयों से दूर रहेंगे"। परंतु हमारी राजनीतिक और संसदीय प्रणाली की परिस्थितियों में ब्रिटेन के अध्यक्ष के समान अलग रहना संभव नहीं है। उन्होंने आगे कहा :

> "अध्यक्ष के बारे में हमें अभी राजनीतिक दल तथा स्वस्थ परंपराएं बनानी हैं। इसका सिद्धांत यह है कि जब एक बार कोई अध्यक्ष बन जाता है तो निर्वाचन के मामले में उसका निर्वाचन क्षेत्र में अथवा सभा में विरोध नहीं होता। ऐसा तब तक होता है जब तक वह अध्यक्ष बने रहना चाहे। यह आशा करना कि अध्यक्ष पूर्णतया राजनीति से दूर रहे एक विरोधाभास ही होगा जब तक कि,

इस बारे में इस प्रकार की परम्परा न बने। इस दृष्टि से तथा मेरे अपने विगत संबंधों के आधार पर मैं उस महान संगठन — इंडियन नेशनल कांग्रेस जिसके अधीन मुझे अनेक पदों पर गत 40 वर्षों से काम करने का सौभाग्य रहा है —से अलग नहीं हो सकता। एक कांग्रेस कार्यकर्ता होते हुए भी मेरा यह कर्तव्य तथा प्रयास होगा कि सभा के सभी वर्गों के साथ न्याय करूं और मेरा यह प्रयास रहेगा कि निष्पक्ष रहूं और सभी दलगत अथवा राजनीतिक बातों से ऊपर रहूं।"

लोक सभा के अध्यक्ष के रूप में मावलंकर के कार्य-काल(1952-1956)के दौरान प्रक्रिया संबंधी कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों का जो समाधान किया गया और सिद्धांत बनाये गये उनसे यह बात विस्तार से स्पष्ट हो जाती है कि संसदीय संस्थाओं और प्रक्रिया के विकास में उनकी भूमिका अद्वितीय थी। संसदीय प्रश्नों के विषय में प्रक्रिया संबंधी कुछ मुद्दों का जो समाधान किया गया और सिद्धांत निर्धारित किये गये वे निम्न प्रकार हैं :

(**एक**) प्रश्नों के नोटिस स्वीकार करते समय अध्यक्ष यह निर्णय नहीं करता कि पूछी गयी सूचना के रहस्योद्घाटन में जनहित है अथवा नहीं। न ही वह सरकार को ऐसी सूचना देने के लिए मजबूर करता है। दूसरे शब्दों में यह सरकार को निर्णय करना है कि किसी सूचना को देना जनहित में है अथवा नहीं।

(**दो**) यदि कोई मंत्री किसी विशेष जनहित के प्रश्न का अल्प सूचना पर उत्तर देने में असमर्थ है तो अध्यक्ष यह आदेश दे सकता है कि इस प्रश्न को सामान्य तिथि की प्रश्न सूची में प्रथम प्रश्न के रूप में शामिल कर लिया जाये। किसी दिन की प्रश्न सूची में एक से अधिक प्रश्न प्राथमिकता के लिए शामिल नहीं किये जायेंगे। [नियम 70 (3)]

(**तीन**) प्रश्नों के उत्तरों की अग्रिम प्रतियां सदस्यों को भेजना उचित नहीं होगा क्योंकि इससे प्रश्नकाल का महत्व समाप्त हो जायेगा। (25 फरवरी, 1953)

(**चार**) किसी प्रस्तावित विधेयक के विषयों की जानकारी प्रश्नों के माध्यम से नहीं ली जा सकती। (20 मार्च, 1953)

(**पांच**) सभा की किसी समिति के क्षेत्राधिकार में आने वाले मामलों के बारे में प्रश्नों को सभा में पूछने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। (17 अप्रैल, 1954)

(**छह**) जब कार्यमंत्रणा समिति ने 7 सितम्बर, 1955 को अन्य बातों के साथ

सत्र के कतिपय दिनों के लिए प्रश्नकाल के निलंबन की सिफारिश की, तब एच०वी० कामत ने इस आधार पर आपत्ति की कि ऐसा सभा की सर्व सम्मति से किया जा सकता है और यह भी कि उन दिनों की सूची में शामिल प्रश्नों को अन्य दिनों के लिए अंतरित कर दिया जाना चाहिए। इस पर अध्यक्ष मावलंकर ने कहा कि यह एक नयी परंपरा बनायी जा रही है जिसके अनुसार यह आवश्यक नहीं होगा कि प्रश्नों को किसी अन्य दिन के लिए अन्तरित किया जाये। उन्होंने कहा :

> "पुरानी परंपरा अब इस कारण से अस्तित्व में नहीं रही कि यह परंपरा उस समय थी जब कोई कार्य मंत्रणा समिति नहीं थी। अब कार्य मंत्रणा समिति, जो कि समूची सभा का प्रतिनिधित्व करती है, सभी दृष्टि-कोणों से विचार करती है और तत्पश्चात् किसी निष्कर्ष पर पहुंचती है।···प्रतिवेदन सभा के समक्ष है···यदि सभा प्रतिवेदन को स्वीकार करती है तो यह सभा का आदेश होगा···।"

प्रथम लोक सभा की कार्यविधि के दौरान अनेक संसदीय समितियां अध्यक्ष मावलंकर द्वारा गठित की गयीं। पहले से चली आ रही समितियों, जैसे लोक लेखा समिति, याचिका समिति आदि को बनाये रखा गया। समितियों के विषय में हुए परिवर्तन सारांश में निम्नलिखित हैं :

(एक) **कार्य मंत्रणा समिति** : संसदीय कार्य के परिमाण तथा अविलम्बनीयता में वृद्धि होने के कारण यह आवश्यक हो गया है कि उपलब्ध समय में सभा के कार्य को निपटाने की योजना बनायी जाये। सभा के नेता को 28 मार्च, 1951 को लिखे अपने पत्र में अध्यक्ष मावलंकर ने टिप्पणी की कि वित्तीय मामलों के सिवाय अन्य कार्य की विभिन्न मदों के लिए समय के आबंटन की कोई प्रक्रिया न होने की स्थिति में वाद-विवाद में कटौती करने के मामले में और विशेषकर समापन प्रस्ताव को, यदि वह प्रस्तुत किया जाये स्वीकार करने में अध्यक्ष की स्थिति सदैव नाजुक हो जाती है। वह इस बात के पक्ष में नहीं थे कि 'समय का आबंटन' प्रस्ताव पेश करने की ब्रिटिश प्रक्रिया अपनायी जाये, क्योंकि यह दुष्कर सिद्ध हो सकती है और काफी समय ऐसे प्रस्ताव पर ही नष्ट हो सकता है। उन्होंने कहा कि वह 'समय के आबंटन' का काम सभा की संचालन समिति को सौंपना चाहेंगे। सभा के नेता इससे सहमत हो गये और तदनुसार कार्य मंत्रणा समिति की स्थापना करने के लिए नियम बनाये गये और पहली बार 14 जुलाई, 1952 को कार्य मंत्रणा समिति का गठन किया गया।

(दो) गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयकों और संकल्पों संबंधी समिति : 13 मार्च, 1953 को लोक सभा में के. ए० नाम्बियार द्वारा यह सुझाव दिया गया कि गैर-सरकारी सदस्यों द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले सभी विधेयकों की जांच करने और उनके अपने-अपने महत्व के अनुसार उनका वर्गीकरण करने के लिए गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयकों संबंधी एक स्थायी समिति का गठन किया जाये। उन्होंने यह सुझाव भी दिया कि सप्ताह में कम-से-कम एक दिन गैर-सरकारी सदस्यों के कार्य के लिए आबंटित किया जाये। यह मामला नियम समिति के समक्ष विचारार्थ रखा गया। सभा द्वारा स्वीकृत नियम समिति की सिफारिशों के अनुसरण में गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयकों संबंधी समिति का पहली बार 1 दिसम्बर, 1953 को गठन किया गया और आरंभ में इसमें 10 सदस्य रखे गये। 13 मई, 1954 को इसकी सदस्यता 10 से बढ़ाकर 15 कर दी गयी और इसका कार्यक्षेत्र बढ़ाकर इसके कृत्यों में गैर-सरकारी सदस्यों के संकल्पों को भी शामिल कर लिया गया। तदनुसार इस समिति का नाम गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयकों तथा संकल्पों संबंधी समिति कर दिया गया।

(तीन) अधीनस्थ विधान संबंधी समिति : जनता के कल्याण के प्रति राज्य के समर्पित होने से सरकार का काम बढ़ जाना स्वाभाविक था और सरकारी कार्य-कलापों में कई गुना वृद्धि के कारण काफी प्रत्यायोजित विधान बनाना आवश्यक हो गया। डॉ० अम्बेडकर ने बहुत पहले 1950 में अंतरिम संसद के बजट सत्र में सुझाव दिया था कि "हाउस ऑफ कामन्स में हाल ही में स्वीकृत एक प्रक्रिया' के अनुसरण में प्रत्यायोजित विधान की जांच करने और "संसद के ध्यान में यह लाने के लिए कि क्या प्रत्यायोजित विधान संसद की मूल मंशा से आगे निकल गया है अथवा इससे हट गया है" सभा की एक स्थायी समिति बनायी जाये।

तदनंतर, 24 जून, 1950 को अध्यक्ष मावलंकर ने सभा के सदस्यों की इस आशय की भावनाएं विधि मंत्री को बतायीं कि संसद को कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि कार्यपालिका प्राधिकारियों द्वारा प्रत्यायोजित विधान की शक्तियों का सही ढंग से प्रयोग किया जाये।

30 अप्रैल, 1951 को इस समिति के गठन के लिए नियम बनाने का निर्णय लिया गया। अध्यक्ष द्वारा पहली समिति का गठन 1 दिसंबर, 1953 को किया गया। इसका नाम अधीनस्थ विधान संबंधी समिति रखा गया। यह नाम संभवतः इसलिए रखा गया क्योंकि यह महसूस किया गया कि संसद द्वारा पारित कानूनों के अंतर्गत बनाये जाने वाले नियमों और विनियमों को अधीनस्थ विधान पुकारना अधिक उपयुक्त होगा और विधान की अनिवार्य शक्ति को संसद द्वारा 'प्रत्यायोजित' नहीं किया जा सकता। पहली अधीनस्थ विधान संबंधी समिति के 10 सदस्य थे।

9 जनवरी, 1954 को इस समिति के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 15 कर दी गयी।

(चार) **सरकारी आश्वासनों संबंधी समिति**: 1953 से पूर्व यह देखना सदस्यों का काम था कि सभा में मंत्रियों द्वारा दिये गये वायदे अथवा आश्वासन पूरे किये जायें। सदस्य ऐसा अनौपचारिक रूप से अथवा प्रश्न आदि पूछकर कर सकते थे। किंतु इस संबंध में किसी को रिपोर्ट देना सरकार के लिए आवश्यक नहीं था। इसके परिणामस्वरूप कुछ महत्वपूर्ण मामलों में विलंब होता था, कुछ की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था और कुछ मामलों में, जिसमें मंत्री बड़े-बड़े वायदे करते थे, उनका कार्यान्वयन प्रशासन के लिए कठिन अथवा अव्यवहार्य होता था। सरकारी आश्वासनों संबंधी समिति का गठन करने की बात इसलिए सोची गयी कि सभा में सरकार द्वारा दिये गये सभी वायदों और आश्वासनों पर अनुवर्ती कार्यवाही की जा सके और यह सुनिश्चित किया जा सके कि ऐसे वायदे या आश्वासन पूरी जिम्मेवारी के साथ दिये जायें और उन्हें वास्तव में पूरा किया जाये। पहली बार इस समिति की नियुक्ति अध्यक्ष मावलंकर द्वारा 1 दिसंबर, 1953 को की गयी और इसमें केवल छः सदस्य रखे गये। 13 मई, 1954 को समिति में 9 और सदस्य जोड़े गये। सरकारी आश्वासनों संबंधी समिति एक ऐसी समिति थी जो केवल भारत में ही बनायी गयी। पहली लोक सभा में इस समिति की एक विशेषता यह भी थी कि यह ही एकमात्र ऐसी समिति थी जिसका सभापति विपक्ष के एक सदस्य, सुचेता कृपलानी, को बनाया गया।

(पांच) **सभा की बैठकों से सदस्यों की अनुपस्थिति संबंधी समिति**: संविधान में यह प्रावधान है कि यदि कोई सदस्य बिना अनुमति के सभा की बैठकों से दो महीने तक अनुपस्थित रहे, तो उसका स्थान रिक्त घोषित किया जा सकता है। सदन की अनुमति प्राप्त करने के लिए सदस्य को आवेदन पत्र देना होता है। इन आवेदन पत्रों पर संपूर्ण सदन द्वारा विचार किया जाता था। लोक सभा की नियम समिति ने इस प्रक्रिया की समीक्षा की और समिति इस निष्कर्ष पर पहुंची कि यह प्रक्रिया कठिन है और इसमें अधिक समय लगता है तथा समिति ने यह सिफारिश की कि आवेदन पत्रों की जांच करने के लिए समिति नियुक्त की जाये जो सदन के समक्ष अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करे। यह समिति सर्वप्रथम लोक सभा अध्यक्ष, श्री मावलंकर, द्वारा 12 मार्च, 1954 को नियुक्त की गयी थी।

(छह) **संसद सदस्यों के वेतन तथा भत्ते संबंधी संयुक्त समिति**: संसद सदस्य वेतन तथा भत्ते अधिनियम के अधीन नियम बनाने के लिए 6 सितंबर, 1954 को लोक सभा अध्यक्ष, श्री मावलंकर, द्वारा सर्वप्रथम यह समिति गठित की गयी थी। इसमें लोक सभा के दस सदस्य और राज्य सभा के पांच सदस्य थे।

(सात) **सामान्य प्रयोजन समिति** : यह महसूस किया गया कि सदन के कृत्यों और उसके कार्य से संबंधित ऐसे अनेक मामले हैं जो पूर्णतः अध्यक्ष महोदय के नियंत्रण में नहीं हैं और जो मुख्यतः सरकार तथा अथवा सदन के सभी वर्गों के निर्बाध सहयोग पर अधिकांशतः निर्भर करते हैं। ऐसे मामलों का समाधान करने में कठिनाइयां आने से विलंब होता है। इसलिए लोक सभा अध्यक्ष श्री मावलंकर ने यह प्रस्ताव किया कि वह विभिन्न पार्टियों और ग्रुपों के प्रतिनिधियों को विश्वास में लेना चाहेंगे और उन दिशाओं के बारे में उनसे अनौपचारिक परामर्श करना चाहेंगे जिनसे सदन के कार्य में सुधार हो और उसे बेहतर ढंग से आयोजित किया जा सके। यदि विभिन्न ग्रुपों और पार्टियों के प्रतिनिधि उनके प्रस्तावों से सहमत हों, तो इस विश्वास से वह कार्य कर सकते हैं कि उन्हें सदन के सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त है। तदनुसार, विभिन्न पार्टियों और ग्रुपों के नेताओं, संसदीय समितियों के सभापतियों, सभापति तालिका के सदस्यों आदि को शामिल करके लोक सभा अध्यक्ष, श्री मावलंकर, द्वारा सामान्य प्रयोजन समिति नाम से 26 नवंबर, 1954 को एक समिति नियुक्त की गयी।

(आठ) **लोक लेखा समिति** : लोक लेखा समिति के चतुर्थ प्रतिवेदन में की गयी सिफारिश के उत्तर में वाणिज्य मंत्री ने 11 अगस्त, 1953 को सदन में एक वक्तव्य दिया। सभा पटल पर वक्तव्य रखे जाने से पहले उस वक्तव्य पर विचार करने के लिए समिति को अवसर न देकर मंत्री महोदय द्वारा एक सुप्रतिष्ठित प्रक्रिया का उल्लंघन किये जाने के बारे में समिति ने आपत्ति की। इस पर लोक सभा अध्यक्ष, श्री मावलंकर, ने सभी मंत्रालयों को यह निर्देश दिया कि जिन मामलों में सरकार किसी वित्तीय समिति द्वारा की गयी सिफारिश को क्रियान्वित न करने की स्थिति में हो, तो संबंधित मंत्रालय को अपने विचार समिति के समक्ष रखने चाहिएं, जो उस मामले के बारे में सरकार के विचारों पर विचार करने के बाद, यदि उचित समझे तो, एक अन्य प्रतिवेदन प्रस्तुत कर सकती है। एक सदस्य द्वारा यह सुझाव दिये जाने पर कि भ्रष्टाचार के आरोप से संबंधित मामले के बारे में लोक लेखा समिति में जो चर्चा की गयी है, उसके शब्दशः कार्यवाही वृत्तांत की एक प्रति सरकार द्वारा नियुक्त जांच समिति को भेजी जानी चाहिए, अध्यक्ष महोदय ने इसे न केवल संसदीय समिति की गरिमा की प्रतिकूल ही नहीं, बल्कि संसदीय समिति के उद्देश्य के प्रतिकूल भी बताया। उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि समिति से सर्व-प्रथम सिफारिशें करने की आशा की जाती हैं, जिन पर कार्यपालिका को अनिवार्यतः विचार करना होता है और यह कार्यपालिका का कार्य है कि वह यदि चाहे तो सरकार द्वारा नियुक्त किसी भी जांच समिति को मामले को प्रेषित करे। इसके अलावा समिति में चर्चा गोपनीय होती है और इसलिए वह चर्चा किसी भी बाहरी व्यक्ति के समक्ष प्रकट नहीं की जा सकती। समिति के स्वतंत्र कार्यकरण और

समिति में निर्भीक और स्पष्ट चर्चा को सुनिश्चित करने के लिए यह आवश्यक है।

(नौ) **प्राक्कलन समिति** : किसी ऐसे विषय पर विचार करने के लिए जिसकी प्राक्कलन समिति पहले ही जांच कर रही है, सरकार द्वारा संसद सदस्यों की एक समिति नियुक्त करने के प्रश्न पर अध्यक्ष मावलंकर ने विनिर्णय दिया कि पूर्णत: अथवा आंशिक रूप से संसद सदस्यों की ऐसी समिति नियुक्त करने से पहले संबद्ध मंत्रालय को यह सुनिश्चित करने के लिए लोक सभा सचिवालय से यह मालूम करना चाहिए कि क्या उस विषय पर, जिसके संबंध में सरकार संसदीय समिति नियुक्त करने का विचार कर रही है, कोई संसदीय समिति पहले ही विचार कर रही है।

21 अप्रैल, 1954 को प्राक्कलन समिति ने एक संकल्प पारित किया जिसमें यह सिद्धांत निर्धारित किया गया कि किसी ऐसे विषय, जो प्राक्कलन समिति के विचाराधीन हो, के संबंध में समिति के किसी भी सदस्य को किसी समिति, आयोग आदि के समक्ष औपचारिक अथवा अनौपचारिक रूप में साक्षी की तरह प्रस्तुत नहीं होना चाहिए।

(दस) **नियम समिति** : पहली लोक सभा के दौरान नियम समिति से प्रक्रिया संबंधी सुधारों तथा नये प्रक्रिया नियम बनाने के लिए कई प्रस्तावों पर विचार करने के लिए कहा गया। 6 दिसंबर, 1955 को लोक सभा में प्रस्तुत अपने प्रतिवेदन में नियम समिति ने अन्य बातों के साथ-साथ यह सिफारिश की कि :

(एक) नियम 94 में एक उपबंध जोड़ दिया जाये जिसके अंतर्गत किसी विधेयक का प्रभारी सदस्य, अध्यक्ष की अनुमति से, ऐसी स्थिति में जब वह विधेयक का संचालन न कर सके दूसरे सदस्य को संचालन करने के लिए प्राधिकृत कर सकता है;

(दो) किसी ऐसे विधेयक के मामले में, जिसमें संशोधन किये गये हैं, तब तक तीसरा वाचन आरंभ न किया जाये जब तक अध्यक्ष अन्यथा निर्देश न दें;

(तीन) किसी संविधान संशोधन विधेयक का सूक्ष्म नाम, अधिनियमन सूत्र और पूरा नाम साधारण बहुमत से पारित किये जा सकते हैं, क्योंकि ये केवल औपचारिक उपबंध हैं और इनका विधेयक पर अथवा इसके गुणों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है;

(चार) मंत्रियों को याचिका समिति, अधीनस्थ विधान संबंधी समिति, सरकारी आश्वासनों संबंधी समिति, प्राक्कलन समिति और लोक लेखा समिति की सदस्यता से वंचित किया जा सकता है;

(**पांच**) प्राक्कलन समिति की सदस्यता 25 से बढ़ाकर 30 की जानी चाहिए;

(**छह**) सभा के परिसर में कानूनी प्रक्रिया चलाने अथवा किसी व्यक्ति, चाहे वह सदस्य हो अथवा सदस्य न हो, की गिरफ्तारी के लिए अध्यक्ष की अनुमति आवश्यक है;

(**सात**) सभा में गैलरियों में अजनबी व्यक्तियों से कोई प्रसंग नहीं होना चाहिए;

(**आठ**) अध्यक्ष द्वारा जब भी किसी सदस्य को अवज्ञा का दोषी ठहराया जाये तो उस सदस्य के निलंबन की अवधि निर्धारित करने के संबंध में, प्रत्येक मामले में, मामले की गंभीरता के अनुसार, नियमों में उपबंध करने के लिए संशोधन किया जाना चाहिए ।

अध्यक्षपीठ द्वारा महत्वपूर्ण विनिर्णय

मावलंकर की अध्यक्षता में पहली लोक सभा वस्तुतः विकास काल में थी, जबकि संसदीय संस्थानों तथा प्रक्रियाओं की स्वस्थ एवं सुदृढ़ नींव रखी जानी थी। नयी परिस्थितियों का सामना किया जाना था, नयी प्रक्रियाएं बनायी जानी थीं और इस संबंध में वास्तव में बहुत अच्छा कार्य हुआ तथा उत्तरवर्ती सदनों को विरासत में उच्च स्तर सौंपे गये। 1952-56 के दौरान अध्यक्ष मावलंकर द्वारा लिये गये कुछ महत्वपूर्ण निर्णय/विनिर्णय इस प्रकार थे :

स्थगन प्रस्ताव

(**एक**) स्थगन प्रस्ताव से सभा में वाद-विवाद की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए अर्थात् यदि इस विषय पर सभा में अन्यथा चर्चा होने की पूरी संभावना है तो स्थगन प्रस्ताव के आधार पर चर्चा की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। स्थगन प्रस्ताव की अनुमति विशेष मामले के रूप में केवल तभी दी जानी चाहिए जब सभा में इस विषय पर विचार किये जाने का कोई अन्य अवसर न हो। (16 मई, 1952)

(**दो**) किसी मामले को तब तक अत्यावश्यक न समझा जाये जब तक वह मामला प्रथम उपलब्ध अवसर पर सभा के समक्ष न लाया जाये। (22 मई, 1952)

(**तीन**) इस प्रकार के प्रस्ताव की विषय-वस्तु प्रेस की रिपोर्ट नहीं हो सकती है क्योंकि इसे प्राधिकृत नहीं माना जाता है। (25 मई, 1952)

(**चार**) संविधान के उपबंधों की व्याख्या स्थगन प्रस्ताव की विषय-वस्तु नहीं हो सकती है। (14 दिसंबर, 1952)

(**पांच**) सरकार को निर्णय लेने के लिए मजबूर करने के लिए आमरण अनशन पर वाद-विवाद की स्थगन प्रस्ताव के माध्यम से अनुमति नहीं दी जा सकती है। (8 दिसंबर, 1952 और 6 अप्रैल, 1953)

(**छह**) स्थगन प्रस्ताव के माध्यम से उठाये जाने वाले मामले के तथ्यों का पता लगाने की न तो अध्यक्षपीठ और न ही सभा को आवश्यकता है। मामले के तथ्यों का सरकार द्वारा अभिनिश्चय किया जा सके इसके लिए उसे स्थगित किया जा सकता है। (15 दिसंबर, 1954 और 20 तथा 22 दिसंबर, 55)

विधेयक

(**एक**) विनियोग विधेयक पर चर्चा के दौरान अध्यक्ष की पूर्व सूचना और स्वीकृति से ही नये मुद्दे उठाये जा सकते हैं। (3 और 4 जुलाई, 1952, 12 दिसंबर, 1952 और 7-8 अप्रैल, 1953)

(**दो**) कोई सदस्य किसी अन्य सदस्य द्वारा सभा पटल पर रखे गये संशोधन को पेश नहीं कर सकता है, भले ही उसे उस सदस्य ने प्राधिकृत किया हो। (20 जुलाई, 1952 और 4 दिसंबर, 1952)

(**तीन**) संयुक्त समिति द्वारा यथाप्रतिवेदित विधेयक पर विचार करने के प्रस्ताव पर उस विधेयक के सिद्धांतों के बारे में चर्चा नहीं की जा सकती है। (1 अगस्त, 1952)

(**चार**) जब भी सभा की विधायी सक्षमता पर आपत्ति की जाये, तो इस बारे में अध्यक्षपीठ निर्णय नहीं ले सकती है और इस पर सभा ही विचार कर सकती है। (25 नवंबर, 1952)

(**पांच**) किसी ऐसे विधेयक को जो सभा में लंबित किसी अन्य विधेयक पर निर्भर है, पुर:स्थापित करने की तब तक अनुमति नहीं दी जा सकती जब तक कि पहला विधेयक पारित न हो जाय और उस पर राष्ट्रपति की सहमति न मिल जाय। (24 अगस्त, 1953)

(**छह**) ऐसे संशोधनों पर राष्ट्रपति की सिफारिश आवश्यक नहीं है जिनमें किसी कर अथवा शुल्क को कम करने का प्रस्ताव किया गया है जबकि उस कर अथवा शुल्क में वृद्धि करने के संशोधनों पर राष्ट्रपति की सिफारिश अपेक्षित है। (10 सितंबर, 1953)

(**सात**) सदन दूसरे सदन से प्रस्तावित किसी संयुक्त समिति में सहयोजित होने के लिए सहमत होने से स्वयं विधेयक के सिद्धांतों से प्रतिबद्ध नहीं होता है। किंतु यदि मूल सदन विधेयक को संयुक्त समिति को भेजता है तो वह सदन स्वयं विधेयक के सिद्धांतों से प्रतिबद्ध हो जाता है। (17 दिसंबर, 1953)

(**आठ**) दूसरे सदन द्वारा किसी विधेयक को पारित किये जाने के बाद उस विधेयक को परिचालित करने का संशोधन नियम विरुद्ध है।(8 मई, 1954)

(**नौ**) सरकारी विधेयकों पर 'गिलोटिन' लागू नहीं होता है। (24 नवंबर, 1954)

(**दस**) संयुक्त समिति में जिन संशोधनों की अनुमति नहीं दी गई है उन पर सभा द्वारा विचार किया जा सकता है। (25 नवंबर, 1955)

(**ग्यारह**) इस बात का कि कोई विधेयक संविधान के अधिकारातीत है, निर्णय सभा करेगी न कि अध्यक्षपीठ। (15 अप्रैल, 1955)

(**बारह**) अनुच्छेद 117 (3) के उपबंधों को आकृष्ट करने वाले विधेयक किसी भी सदन में पुरःस्थापित किये जा सकते हैं। (17 अप्रैल, 1955)

वाद-विवाद

(**एक**) ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध, जो अपना बचाव करने के लिए सभा में उपस्थित नहीं हैं, आरोप नहीं लगाये जा सकते हैं। (26 फरवरी, 1952)

(**दो**) संसद को 'निरर्थक चर्चा घर' तथा चैंबर को 'गैस चैंबर' कहना असंसदीय है। (3 मार्च, 1952 और 1 दिसंबर, 1953)

(**तीन**) सभा में उच्च न्यायालय के आदेश के गुण-दोषों पर चर्चा नहीं की जानी चाहिए। (3 मार्च, 1952 और 1 दिसंबर, 1953)

(**चार**) राज्य के उन विषयों पर, जिनके संबंध में राज्य संघ के एजेंट के रूप में काम करता है, चर्चा की अनुमति है। (28 जून, 1952)

(**पांच**) तर्क के आधार के रूप में समाचार पत्रों से पंक्तियां उद्धृत करना नियमानुकूल है। (10 जुलाई, 1952)

(**छह**) सभा की कार्यवाही से कतिपय शब्दों को हटाने की शक्ति अध्यक्ष के विवेकाधिकार में निहित है। (13 मार्च, 1953)

(**सात**) किसी प्रस्ताव पर किसी सदस्य को दूसरा भाषण देने की अनुमति नहीं है। (25 जुलाई, 1955)। तथापि किसी सदस्य को अपने इस संशोधन के

समर्थन में कि विधेयक को संयुक्त समिति को पुनः सौंपा जाये, स्पष्टीकरण देने के लिए विधेयक पर विचार करने के प्रस्ताव पर फिर से बोलने की अनुमति है। (18 अगस्त, 1955)

(**आठ**) सदस्यों को अन्य पुरुष की भाषा में बात करनी चाहिए और व्यक्तिगत स्पष्टीकरण से बचना चाहिए। (22 मई, 1952)

(**नौ**) सभा के व्यक्तियों के अलावा किसी अन्य व्यक्ति का उल्लेख करने की अनुमति नहीं है। (3 जून, 1952)

(**दस**) सभा में वस्तुओं की नुमाइश करना शोभनीय नहीं है। (26 नवम्बर, 1952)

(**ग्यारह**) किसी निजी अधिकारी का उल्लेख करने की अनुमति नहीं है। आलोचना संबधित मंत्री की होनी चाहिए। (8 अप्रैल, 1954)

(**बारह**) कोई सदस्य बोलने के लिए अपने अधिकार के रूप में दावा नहीं कर सकता। उसे अध्यक्ष का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहिए और अपनी बारी की प्रतीक्षा करनी चाहिए। (18 जून, 1952)

गणपूर्ति

दोपहर 1 बजे से 2.30 बजे के बीच गणपूर्ति का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता और जब तक सभा अन्यथा निर्णय न ले, इस परम्परा का पालन होना चाहिए। (8 सितम्बर, 1954; 3 और 5 सितम्बर, 1955)

व्यवस्था का प्रश्न

(**एक**) व्यवस्था का प्रश्न केवल प्रक्रिया से संबंधित होना चाहिए। इसकी आड़ में अन्य बातें उठाने की अनुमति नहीं है। (18 जून, 1952)

(**दो**) कोई भी सदस्य सभा में विचाराधीन किसी मामले में या कार्यवाही के बारे में किसी भी समय व्यवस्था का प्रश्न उठा सकता है। उसे ऐसा प्रश्न उसी समय उठाना चाहिए, सभा की कार्यवाही समाप्त होने के बाद नहीं। (10 अगस्त, 1953)

नियमानुकूल संकल्प

शुल्क से प्राप्त आय को किसी विशेष प्रयोजनार्थ आबंटन के लिए संकल्प में

प्रस्तावित संशोधन नियमानुकूल नहीं हैं। (24 नवंबर, 1953 और 23 नवंबर, 1954)

वक्तव्य

(**एक**) मंत्री द्वारा दिये गये वक्तव्यों पर प्रश्न उठाने या चर्चा की अनुमति नहीं है। (19 नवंबर, 1952)

(**दो**) मंत्री द्वारा नीति संबंधी वक्तव्य को प्रेस को या सार्वजनिक रूप से जारी करने से पूर्व ऐसा वक्तव्य सभा में दिया जाना चाहिए। (1 सितंबर, 1953)

(**तीन**) महाधिवक्ता द्वारा दिये गये वक्तव्य पर किसी चर्चा की अनुमति नहीं है। (1 मई, 1954)

अध्यादेश

16 फरवरी, 1954 को डॉ० कृष्णस्वामी ने अध्यादेशों द्वारा कराधान पर चर्चा आरंभ की। उन्होंने बताया कि संसद के संक्षिप्त सत्रावसान के दौरान सात अध्यादेश जारी किये गये यानि प्रति सप्ताह एक अध्यादेश जारी किया गया। उनका कहना था कि यह खतरनाक प्रवृत्ति है जिससे संसद के अधिकारों और विशेषाधिकारों का भारी हनन होता है। वित्तीय मामलों के बारे में अध्यादेश जारी करना तो और भी गंभीर है क्योंकि ऐसे मामलों में सर्वोच्च सत्ता लोक सभा के पास है। अन्य सदस्यों ने भी अध्यादेशों के माध्यम से कानून बनाये जाने को "विधायी आयोजना की कमी" और "आजादी विरोधी कार्य" बताया। अध्यक्ष मावलंकर ने इसे एक महत्वपूर्ण संवैधानिक प्रश्न मानते हुए सरकार से आग्रह किया कि इस बारे में स्वस्थ परंपरा डाले। उन्होंने कहा :

> "कार्य करने का यह लोकतांत्रिक ढंग नहीं है। सरकार केवल अपवादात्मक परिस्थितियों में ही अध्यादेश जारी कर सकती है। जब नितांत आवश्यक हो तभी इसे जारी किया जाये।"

अंतर-संसदीय सम्मेलन

मावलंकर के नेतृत्व में संसदीय शिष्टमंडलों ने आयरलैंड, यू० के० और कनाडा में क्रमशः 1950, 1948 और 1952 में हुए अंतर-संसदीय संघ और राष्ट्रमंडल संसदीय सम्मेलनों में भाग लिया। उन्होंने 1950 में नये ब्रिटिश हाउस ऑफ कामन्स के उद्घाटन समारोह और 1950 में लन्दन में "राष्ट्रमंडल अध्यक्षों के सम्मेलन" में भी भाग लिया। वर्ष 1953 में उन्होंने महारानी एलिजाबेथ द्वितीय

के सिंहासनारोहण समारोह में भाग लिया और उस समय लन्दन में हुई राष्ट्रमंडल संसदीय ऐसोसिएशन की आम परिषद की बैठक में भी भाग लिया।

1946 में ही केंद्रीय विधान सभा का अध्यक्ष पद ग्रहण करने के बाद मावलंकर ने अखिल भारतीय पीठासीन अधिकारियों का सम्मेलन आयोजित करने की प्रथा फिर शुरू कर दी। इस सम्मेलन के वह कई वर्ष तक अध्यक्ष रहे। इन सम्मेलनों से आपसी विचार-विमर्श और अनुभवों के आदान-प्रदान तथा भारत में विधान मंडलों में समान प्रथाएं तथा प्रक्रियाएं लागू करने और देश में संसदीय लोकतंत्र की स्वस्थ और मूल्यवान परंपराएं स्थापित करने में मदद मिली।

सार

अध्यक्ष मावलंकर बयोवृद्ध अनुभवी सांसद थे। संसदीय जीवन का उन्हें गहरा ज्ञान तथा व्यापक अनुभव था। 10 वर्ष से कुछ अधिक समय (1946-56) तक उन्होने भारतीय संसद की कार्यवाही का संचालन प्रतिष्ठा, ईमानदारी और निष्पक्षता के साथ किया जिससे उन्हें न केवल सभा के सभी सदस्यों से सम्मान और प्यार मिला बल्कि उन्होंने पद की गरिमा और मान भी बढ़ाया। संसदीय सरकार के आधारभूत और अनिवार्य मानदंडों, विधानमंडल की प्रभुसत्ता, अध्यक्ष पद की स्वतंत्र भूमिका और कृत्यों, संसद सदस्यों के निजी विशेषाधिकारों की रक्षा करने, सरकारी व्यय की जांच के लिए संसदीय समितियां बनाने, अध्यक्ष के प्रति उत्तर-दायी स्वतंत्र सचिवालय की आवश्यकता, सभा की कार्यवाही के संचालन में केवल अंग्रेजी का प्रयोग करने के स्थान पर हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का भी प्रयोग करने के मामलों में अध्यक्ष मावलंकर की धारणा बड़ी स्पष्ट थी और इन बातों को कार्यालय का भाग बनाने में उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी। उन्होंने भारत में संसदीय लोकतंत्र की भविष्य में वृद्धि के लिए स्वस्थ प्रथाएं और परंपराएं आरंभ की। आधुनिक समय में सर्वाधिक विशिष्ट अध्यक्ष के रूप में वह विश्व भर में, विशेष रूप से ब्रिटेन तथा अन्य राष्ट्रमंडल के देशों में, प्रसिद्ध हो गये। अपने नव-निर्माण काल में भारतीय राजनीति को ऐसा उच्च दर्जे का अध्यक्ष मिलना सौभाग्य की बात थी जब अध्यक्षपीठ द्वारा नयी प्रक्रिया, नियम, विनियम तैयार हुए, विनिर्णय और निदेश दिये गये और स्वस्थ संसदीय परंपराएं डाली गयीं और सुदृढ़ उदाहरण और परंपराएं स्थापित की गयीं। इस बौद्धिक भंडार से सांसदों की आने वाली पीढ़ियां मार्गदर्शन और सहायता प्राप्त कर सकती हैं। राष्ट्रपति वेंकटरामन के अत्यंत सारपूर्ण और मौलिक शब्दों में—"हममें से जिन्हें भारत की संसदीय प्रणाली को उदय होते हुए देखने का सौभाग्य मिला, उनमें मावलंकर जी एक देदीप्यमान केंद्र बिंदु थे।" वह "क्रान्ति के मुहावरे को संवैधानिक प्रक्रियाओं में ढालने" में सक्षम थे।

दुर्भाग्यवश मावलंकर जी का अध्यक्ष के रूप में कार्यकाल उनके निधन से 27 फरवरी, 1956 को समाप्त हो गया। अध्यक्ष होते हुए भी मावलंकर जी सामाजिक सेवा, ग्रामीण उत्थान और दुर्बल वर्गों के विकास से संबंधित विभिन्न न्यासों और संगठनों से निष्ठापूर्वक जुड़े रहे और अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने देश भर का भ्रमण किया। दक्षिण के अपने गहन और श्रम साध्य दौरे के दौरान मावलंकर को 27 जनवरी, 1956 को आंध्र में विशाखापत्तनम में दिल का दौरा पड़ा। वह 5 फरवरी को अहमदाबाद वापस आ गये और 9 फरवरी की रात को उन्हें फिर दौरा पड़ा। उनके दो बेटे जो इंग्लैंड और जर्मनी में थे, 12 फरवरी को पहुंच गये। दूर-पास के अन्य संबंधी भी आ गये। सबको अपने पास देखकर उन्हें खुशी हुई। उन्हें 18 फरवरी को तीसरी बार फिर दौरा पड़ा। लेकिन उसके बाद धीरे-धीरे उनकी स्थिति में सुधार होने लगा। वह प्रसन्नचित्त रहे और उनके शीघ्र दिल्ली लौटने की उम्मीद थी। 27 फरवरी की सुबह एक बुलेटिन में कहा गया कि उनका स्वास्थ्य ठीक है और अब बुलेटिन जारी करने की जरूरत नहीं। दुर्भाग्य से यही उनके जीवन के बारे में अंतिम बुलेटिन सिद्ध हुआ, क्योंकि उसी दिन उन्होंने सदा के लिए आंखें मूंद लीं और किसी को पता नहीं चला कि अचानक क्या हुआ। जैसा कि उनकी आत्मकथा लिखने वाले ने कहा, "मृत्यु ने सभी को धोखा दे दिया।"

संसद की दोनों सभाओं में सभी दलों और ग्रुपों के नेताओं ने उनकी स्मृति में हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित की। उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए प्रधान मंत्री नेहरू जी ने उन्हें 'लोक सभा के जनक' की संज्ञा दी और कहा कि उन्होंने संसद के निर्माण-काल, किंतु कठिन समय में, देवदूत का कार्य किया; भविष्य के लिए दृष्टांत स्थापित किये तथा भारत में संसदीय जीवन को एक नया मोड़ दिया। उन्होंने कहा कि श्री मावलंकर के निधन से यहां जो एक परिपाटी विकसित हुई थी, एक संस्था विकसित हुई थी, उसमें व्यवधान आ गया है। संसदीय जीवन में उन्होंने जो योगदान दिया उसे सारांश में बताते हुए नेहरू ने कहा :

> "किसी व्यक्ति विशेष के बारे में यह कहना बहुत बड़ी बात है कि उसने दूसरों को प्रभावित किया, उनमें सुधार किया और उन्हें स्थिति के अनुकूल ढाला। उन्होंने लोक सभा और संसद को प्रभावित किया है और इस माध्यम से समस्त देश को प्रभावित किया है।"

एच०एन० मुखर्जी, अशोक मेहता, एन०सी० चटर्जी, हुकम सिंह और डॉ० लंका सुन्दरम् जैसे विपक्ष के सदस्यों ने कहा कि वह संसदीय लोकतंत्र के अवलंब और विपक्ष के अधिकारों के सच्चे अभिरक्षक थे। उपाध्यक्ष ने मावलंकर से अपने संपर्क

का स्मरण करते हुए कहा कि वह न केवल एक महान व्यक्ति, राजनीतिज्ञ और अध्यक्ष थे अपितु बहुत बड़े राजनेता और देशभक्त भी थे जिन्होंने लोक सभा में ठोस लोकतांत्रिक परंपराएं स्थापित कीं।

हममें से जो लोग उस समय लोक सभा सचिवालय में थे वे दुःख, व्यथा और शोक के उस वातावरण को नहीं भुला सकते जो उस समय न केवल संसद भवन में स्थित कार्यालयों में, अपितु हमारे घरों में भी व्याप्त था। तत्कालीन सचिव एम० एन० कौल ने बड़े ही हृदयविदारक और शोकपूर्ण शब्दों में अपने उद्‌गार व्यक्त किये थे और कहा था कि आज परिवार का मुखिया हमको छोड़कर चला गया।

उत्तरालेख : मैं दादा साहेब मावलंकर और उनके अध्यक्षपद से संबद्ध कुछ व्यक्तिगत संस्मरण और छाप टिप्पणी के रूप में जोड़ने का दुस्साहस करना चाहता हूं। अब तक लोक सभा के जितने भी अध्यक्ष बने हैं उन्हें देखने और जानने का मुझे गौरवपूर्ण अवसर मिला है। कुछ को कुछ दूर से और कुछ को काफी नजदीक से देखा और जाना है। जिस समय मैंने विश्वविद्यालय के एक अध्यापक और कुछ शैक्षणिक उपलब्धियों की पृष्ठभूमि के साथ लोक सभा सचिवालय में एक युवा अधिकारी के रूप में सेवा आरंभ की, तब दादा साहेब मावलंकर लोक सभा के प्रथम अध्यक्ष थे। उनके बारे से मेरी धारणाएं मुख्यतः इन बातों से बनीं : (1) मैंने लोक सभा की दीर्घाओं से उनको पीठासीन अधिकारी के रूप में काम करते देखा, (2) एक-दो बार उन्होंने अधिकारियों और कर्मचारियों को संबोधित किया, (3) एक बार उनके कक्ष में उनसे मुलाकात का मौका मिला, और (4) जो फाइलें उन तक जाती थीं और वापस आती थीं उनमें दिये आदेश, लिखे गये नोट और की गयी टिप्पणियां। एक कनिष्ठ अधिकारी के नाते मैं इससे अधिक अपेक्षा नहीं कर सकता था। मुझे उनका रौबीला पर श्रद्धेय व्यक्तित्व आज भी याद है। वह बहुत बड़े प्रशासक थे तथा अनुशासनप्रिय थे। वह संसद सचिवालय में एक ऐसा समेकित अधिकारी वर्ग तैयार करने में विश्वास रखते थे जहां आदेश में एकात्मकता हो। यद्यपि उनके नेतृत्व में सचिवालय का काफी विस्तार हुआ और कर्मचारियों की संख्या 50 से बढ़कर लगभग 500 हो गयी, पर उन्होंने कभी भी सचिवालय के प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं किया और कभी किसी व्यक्ति की नियुक्ति की सिफारिश नहीं की और फलस्वरूप योग्यता पर आधारित एक कार्यकुशल सचिवालय की ठोस नींव डाली। उन्होंने अपने सचिव श्री एम० एन० कौल और संयुक्त सचिव श्री शकधर को शक्तियां प्रत्यायोजित कीं और उन पर पूर्ण विश्वास किया। इन दोनों ने इतनी एकात्मकता से काम किया कि उनकी काया तो अलग-अलग थी पर आत्मा और दिमाग एक था। वे दादा साहेब की आंखें और कान

थे। एक बार हमें संबोधित करते हुए उन्होंने श्री कौल और श्री शकधर को सचिवालय में अपने दो पुत्र कहा था। वस्तुतः सचिवालय में वह हम सबके लिए पितामह थे। हमें इस बात पर गर्व होता था कि हम एक महान अध्यक्ष के लिए और उनके अधीन कार्य कर रहे हैं जो इस देश के उन महान नेताओं में से एक थे जिन्हें देश ने इतिहास के उस काल में जन्म दिया था।

दादा साहेब ने यह दलील देते हुए एक स्वतंत्र सचिवालय की आवश्यकता पर बल दिया कि अध्यक्ष को विधानमंडल के प्रतिनिधि और प्रमुख के नाते उन लोगों की मदद और सलाह मिलनी चाहिए जो कार्यकारी सरकार की शक्तियों के कारण सहमे-सहमे महसूस न करें और जो प्रलोभन और ताड़ना के बावजूद सलाह दें और कार्यनिष्पादन कर सकें। उन्होंने कहा :

> "यदि मेरे सचिव को किसी प्रश्न की ग्राह्यता या किसी प्रस्ताव की ग्राह्यता के विषय में यह सोचकर सलाह देनी पड़ी कि उनकी सलाह के बारे में प्रधान मंत्री क्या सोचेंगे तो मैं समझता हूं एक स्वतंत्र सचिवालय की कल्पना समाप्त हो जाती है। हमारा काम लोकतंत्र को कायम रखना है।"

दादा साहेब ने हमें जो मूल मंत्र दिया, जो सही मायनों में संसद के उस निर्माण काल में हमारे कार्य और मस्तिष्क पर छाया रहा, वह था : प्रलोभन से प्रभावित न होकर निर्भयता और निष्पक्षता से काम करो। संसद सचिवालय में जो नये लोग भर्ती होते थे उन्हें वह स्वतंत्रता, निष्ठा, निष्पक्षता और गति के सिद्धांतों का अनुसरण करने की सलाह देते थे :

(**एक**) निर्भय और निष्पक्ष भाव से सोचें और स्वतंत्र रूप से कार्य करें।

(**दो**) अपने सहकर्मियों में आस्था और विश्वास रखें—हर स्तर पर उत्तरदायित्व प्रत्यायोजित करें और ग्रहण करें।

(**तीन**) राजनीतिज्ञों और राजनीति के बारे में निष्पक्ष दृष्टिकोण अपनायें और किसी दलगत और राजनीतिक लिहाज से ऊपर उठकर काम करें।

(**चार**) काम शीघ्रता से निपटाएं, विलंब न करें, अपनी जिम्मेदारी दूसरों पर न डालें; जिम्मेदारी लें और निर्णय करें; संसदीय कार्य में विलंब अक्षम्य है और प्रायः समय ही महत्वपूर्ण कारक होता है।

इन्हीं प्रमुख सिद्धांतों पर एक स्वतंत्र और कुशल संसद सचिवालय की नींव पड़ी और संसदीय अधिकारियों की एक विशिष्ट संस्कृति विकसित हुई जो कि सरकारी नौकरशाही से बिल्कुल भिन्न है।

दादा साहेब बाहर से कठोर लगते थे पर उनका हृदय बड़ा कोमल था। इस सचिवालय की रजत जयन्ती समारोहों के अवसर पर बोलते हुए उन्होंने सभी अधिकारियों और कर्मचारियों को आश्वस्त किया कि सचिवालय का प्रत्येक कर्मचारी उनका सहकर्मी है और कार्यकुशलता के लिए जो भी श्रेय उन्हें मिलता है वह श्रेय वस्तुत. सचिवालय को जाना चाहिए।

मुझे याद है, शायद 1955 की बात है, मैंने कुछ शोध पुस्तिकाएं उनकी सूचनार्थ भेजी थीं, जो मैंने तैयार की थी और जिनकी अग्रिम मुद्रित प्रतियां तभी प्राप्त हुई थीं। फाइल वरिष्ठ अधिकारियों के माध्यम से गयी। तत्कालीन सचिव श्री कौल ने फाइल अध्यक्ष महोदय को 'मार्क' की। वह फाइल उसी दिन मेरी सीट पर आ गयी जिसमें प्रशंसा और प्रोत्साहन के कुछ शब्द लिखे हुए थे। वे शब्द मुझे पितामह दादा साहेब से आशीर्वादस्वरूप मिले।

दादा साहेब सदस्यों को अधिकतम सुविधाएं प्रदान करने को उत्सुक रहते थे ताकि वे प्रभावी संसदविद् बन सकें और अपना काम अच्छी तरह कर सकें। उन्होंने शुरू में ही यह महसूस कर लिया था कि किसी संसदविद् के लिए अपना कार्य सफलतापूर्वक करने हेतु पूर्ण और उद्देश्यपरक जानकारी का शीघ्र मिलना एक अनिवार्य शर्त है। अतः उन्होंने एक शोध और सन्दर्भ सेवा गठित की तथा संसद ग्रन्थालय को और समृद्ध किया। ग्रन्थालय के लिए उनकी एक महत्वाकांक्षी योजना थी। पहली लोक सभा के काल में ही वह एक पृथक संसद ग्रन्थालय भवन की आवश्यकता के बारे में आश्वस्त थे। मुझे याद है कि इस विषय पर विचार करने के लिए अध्यक्ष कक्ष में एक बैठक हुई थी। यह बड़े दुःख की बात है कि संसद ग्रन्थालय भवन के बारे में दादा साहेब का सपना तीन दशकों के बाद भी साकार नहीं हुआ, हालांकि इस दिशा में अनेक प्रयास किये गये हैं।

दादा साहेब जिस प्रकार सभा की कार्यवाही का संचालन करते थे उसकी कुछ यादें अभी भी सजीव हैं। वह बहुत अनुशासनप्रिय थे और चाहते थे कि सभा की कार्यवाही गरिमा और शालीनता के उच्चतम मानकों के अनुरूप चले और सभी पक्ष के सदस्य नियमों, विनियमों, परम्पराओं और पूर्वोदाहरणों का पालन करें। उस समय सभा में सरकार और विपक्ष दोनों ही दलों में धुरंधर सदस्य थे। कुछ अति विशिष्ट और टेढ़े सदस्य भी थे। फिर भी वह सभा में कोई बेतुकी बात बर्दाश्त नहीं करते थे। कोई भी—चाहे वह मंत्री हो या सदस्य—उनसे बात करने के लिए अध्यक्ष-पीठ तक नहीं जा सकता था। वे उनसे केवल उनके कक्ष में ही मिल सकते थे और यदि सदन में ही अध्यक्ष से कुछ कहना जरूरी हो, तो वह सभा-पटल अधिकारी से बात करके या उसे पर्ची देकर ही अपनी बात अध्यक्ष तक पहुंचा सकते थे। कोई सदस्य जब बोल रहा होता था तो उस दौरान कोई बीच में नहीं चलता था। सभा में

किसी किस्म का चिल्लाना, समाचार पत्रों का पढ़ना, आपस में बातचीत करना या अशिष्ट व्यवहार द्वारा कार्यवाही में खलल डालना बर्दाश्त नहीं किया जाता था। ब्रिटिश अध्यक्षों की उत्तम परम्पराओं के अनुरूप दादा साहेब सभा में बहुत कम बोलते थे। वह बहुत शान से अध्यक्ष के आसन पर बैठते थे, उनका बड़ा रौब-दाब था। उनके व्यवहार से रौब झलकता था और लोगों की उनके प्रति स्वभाविक श्रद्धा थी। वह जब भी बोलते थे उनको बहुत शांतिपूर्वक सुना जाता था। जब वह अपनी रौबीली आवाज में 'शांति-शांति' कहते थे, तो सदन में सन्नाटा छा जाता था और अगर वह किसी सदस्य को बोलने से मना कर देते थे या स्वयं उठ खड़े होते थे तो उस सदस्य के लिए बोलना जारी रखना या खड़े रहना कल्पनातीत था। ऐसे सदस्य के लिए, जो बार-बार सभा की नियमानुसार चल रही कार्यवाही में खलल डालने की कोशिश करता, उनकी एक तीखी नजर ही काफी थी जो उसके लिए चेतावनी का काम करती तथा उसे अध्यक्ष की आज्ञा का तुरंत पालन करने के लिए विवश कर देती। जब अध्यक्ष महोदय उठ खड़े होते थे तो अन्य सभी सदस्यों के लिए बैठ जाना तथा शांतिपूर्वक सम्मानसहित उनकी बात सुनना एक चेतावनी समान होता था। दादा साहेब नियमों और प्रक्रियाओं के संबंध में दक्ष थे। वह विभिन्न विचारों को ध्यानपूर्वक सुनते, उन पर मनन करते और तब अपना निर्णय देते थे। वह अपने विनिर्णय पर कोई आपत्ति नहीं करने देते थे और न प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उस पर चर्चा की जा सकती थी। सदन में बहुत कम अवसरों पर ही उन्हें किसी ने उठकर खड़े होते देखा होगा, क्योंकि इसकी जरूरत ही नहीं पड़ती थी। वह समय ही कुछ और था।

अध्यक्ष मावलंकर मंत्रियों द्वारा सदा संसदीय प्रक्रियाओं, प्रथाओं, परंपराओं तथा नियमों के पालन पर बल देते थे और वह कहते थे कि ऐसा करना उनके हित में है, उनकी सरकार के हित में है और वह यह न भूलें कि वह मंत्री पीछे और संसद सदस्य पहले हैं। वह इस संसद का अंग हैं और संसद के प्रति जिम्मेदार हैं।

सिद्धांतों के प्रश्न पर दादा साहेब बड़े-से-बड़े और शक्तिशाली से शक्तिशाली व्यक्ति से अड़ सकते थे। वह प्रधान मंत्री नेहरू को भी सदन में उसी दिन दुबारा वक्तव्य देने की अनुमति नहीं देते थे, क्योंकि तत्कालीन नियमों में इसकी व्यवस्था नहीं थी। अध्यादेश जारी करने के मामले में वह प्रधान मंत्री तक से भिड़ सकते थे तथा सदन के इस आधार पर सत्रावसान करने कि सरकार कुछ अध्यादेश जारी करना चाहती है की बात को मानने की वांछनीयता को चुनौती दे सकते थे। एक बार वह एक सदन की तुलना में दूसरे सदन के अधिकारों और विशेषाधिकारों के प्रश्न पर प्रधान मंत्री द्वारा सभा में अभिव्यक्त विचारों से सहमत नहीं हुए और उन्होंने एक सदन के सदस्यों द्वारा दूसरे सदन के विशेषाधिकार हनन संबंधी

मामलों से निपटने हेतु एक परंपरा स्थापित की। यह परंपरा आज भी कायम है और इसका अनुसरण हो रहा है।

अध्यक्ष अकेले कुछ नहीं कर पाता यदि सरकार के कर्ताधर्ता, सभा के नेता एक महान लोकतांत्रिक, संसदीय संस्थाओं और परंपराओं का आदर करने वाले श्री जवाहरलाल नेहरू न होते जो उन्हें तुरंत यह याद दिला देते थे कि प्रधान मंत्री के पद की तुलना में वह अपने पद की गरिमा किस प्रकार बनाए रख सकते हैं। यद्यपि निजी तौर पर वह आपस में कई बार मिलते थे फिर भी अध्यक्ष के नाते वह प्रधान मंत्री से मिलने से बचते थे और एक बार जब अध्यक्ष महोदय ने प्रधान मंत्री से मिलने का समय मांगा, तो प्रधान मंत्री ने दादा साहेब को याद दिलाया कि प्रधान मंत्री को चाहिए कि वह अध्यक्ष के कक्ष में आकर उनकी सुविधानुसार उनसे मिले। इन्हीं बातों से महानता का निर्माण होता है और ऐसे ही संसदीय इतिहास बनता है और महान परंपराएं कायम होती हैं।

2

अध्यक्ष मावलंकर—एक मूल्यांकन

—प्रो० एन० जी० रंगा*

अध्यक्ष जी० वी० मावलंकर लोक सभा के जनक माने जाते हैं और वह हमारे यहां की विधान सभाओं और लोक सभा के सर्वोत्तम अध्यक्षों में एक थे। वह सौम्यता एवं मर्यादा के आदर्श थे, जो उनके प्रत्येक कार्य में उनकी मुस्कुराहटों एवं उनके स्वाभाविक आत्मविश्वास के साथ दिखायी पड़ती थी। हर क्षण उनके चेहरे पर सौम्यता का भाव विद्यमान रहता था।

यह बड़ी रोचक घटना है कि तत्कालीन केन्द्रीय विधान सभा में अध्यक्ष के रूप में वह किस प्रकार चुने गये थे। ब्रिटिश सरकार को यह पता था कि वह बंबई विधान सभा में कितने सशक्त तथापि ईमानदार अध्यक्ष रहे थे; परंतु अंग्रेज़ यह नहीं चाहते थे कि उस महत्वपूर्ण चुनाव में कांग्रेस की जीत हो और वह भी विशेष रूप से 1942 के ऐतिहासिक भारत छोड़ो आंदोलन के शीघ्र बाद। अंग्रेज़ यह भी जानते थे कि उनका हित केन्द्रीय विधान सभा में जिन्ना की 'लीग' पार्टी से जुड़ा है जो कांग्रेस के खून की प्यासी थी और उनके नामनिर्देशित सदस्य भी सभा में थे। इसलिए उन्होंने जिन्ना के उम्मीदवार का समर्थन किया। परंतु सरदार पटेल इस संघर्ष से पीछे नहीं हटना चाहते थे। उन्होंने दिल्ली आकर अपने संपर्कों का इस्तेमाल किया और हमसे चाहा कि हम इस अवसर पर चुनाव का जोखिम उठायें। शरतचंद्र बोस हमारे नेता थे। हमने बड़ी मुश्किल से अपनी हार बचाई। हमने अपनी सफलता का श्रेय विजीनगरम (आंध्र) के महाराज कुमार द्वारा दिये गये समर्थन और नवनगर के हिम्मत सिंह जी की साहसपूर्ण तटस्थता को दिया। अध्यक्ष बनते ही मावलंकर, जो उस समय तक इतने बेहतरीन वक्ता के रूप में नहीं

* प्रो. रंगा वयोवृद्ध (आयु 88 वर्ष) संसद सदस्य हैं। उन्होंने ससद सदस्य के रूप में सबसे लंबा, 50 वर्ष से अधिक का, समय पूरा कर लिया है। वह लोक लेखा समिति के सभापति भी रहे हैं।

जाने जाते थे, सबसे सफल अध्यक्ष सिद्ध हुए । यहां तक कि जब कभी उन्हें ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध भी कोई निर्णय देना होता था तो वह ऐसा बड़ी शालीनता से करते थे तथा उसमें इतनी शिष्टता और मिसालों का समावेश होता था कि जिसके विरुद्ध वह निर्णय होता था उसको भी वह ठीक लगता था ।

श्री मावलंकर ने अंतरिम संसद की अपनी अध्यक्षता को पूर्ण रूप से एक संसदीय मिशन के रूप में माना था और वह गैर-सरकारी सदस्यों के अधिकारों को सुदृढ़ बनाने हेतु स्वस्थ परंपराएं बनाने, अत्यधिक शक्ति प्राप्त करने की दिशा में सरकार के स्वभाविक आकांक्षा पर नियंत्रण करने और उसे सचेत करने तथा मंत्रालय को अपनी बात स्वतंत्रतापूर्वक, पूरी तरह से और कारगर ढंग से व्यक्त करने में सहायता देने के लिए भी कटिबद्ध थे । वह संसद को सरकार का एक कुशल एवं कारगर आलोचक, सार्वजनिक हितों का संरक्षक और मंत्रियों एवं मंत्रालयों पर संसदीय प्राधिकार का एक शक्तिशाली और 'धार्मिक' शासक बनाने के लिए भी कटिबद्ध थे ।

वह बीसवीं सदी के हाउस ऑफ कामन्स की कमजोरियां जानते थे और इन कमजोरियों से हमारी संसद को बचाने में सहायता करना चाहते थे । यह उनके लिए बड़ी बहादुरी की लड़ाई थी, परंतु जहां वह एक ओर तो सदस्यों को जागरूक बनाना चाहते थे तो दूसरी ओर वह मंत्रालयों पर नियंत्रण भी रखना चाहते थे । इसी प्रभाव के कारण ही यह हो सका कि वह एक गैर-सरकारी सभापति की अध्यक्षता में एक शक्तिशाली प्राक्कलन समिति की स्थापना करने में सफल हो पाये और इस परंपरा के परिणामस्वरूप आगे चलकर अधिकांश संयुक्त प्रवर समितियों के सभापति भी गैर-सरकारी सदस्य होने लगे । श्री मावलंकर जी ने यह महसूस कर लिया था कि बहुत ही कमजोर विपक्ष वाली संसद में 'अविश्वास-प्रस्ताव' और 'स्थगन-प्रस्ताव' जैसे जाने-माने संसदीय शस्त्रों का इतने स्वतंत्र रूप से या सार्थक रूप से इस्तेमाल नहीं किया जा सकता । इसलिए उन्होंने हमारी स्थिति के अनुसार 'अंतर्वेशन' की फ्रांसीसी प्रक्रिया और 'प्रश्न पूछने' की ब्रिटिश प्रक्रिया अपनायी और इस प्रकार महत्वपूर्ण प्रश्नों पर 'आधे घंटे की चर्चा' और 'अल्पअवधि की चर्चा' की प्रणाली लागू की ।

वह अक्सर हमें बताया करते थे कि राष्ट्रीय लोकतंत्र के हित में संसद के लिए यह जानना अत्यंत आवश्यक है कि वह किसी मंत्री को, चाहे वह मंत्री अपने पद के हिसाब से कितना ही बड़ा क्यों न हो, समुचित रूप से चौकस बनाये रखे और संसद के प्रति उसके अधीनस्थ भाव के बारे में उसे पूर्णतया जागरूक रखे । वह इतने विवेकशील और सुसभ्य व्यक्ति थे कि उन्होंने जब किसी दुराग्रही या कट्टर मंत्री को गलत भी सिद्ध किया तो भी यह कभी जाहिर नहीं होने दिया कि उन्हें इस

बात से गौरव मिला है। क्योंकि वह समझते थे कि वह उनकी विजय नहीं बल्कि संसद की विजय है। लोक सभा के अध्यक्ष बन जाने के बाद, मैं उनकी महान और असंख्य विजय की कहानियां केवल अन्य लोगों से सुनता था या समाचार पत्रों के माध्यम से ही जान पाता था, क्योंकि 1952-56 के बीच तो मैं राज्य सभा का सदस्य था। परंतु, जब हम ओटावा में 1952 में हुए राष्ट्रमंडल संसदीय सम्मेलन में भारतीय संसदीय शिष्टमंडल के साथ गये, तो मुझे उनमें साथ अनेकों बार चर्चा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। वह कहा करते थे कि संसद को एक उद्देश्यपरक एवं अनुशासित संस्था के रूप में कार्य करना चाहिए; सदस्यों को और मेहनत से अध्ययन करना तथा मंत्रियों को सहायता देना, उनका मार्गदर्शन करना एवं उन पर नियंत्रण रखना सीखना चाहिए तथा साथ ही उन्हें संसदीय कार्य को भी एक अत्यंत अनिवार्य राष्ट्रीय जिम्मेदारी समझना चाहिए।

यह देखकर कि अमरीका और कनाडा के प्रत्येक राज्य के संसदीय चैम्बरों को किस प्रकार उनके अपने-अपने इतिहास की विख्यात घटनाओं के चित्रों, कलाकृतियों एवं भित्तीचित्रों से सजाया गया है, अध्यक्ष मावलंकर ने तथा मैंने भी यह चाहा कि हमारी संसद को भी इसी प्रकार सजाया जाये। और वहां से लौटने के बाद उन्होंने इस दिशा में बहुत काम किया।

उन्होंने देखा कि अमरीका और कनाडा में संसद सदस्यों को कई प्रकार की सुविधायें उपलब्ध हैं जैसे—पर्याप्त वेतन, दैनिक भत्ते, कार्यालय-कक्ष, लेखन सामग्री, निःशुल्क रेलवे पास तथा सचिवालय संबंधी सहायता और यहां तक कि पेंशन भी। श्री मावलंकर हमारी अपेक्षाकृत निर्धन दशा को ध्यान में रखते हुए हमारे संसद सदस्यों को भी ऐसी ही सुविधायें प्रदान करने के इच्छुक थे।

वह इस बात के बेहद इच्छुक थे कि संसद सदस्य आम जनता की समस्याओं को बड़े ध्यान से अध्ययन करें और उन तमाम विशेषाधिकारों और शक्तियों का, जो उन्हें दी गई है, सही इस्तेमाल करें ताकि लोक हित को बढ़ावा मिल सके और वे प्रशासन पर अंकुश रखने हेतु जनता को सशक्त बना सकें। इस प्रयोजन के लिए उनकी यह इच्छा थी कि संसद सदस्यों और विधायकों को, जो कि जनता के सर्वोत्तम सेवक होते हैं, अपना कर्तव्य निभाने के लिए अधिक-से-अधिक सुविधायें मिलनी चाहिएं।

संसद सदस्यों के प्रति श्री मावलंकर जी का स्नेह सर्वविदित था। मेरे प्रति उनके मन में एक उदार भावना थी। जब मैं प्रथम लोक सभा के चुनाव में जीत नहीं पाया तो मैंने अंतरिम संसद की सदस्यता से तुरन्त त्याग-पत्र दे दिया, हालांकि मैं नयी लोक सभा के गठन तक अंतरिम संसद का सदस्य रह सकता था। अनेकों सदस्य जो मेरी ही तरह चुनाव में जीत नहीं पाये थे, अंतरिम संसद के सदस्य बने

रहे थे। श्री मावलंकर ने मुझे एक स्नेह भरा पत्र लिखा जिसमें उन्होंने मेरे अनावश्यक रूप से त्याग-पत्र देने पर अप्रसन्नता व्यक्त की और संसद के प्रति मेरी सेवाओं की सराहना का विश्वास दिलाया और अपने स्नेह को तथा मेरी संसदीय सेवाओं की सराहना करने की भावना को व्यक्त करने के लिए उन्होंने मुझे भारतीय संसदीय शिष्टमंडल के सदस्य के रूप में चुना जिसने 1952 में ओटावा में हुए राष्ट्रमंडल संसदीय सम्मेलन में भाग लिया, हालांकि मैं उस समय विपक्ष में था और राज्य सभा का सदस्य था। इससे भी ज्यादा बड़ी बात यह रही कि उन्होंने मुझे 'विदेशी मामलों' विषय पर ओटावा में हुई अत्यंत महत्वपूर्ण चर्चा के बारे में भारतीय शिष्टमंडल का नेतृत्व करने के लिए भी कहा। इससे यह पता चलता है कि वह देश भक्ति के अपने सिद्धान्त में और इसके समर्थकों के साथ चाहे वह सत्ता पक्ष के थे अथवा विपक्ष के, कितनी उदारता बरतते थे। मैं निश्चय ही उनका बहुत आभारी हूं, क्योंकि गांधीवादी स्नेह का ऐसा व्यवहार आज तक भी हमारे राजनीतिक जीवन की सामान्य प्रक्रिया नहीं बन पाया है। हमने इस बात को बाद में महसूस किया कि उनका चयन बहुत ही बुद्धिमतापूर्ण सिद्ध हुआ, क्योंकि जब आस्ट्रेलियाई शिष्टमंडल के नेता ने भारत पर यह आरोप लगाया कि भारत कई अन्य लोकतांत्रिक देशों की तरह विपक्ष के प्रति उदासीनता बरत रहा है, तो मैंने उस नेता को यह कहकर आश्चर्यचकित कर दिया कि भारतीय शिष्टमंडल में मेरी उपस्थिति ही उनके इस आरोप का खंडन करती है। जब बाद में मैंने अंतर्राष्ट्रीय गुटबंदी और राजनीति में भारत के निर्गुट रहने की बात उठायी तो सम्मेलन में इस बात को बहुत महत्व दिया गया, क्योंकि यह बात भारतीय संसद के एक विपक्षी नेता द्वारा उठायी गयी थी।

यह बात सबको मालूम नहीं है कि मावलंकर जी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में अपनी कितनी जबरदस्त छाप छोड़ते थे। ओटावा सम्मेलन में उस समय बड़ी विस्फोटक स्थिति पैदा हो गई, जबकि पाकिस्तान के प्रतिनिधि ने सौम्यता और शालीनता के सभी नियमों को ताक पर रखते हुए, कश्मीर का और पंजाब के जल का विवाद खड़ा कर दिया था, जबकि हम दक्षिण अफ्रीका के मलान शासन के बारे में चर्चा कर रहे थे। श्री मावलंकर उस वाद-विवाद में हस्तक्षेप करने के लिए उठे। हमने सम्मेलन की विचारधारा के स्तर को इतना ऊंचा उठा दिया और उसमें पाकिस्तान और राष्ट्रमंडल की जिम्मेदारियों का इतनी शालीनता से उल्लेख किया कि सारे सम्मेलन ने पाकिस्तान के अवांछित हस्तक्षेप पर खेद प्रकट किया। दो बड़े विरोधी गुटों के बीच 'गुट-निरपेक्ष' के रूप में भारत की विदेश नीति की मेरी व्याख्या को विभिन्न शिष्टमंडलों द्वारा बार-बार अमित्रतापूर्ण बता कर आलोचना की गई, परंतु श्री मावलंकर मेरे समर्थन में चट्टान की तरह अड़े रहे और

उनके सुनिश्चित परंतु मधुर समर्थन ने अन्य लोगों को भारत के निर्णय की गम्भीरता को महसूस करा दिया।

मावलंकर जी की सार्वजनिक गतिविधियां केवल संसद तक ही सीमित नहीं रहीं। उन्होंने संसद के बाहर के, लेकिन दल-निरपेक्ष कर्तव्यों के, प्रति अपनी विवेकशील निष्ठा के द्वारा भी साधारण संसद सदस्यों के समक्ष एक उदाहरण प्रस्तुत किया। कस्तूरबा निधि और गांधी राष्ट्रीय स्मारक निधि में मावलंकर जी का अनोखा योगदान रहा है; उसमें उन्होंने लोकतांत्रिक निर्णयों के प्रति वास्तविक गांधीवादी विचारधारा को, सर्वोत्तम उद्देश्य के लिए प्रत्येक रुपये के पूरे-पूरे उपयोग को और अपने सबसे अधिक स्वीकार्य सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं का चुनाव करने के सिद्धांत को प्रतिपादित किया। उनकी मृत्यु आंध्र की यात्रा के समय दिल का दौरा पड़ने के कारण हुई। यह यात्रा उन्होंने इन निधियों के लिए धनराशि एकत्र करने के संबंध में की थी। संसद ने तो उन्हें अध्यक्ष के रूप में चुना था जबकि बापू जी ने उन्हें कस्तूरबा निधि के लिए और सरदार पटेल ने उन्हें गांधी निधि के लिए चुना था। वह बापू और सरदार पटेल दोनों के ही विश्वसनीय साथी थे। स्वर्गीय प्रधान मंत्री नेहरू के साथ उनके मधुर संबंधों के एक प्रमाण के रूप में पंडित जी द्वारा व्यक्त की गयी निधन संबंधी श्रद्धांजलि रिकार्ड के रूप में लोक सभा के दस्तावेजों में अभी भी दर्ज है।

मावलंकर जी पर प्रधान मंत्री से मिलने का अवसर तलाश करने का तत्कालीन सामान्य लोभ कभी हावी नहीं रहा। वह सरकारी तौर पर अध्यक्ष के रूप में कभी भी प्रधान मंत्री से नहीं मिले, हालांकि वे दोनों ही सामाजिक समारोहों में एक दूसरे से मिला करते थे। इस प्रकार यह एक परम्परा-सी बन गयी थी कि अध्यक्ष संसदीय कार्य से संबंधित किसी भी मुद्दे पर प्रधान मंत्री से आम तौर पर नहीं मिला करते थे। मुझे मालूम नहीं कि ब्रिटेन में भी ऐसी ही परम्परा है या नहीं। यहां तक कि जब संविधान सभा और अन्तरिम परिषद के बीच प्रक्रिया संबंधी प्रश्नों के बारे में कोई जटिल स्थिति पैदा होती थी, तो उनके अपने-अपने सचिवों श्री एच० वी० आर० आयंगर और श्री एम० एन० कौल के बीच ही इसका हल हो जाता था। जवाहर लाल नेहरू तो केवल मध्यस्थता ही किया करते थे।

आज की लोक सभा मावलंकर जी के समय की लोक सभा से बहुत ही भिन्न है। आज 'शून्य काल' में जो कुछ होता है उसे देखकर तो वह दंग रह जाते। मावलंकर जी को एक घंटे के लिए भी लोक सभा की बैठक स्थगित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उनके समय में सरकार की जिम्मेदारियों की सूची की परिधि में पड़ने वाले सार्वजनिक विषयों को लोक सभा में उठाने की अनुमति नहीं

थी। आजकल मंत्रियों और संसद सदस्यों के विरुद्ध विशेषाधिकार प्रस्ताव एक फैशन-सा हो गया है और 'वाक आऊट' एक आम बात हो गयी है।

मैं अध्यक्ष के सामने वाली बीच की बैंच पर बैठा-बैठा कभी-कभी देखता रहता हूं कि अध्यक्ष और संसद सदस्य एक-दूसरे पर टिप्पणी करते रहते हैं। यह सब शोर शराबा तथाकथित 'शून्य काल' में दिखाई देता है। यह अध्यक्ष की सहनशीलता और खुशमिजाजी पर निर्भर करता है कि यह कितने समय तक जारी रहता है। अध्यक्ष प्रायः एक तरफ या सभी तरफों के शोरगुल से व्याकुल हो जाता है और मंत्रियों से अपने-अपने कागज-पत्र सभा पटल पर रखने के लिए कह देता है और इस तरह से शून्य काल का अन्त हो जाता है।

इस शून्य काल के दौरान संसद सदस्यों द्वारा कौन-कौन से विषय उठाये जाते हैं? दैनिक समाचार-पत्रों में छपने वाली खबरें ही संसद सदस्यों का विषय होती हैं। कभी-कभी उन्हें अपने लोक महत्व के प्रश्नों पर 'स्थगन-प्रस्ताव' लाने की भी जरूरत पड़ती है जो वैध रूप से अधिसूचित किये जाते हैं और समुचित रूप से उन पर बहस की जाती है तथा इसमें अध्यक्ष का निर्णय अंतिम हुआ करता है। अब शून्य काल के शोर-गुल में, समाचार-पत्र वालों को क्या यह पता चल पाता है कि कौन-कौन से विषय उठाये गये हैं? क्या किसी संसद सदस्य को इस बात की परवाह रहती है कि उसी के दल का एक अन्य सदस्य भी उसी विषय पर या किसी अन्य विषय पर बोल रहा है? फिर उन्हें एक अतिरिक्त परेशानी भी उठानी पड़ती है—वे बाद में संवाददाताओं से सम्पर्क करते हैं और उन्हें बताते हैं कि सदन में उन्होंने क्या-क्या विषय उठाने की कोशिश की थी। इस तरह की बहुत-सी भ्रामक स्थितियों से बचा जा सकता है।

अध्यक्ष का मार्गदर्शन इसलिए आवश्यक है ताकि शांतिपूर्ण एवं सार्थक विचार-विमर्श किया जा सके और लोकतांत्रिक ढंग से निर्णय किया जा सके। हमारे विधानमंडलों का सुचारु रूप से कार्यचालन स्व-अनुशासन की उस मात्रा एवं जिम्मेदारी की उस भावना पर निर्भर करता है जो हमारे विधायक स्वतंत्र एवं निर्भीक वाद-विवाद और हमारी संसदीय प्रगति को सुनिश्चित करने के लिये प्रदर्शित करते हैं।

मैं अपनी वह अपील दोहराता हूं जो मैंने महाराष्ट्र विधान सभा के स्वर्ण जयन्ती समारोह के दौरान 1988 में विधायकों के समक्ष की थी। उस विधान सभा की अध्यक्षता भी अध्यक्षों के शिरोमणि श्री जी० वी० मावलंकर ने आधी शताब्दी पूर्व की थी। हमें विधानमंडलों को गोल थानों में अथवा अनुशासनहीन विधायकों और मार्शलों के बीच खींचतान के स्थानों में नहीं परिवर्तित कर देना

चाहिए। हमारे विधायकों को विधानमंडलों में न तो निष्क्रिय रहना चाहिए, न ही अनुपस्थित और न ही उन्हें सिर्फ मतदान करने वाली मशीन ही बनना चाहिए। उन्हें वाद-विवादों को बड़े ध्यान से सुनना चाहिए तथा उनसे कुछ सीखना चाहिए, चर्चाओं को सार्थक बनाना चाहिए ओर सहनशीलता की भावना के साथ आम जनता की आवश्यकताओं, भावनाओं एवं परेशानियों को विधानमंडलों में चर्चित कराना चाहिए। विधायकों को आम जनता के सृजनात्मक एवं रचनात्मक विचारों की ज्ञानप्रद कर्मभूमि तथा विशिष्ट व्याख्याता के रूप में सेवा करने के योग्य होना चाहिए। भगवान करे कि मावलंकर जी की सहनशीलता की भावना और चित्ताकर्षक एवं विनोदप्रिय वाद-विवाद हमारे संसदीय लोकतंत्र को समृद्ध बनायें।

3

जी० वी० मावलंकर
एक श्रद्धांजलि

—सत्येन्द्र नारायण सिंह*

महात्मा गांधी उन्हें प्यार से 'बेबी' कहते थे। जवाहर लाल नेहरू उन्हें 'लोक सभा का जनक' कहते थे। गणेश वासुदेव मावलंकर स्वतंत्रता आंदोलन के शिशु तथा संसदीय प्रजातंत्र की महान परम्पराओं के जनक दोनों ही थे।

स्वतंत्रता आंदोलन में चार दशकों के अनुशासनबद्ध तथा समर्पित जीवन ने ही जी० वी० मावलंकर को 1946 में केन्द्रीय विधानमंडल में पहुंचा दिया। वह 1946 में केन्द्रीय विधान सभा (असेम्बली) के अध्यक्ष चुने गये और अगस्त, 1947 तक उस पद पर बने रहे। नवम्बर, 1947 में संविधान सभा (विधायी) के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। जनवनी, 1950 में संविधान लागू हो जाने पर वह अस्थायी संसद के अध्यक्ष बने। 1952 के आम चुनावों के बाद वह लोक सभा के अध्यक्ष चुने गए और वह 1956 तक मृत्यु पर्यन्त उस पद पर आसीन रहे। इस प्रकार लगभग दस वर्षों की अवधि तक उन्होंने केन्द्र में विधायी निकायों की अध्यक्षता की।

अनुशासन तथा समर्पण के गुणों ने ही, जो उन्होंने महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता संग्राम के दौरान एक सैनिक के रूप में प्राप्त किये थे, उन्हें लोक सभा के अध्यक्ष के पद पर सुशोभित करवाया। वह 1919 में स्वतंत्रता आंदोलन में शामिल हुए और उन्होंने तीन वर्ष के बाद राष्ट्रीय संग्राम में पूर्णतया समर्पित होने के लिए अपनी लाभकर वकालत छोड़ दी। उन्होंने महात्मा गांधी द्वारा निर्धारित प्रत्येक कार्यवाही कार्यक्रमों में भाग लिया और 1930, 1933, 1940, 1942

* श्री सिंह संसद के एक वरिष्ठ सदस्य हैं। वह लोक सभा की प्राक्कलन समिति के सभापति भी रह चुके हैं।

आदि में जेल गये। इस बीच वह अहमदाबाद नगरपालिका के अध्यक्ष बने, उन्होंने व्यापक सामाजिक कार्य किया और बम्बई प्रान्तीय सभा के अध्यक्ष रहे।

तथापि उनका युगान्तरकारी योगदान ही लोक सभा के प्रथम अध्यक्ष के रूप में उनकी भूमिका थी। उनके लिए यह कार्य उसी समय निश्चित कर दिया गया था जब वह 1947 में संविधान सभा (विधायी) के अध्यक्ष चुने गए। उनका दृष्टिकोण था कि प्रजातंत्र की आत्मा वहां निहित होती है जहां प्रत्येक प्रश्न पर "मुक्त, स्पष्ट तथा पक्षपात-रहित चर्चा" हो, जो "आम जनता की दशा को सुधारने में सहायक हो और विश्व शान्ति पर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण दर्शानेवाली हो।"

मावलंकर ने शीघ्र ही इस बात को समझ लिया कि लोक सभा, जो लोगों की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती है, की भूमिका उन पहली विधान सभाओं से भिन्न है जिनका मुख्य उद्देश्य स्वतंत्रता प्राप्त करना था। जब वे लोक सभा के अध्यक्ष बने तो उन्होंने इस भूमिका के परिवर्तन पर बल दिया। यह बताते हुए कि "विदेशी शासन का अंत होने पर विचारधाराओं में विशद परिवर्तन हो गया है," मावलंकर ने सभा में अपने साथियों से यह आग्रह किया कि वे संसदीय वाद-विवाद के परमावश्यक नियमों का पालन करें। उन्होंने कहा कि "प्रत्येक सदस्य को अपने विचारों को व्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। साथ ही वह यह भी याद रखे कि प्रत्येक दूसरे सदस्य को भी वही स्वतंत्रता प्राप्त है।" उन्होंने कहा कि "दिलेरी, परस्पर सद्भावना और सम्मान" के वातावरण की जरूरत है जो कि वाद-विवादों को लाभदायक बनाने के लिए अति आवश्यक है। चार दशक बीत जाने के बाद आज भी ये विचार उतने ही संगत दीखते हैं जब कभी लोक सभा की कार्यवाही को भावना प्रधान हो जाने के कारण स्थगित करना पड़ता है, क्योंकि वातावरण में उत्तेजना के कारण कार्यवाही ही नहीं चलायी जा सकती।

प्रारंभ से ही मावलंकर ने परंपराओं के महत्व पर बल दिया। वह कहते थे कि सदस्यों में "अनुशासन का होना आवश्यक है जिससे वे न केवल नियमों और विनियमों को ही बल्कि संसदीय वाद-विवाद की उन अनगिनत परंपराओं का भी सम्मान करेंगे जिनमें से प्रत्येक परंपरा नियम और विनियम का विषय नहीं हो सकती।" ब्रिटिश हाउस ऑफ कामन्स के नियमों और विनियमों का सम्मान करते हुए मावलंकर ने बड़ी साधवानी से इस बात पर बल दिया था कि हमें भी अपने नियम और विनियम बनाने होंगे। ब्रिटिश संसदीय परंपराओं के बारे में मावलंकर ने यह महसूस किया था कि "जिस हद तक उनका संबंध सामान्य मानव प्रकृति से है वे पूर्वोदाहरण के रूप में लाभदायक होंगे, परंतु अन्य ब्रिटिश परंपराओं पर भिन्न रूप से विचार करना होगा। यह हमारे ऊपर निर्भर होगा कि हम अपनी परंपराओं

को अपने राष्ट्रीय चरित्र, प्रतिभा, इतिहास और संस्कृति की पृष्ठभूमि में तैयार करें।"

लोक सभा के प्रथम अध्यक्ष के रूप में उन्हें जो इतना अधिक सम्मान मिला वह उन परंपराओं के कारण मिला जो सभा की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने कायम कीं। वे बहुत कम बोलते थे और फिर भी उनकी एक दृष्टि मात्र ही एक अनुशासनहीन सदस्य को शांत करने के लिए काफी होती थी, और इसमें पंडित जवाहर लाल नेहरू ने भी मदद की तथा उन दोनों के समय उन कठिन प्रारंभिक वर्षों में संसदीय प्रजातंत्र की सुदृढ़ नींव रखी गयी।

मावलंकर चाहते थे कि कांग्रेस पार्टी इस परंपरा का सम्मान करे कि पदधारी अध्यक्ष को यह आश्वासन दिया जाये कि उनकी संसदीय सीट एक परंपरा के रूप में उनकी होगी। इससे वह किसी भी ऐसी चिंता से मुक्त रहेंगे कि पता नहीं उन्हें अगले चुनाव में पार्टी का टिकट मिले या न मिले और इससे वह पूर्णनिष्ठा से अपने कर्तव्य का निर्वहन कर सकेंगे। वह यह सुनिश्चित करने के लिए भी सतर्क थे कि विधानमंडल सचिवालय अध्यक्ष के अधीन एक स्वतंत्र संस्था के रूप में बनाया गया है। उन्होंने देर रात तक सत्र चलाने का भी विरोध किया था, क्योंकि उनका कहना था कि इससे सचिवालय पर कार्य का अधिक भार पड़ता है, जो न्याय-संगत नहीं है। उन्होंने यह भी सुनिश्चित किया कि राज्य विधानमंडलों में एक मंत्री को प्राक्कलन समिति का सभापति बनाने की प्रथा समाप्त कर दी जाये और उसके बदले किसी सदस्य को उसका सभापति बनाया जाये। सरकार के कार्यकरण की निगरानी करने के लिए संसदीय समिति प्रणाली स्थापित करने का काफी श्रेय हमारी संसद के प्रारंभिक वर्षों में उनके नेतृत्व को जाता है।

इस महान व्यक्ति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषताएं उनकी स्वतंत्रता, साहस और अपने आप में विश्वास था जिन्होंने उन्हें लोक सभा की अध्यक्षता की महान परंपराएं कायम करने में सहायता की। एक बार उन्हें इस बात की जानकारी मिली कि एक विपक्षी सदस्य द्वारा पूछे गये कतिपय प्रश्नों के उत्तर देने में असामान्य विलम्ब किया जा रहा है, क्योंकि वे किसी केबिनेट स्तर के मंत्री के किसी संदेहास्पद सौदे से संबंधित हैं। उन्होंने इस बात की सार्वजनिक रूप से घोषणा कर दी और इससे इस प्रकार की बात समाप्त हो गयी। इस प्रकार उन्होंने किसी सदस्य के किसी प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के अधिकार को सुनिश्चित किया, चाहे वह प्रश्न सरकार के लिए परेशानी पैदा करने वाला ही क्यों न हो। मावलंकर ने अपने बाद आने वाले अध्यक्षों के लिए इस महान परंपरा में उनका अनुसरण करने हेतु कानून निर्धारित

किया है । उनके अपने ही शब्दों में "संसदीय प्रजातंत्र की सफलता न केवल इस बात पर निर्भर करती है कि पीठासीन अधिकारी अर्थात् अध्यक्ष कितनी निष्पक्षता बरतता है बल्कि इस बात पर भी निर्भर करती है कि वह कार्यकारिणी सरकार की ओर से दिखायी जाने वाली प्रसन्नता एवं अप्रसन्नता के प्रति कितनी उदासीनता बरतता है ।" उस एक वाक्य में, जो किसी संस्था के लिए एक आचार संहिता है, उन्होंने उसे लोक सम्मान दिलाने के लिए बहुत कुछ किया ।

Shri G.V. Mavalankar at work at his official residence 20, Akbar Road, 1940.

Shri G.V. Mavalankar working at his desk in the Speaker's Chamber, Parliament House.

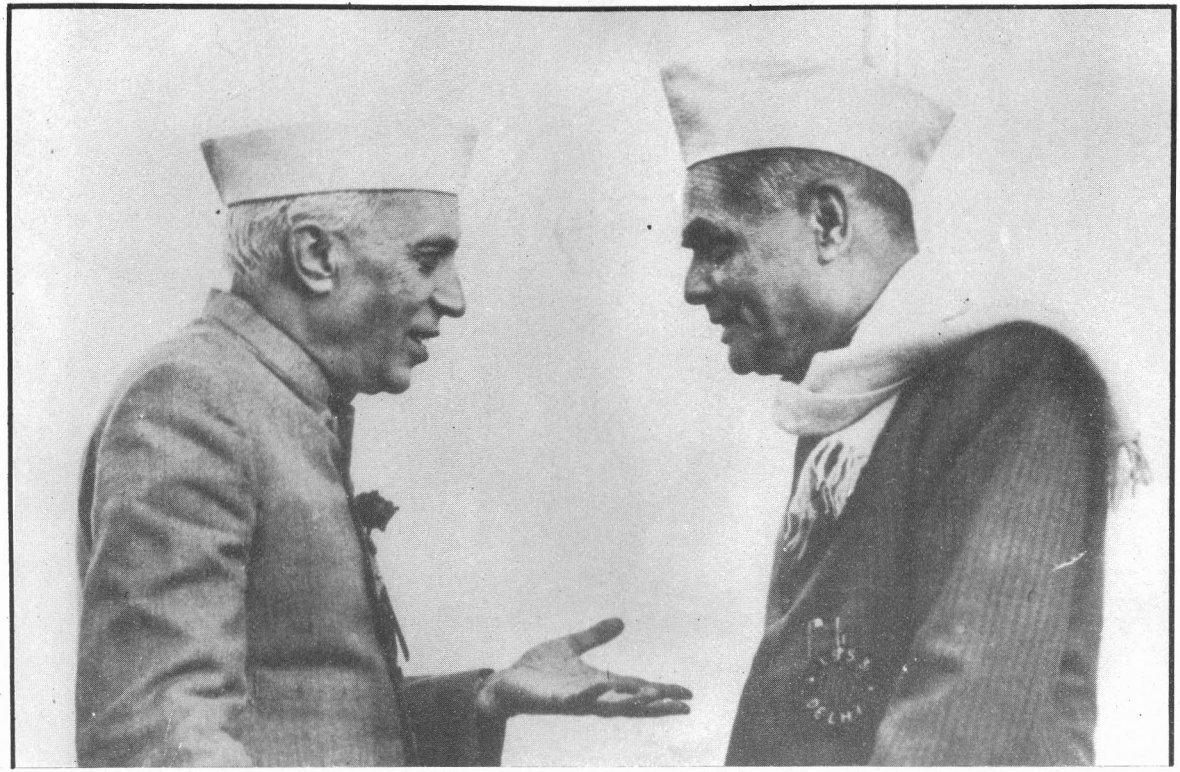

Shri G.V. Mavalankar with Prime Minister Nehru at the All India Military and Rifles Training Association Meeting in New Delhi.

Shri G.V. Mavalankar with Dr. Radhakrishnan and Mrs. Mavalankar.

Shri G.V. Mavalankar on the occassion of a foundation stone laying ceremony at Kapadwanj Railway Station in Gujarat.

Shri G.V. Mavalankar welcoming Lord and Lady Stansgate, formerly Col. Wedgewood Benn, Labour M.P. who visited India in his capacity as President of the Inter-Parliamentary Union, November 1955.

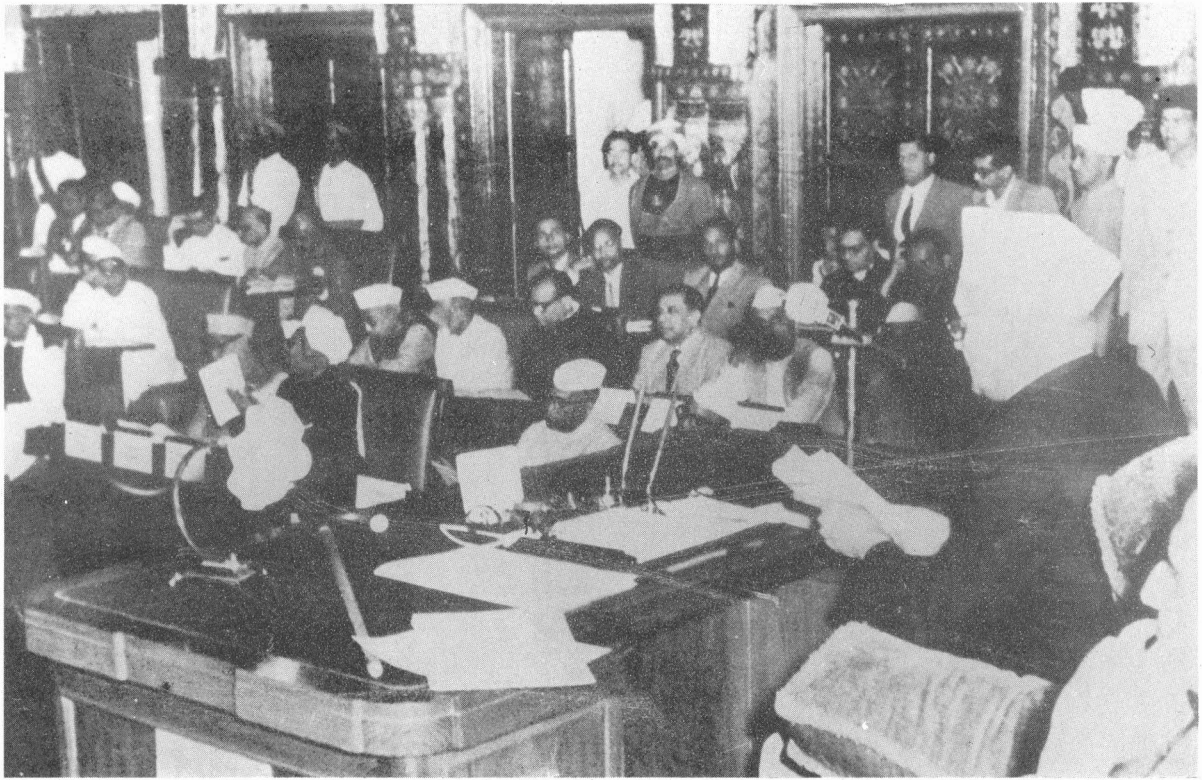

Presiding Officers' Conference at Srinagar in Session, June, 1954.

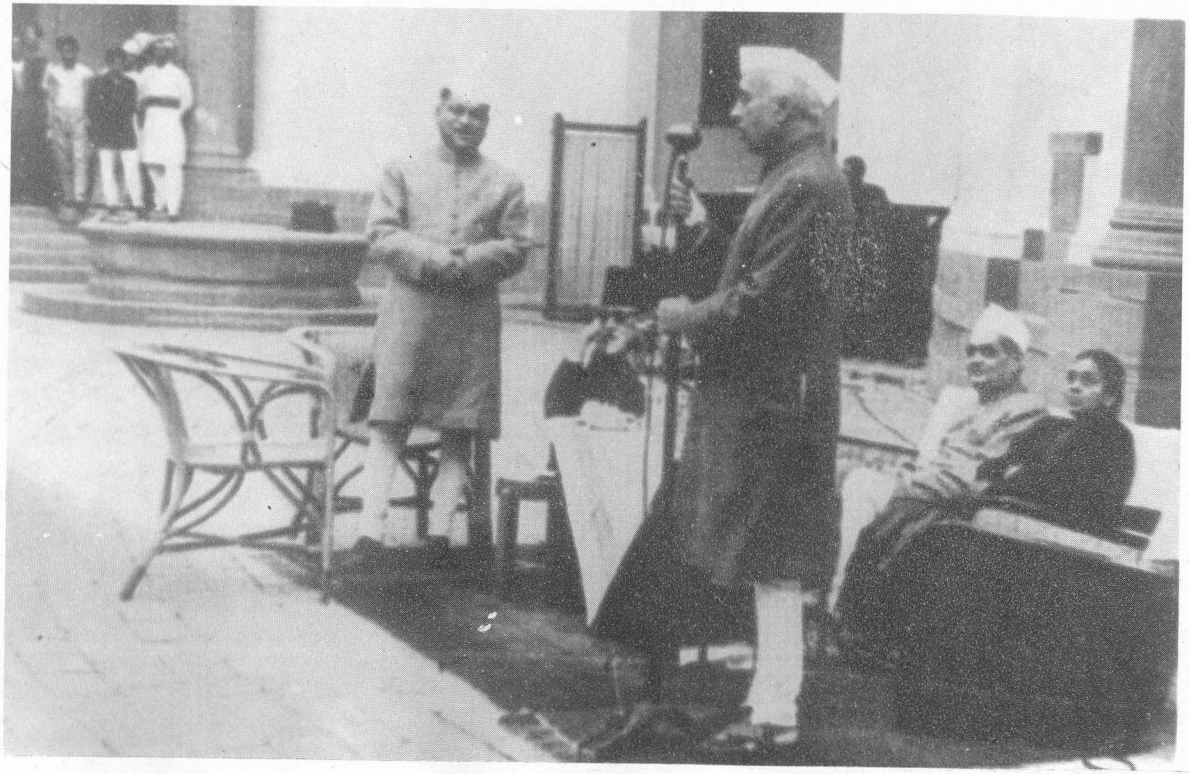

Prime Minister Nehru felicitating Shri Mavalankar at a function in Parliament House. Also seen in the picture are Shri Satyanarayan Sinha, Maulana Azad and Mrs. Mavalankar.

गणेश वासुदेव मावलंकर स्वतंत्र भारत के प्रथम अध्यक्ष

□□फ्रैंक एन्थनी*

स्वर्गीय लोक सभा अध्यक्ष श्री गणेश वासुदेव मावलंकर की जन्म शताब्दी के अवसर पर इस पुस्तिका में यह लेख देते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है। मैं संभवतः लोक सभा के उन कुछ एक सदस्यों में हूं जो दादा साहेब (जिस नाम से वह जाने जाते थे) की अध्यक्षता के दौरान पूरी अवधि तक केंद्रीय विधान मंडल के सदस्य रहे। मैं 1942 से केंद्रीय विधान सभा(तत्कालीन नाम)का सदस्य था। यह अवधि स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व की थी।

विख्यात सर्वतोमुखी प्रतिभा

यदि मैं अपने खुद के अनुभव से मावलंकर जी के विख्यात नेतृत्व का वर्णन करूं तो उनका जीवन प्रख्यात तथा सर्वतोमुखी रहा है। वह कई वर्षों तक विख्यात वकील रहे थे। वह 1919 से लेकर 1930 तक अहमदाबाद नगरपालिका के एक काफी लंबे समय तक कर्मठ सदस्य बने रहे और 1930 में उसके अध्यक्ष बने। वह नवम्बर, 1933 तक अहमदाबाद नगरपालिका के अध्यक्ष बने रहे और उन्हें 1935-36 के लिए दोबारा नगरपालिका का अध्यक्ष चुना गया। जुलाई, 1937 में उन्हें बंबई असेम्बली का अध्यक्ष चुना गया और 1940 तक वह उस पद पर बने रहे। 1946 में वह केंद्रीय विधान सभा के अध्यक्ष बन गये। केंद्र में

* श्री एन्थनी संसद के एक वरिष्ठ सदस्य हैं और लोक सभा में उनका कार्यकाल सबसे अधिक है।

अध्यक्ष बनने से पूर्व की अवधि में उन्होंने शैक्षिक तथा सामाजिक गतिविधियों में एक सर्वतोमुखी तथा प्रायः निर्णायक भूमिका अदा की।

मावलंकर जी 24 जनवरी, 1946 को केंद्रीय विधान सभा के अध्यक्ष चुने गये। वह अगस्त, 1947 तक उस पद पर बने रहे जब भारत स्वतंत्र हुआ। नवम्बर, 1947 में वह संविधान सभा (विधायी) के अध्यक्ष चुने गये जब इस पद के लिए पहली बार 'अध्यक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया। इस प्रकार वह भारतीय संसद के प्रथम अध्यक्ष थे। 1950 में वह अस्थायी संसद के अध्यक्ष बने जिसका कार्यकाल 1952 के आम चुनावों तक रहा। 15 मई, 1952 को वह हाउस ऑफ दि पीपल (लोक सभा) के प्रथम अध्यक्ष चुने गये जिस महान् पद पर वह 27 फरवरी, 1956 अर्थात् अपनी असामयिक मृत्यु तक बने रहे।

कठोर हुए बिना दृढ़ बने रहना

प्रथमतः मावलंकर जी कठोर हुए बिना दृढ़ बने रहते थे। किसी भी सदस्य को, जब अध्यक्ष महोदय बोल रहे हों, चिल्लाने, चीखने, खड़े होकर अनुपयुक्त ढंग से जान-बूझकर इस तरह का व्यवहार करने की अनुमति नहीं दी जाती थी। मावलंकर जी को यदा-कदा ही नहीं, कई बार एक असुधार्य गैर-जिम्मेदार सदस्य को सभा से हटवाना पड़ा था।

कानूनी मामलों पर कार्यवाही करते समय अथवा विनिर्णय देते समय वह संक्षिप्त परंतु तीक्ष्ण और स्पष्ट होते थे। शालीनता, उपर्युक्त अनुशासन, व्यवहा-रौचित्य, अध्यक्षपीठ तथा बोलने वाले सदस्य के बीच न आना, निश्चित रूप से सभा के कूप में न बैठना, उस समय की आम बात थी; विनिश्चय के बारे में अध्यक्ष-पीठ की बात ही सर्वोपरि होती थी और सदस्य द्वारा अध्यक्ष से अधिक होशियार बनने का प्रयास सहन नहीं किया जाता था।

वाद-विवाद का सर्वोत्तम स्तर

वाद-विवाद का स्तर आज की तुलना में उस समय बहुत ऊंचा था। मावलंकर जी का सबसे महत्वपूर्ण तरीका यह था कि वह किसी सदस्य को घिसे-पिटे तरीके या किसी ग्रुप की संख्या के अनुसार या क्रम को देखकर या किसी यंत्रवत तरीके से किसी सदस्य से बोलने के लिए नहीं कहते थे। विपक्ष में से बोलने के लिए वह ऐसे सदस्य को कहते थे जिसे वह विचाराधीन विषय में अत्यधिक सुविज्ञ समझते थे और यह समझते थे कि वह सदस्य उस विषय पर वाद-विवाद को बहुत अधिक तत्वपूर्ण बनायेगा। यद्यपि मैं नाम-निर्दिष्ट और निर्दलीय और स्वतंत्र सदस्य था

लेकिन विपक्ष से बोलने के लिए पहले सदस्य के रूप में मेरा नाम ही पुकारा जाता था। मुझे बहुत अच्छी तरह याद है कि वे विपक्ष में सबसे पीछे बैठने वाले एक निर्दलीय सदस्य (जहां तक मुझे याद है उनका नाम पटनायक था) को बोलने के लिए कहते थे क्योंकि रक्षा संबंधी मामलों पर वह गंभीर और जानकारी पूर्ण भाषण देते थे।

यद्यपि मैं नाम-निर्दिष्ट सदस्य था लेकिन मैं हमेशा निर्दलीय सदस्य के रूप में वर्षों तक प्रथम पंक्ति में बैठता रहा, क्योंकि मैं अखिल भारतीय एंग्लो-इंडियन एसोसिएशन का निर्वाचित प्रधान अध्यक्ष था और हूं और यह एसोसिएशन आंग्ल-भारतीय समुदाय की उत्कृष्ट और एकमात्र संगठित संस्था थी और है जिसकी देश-भर में शाखाएं फैली हुई हैं और जो इस समूचे समुदाय की ओर से और उसके लिए बोल सकने की स्थिति में थी और है और इसी संस्था का चुना हुआ प्रतिनिधि होने की वजह से मुझे यह विशेषाधिकार मिला हुआ था। यद्यपि मैं नाम-निर्दिष्ट सदस्य था परंतु मैं सरकारी संकल्पों पर सरकार के विरुद्ध बोलता था और जहां मुझे यकीन होता था वहां ऐसे संकल्पों के विरुद्ध मतदान भी करता था।

राष्ट्रमंडल सम्मेलन

एक अन्य मामला आज भी मेरी स्मृति में ताजा है। मावलंकर जी ने मुझे अपने कक्ष में बुलाकर यह सूचना दी कि वह मुझे ब्रिटेन में 1948 में आयोजित राष्ट्रमंडल सम्मेलन में भारतीय शिष्टमंडल के एक प्रमुख सदस्य के रूप में शामिल करने की बात सोच रहे हैं। जो मुख्य बात मुझे आज भी याद है वह यह है कि उन्होंने मुझसे एक व्यक्तिगत-सा यह प्रश्न पूछा कि मैं कैसा लिबास पहनूंगा। मैंने उत्तर दिया कि मैं सदन के सभी सदस्यों में से अपने को सबसे अधिक अच्छी वेश-भूषा में रहने वाला सदस्य समझता हूं, लेकिन मैं एक आंग्ल-भारतीय जैसी वेश-भूषा में रहता हूं। इस पर उन्होंने मुझसे एक निश्चित प्रश्न पूछा कि एक विशिष्ट शासकीय समारोह पर क्या मैं बटनों वाला कोट पहनना चाहूंगा। इस पर मैंने उत्तर दिया कि ऐसा कोट मेरे पास नहीं है और साधारण समारोहों पर मैं टाई सहित सूट पहनूंगा तथा शासकीय समारोहों पर बो-सहित ड्रेस सूट पहनूंगा। इस पर मावलंकर जी का समाधान हो गया जिससे यह प्रदर्शित होता था कि उनके मन में कोई संकीर्ण पूर्वा-ग्रह नहीं है।

उनके सुपुत्र को पत्र

उनके सुपुत्र पुरुषोत्तम गणेश मावलंकर को 4 दिसम्बर, 1987 को एक पत्र लिखते हुए मैंने अन्य बातों के साथ-साथ यह भी लिखा था कि "लोक सभा की लगातार निर्बाध रूप से सबसे लंबी अवधि की सदस्यता को यदि देखा जाये तो मुझे वरिष्ठ-

तम सदस्य कहलाने का सौभाग्य प्राप्त है और इस बात का भी सौभाग्य प्राप्त है कि मैं आपके पिता की प्रतिष्ठित कार्यावधि के दौरान सदस्य रहा। तुलना करते हुए मैं कह सकता हूं कि संसदीय संस्थाओं का जो विकास हुआ वह आपके पिता के कार्यकाल में उनके उत्तराधिकारी अध्यक्षों के कार्यकाल की तुलना में काफी अधिक था।''

अपने पिता के प्रतिष्ठित अध्यक्षकाल के पश्चात उनके सुपुत्र लोक सभा के निर्दलीय सदस्य के रूप में निर्वाचित हुए और वह एक मुखर तथा अत्यधिक सम्मानित सदस्य सिद्ध हुए।

5

जी० वी० मावलंकर
उनका कार्य और आदर्श

—डी० बसुमतारी*

मैं भारत के महान सपूत श्री गणेश वासुदेव मावलंकर को उनकी जन्मशती के अवसर पर उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं। मावलंकर जी को सम्मानस्वरूप दादा साहेब भी कहा जाता था। वह सिद्धांतवादी और गुणवान व्यक्ति थे। वह सदा सच की खोज में रहते थे। वह कहा करते थे "सच ही ईश्वर है। अतः सदैव उसी रास्ते पर चलो जिसे तुम सच्चा समझते हो। अपनी अंतरात्मा को अपना मार्गदर्शक बनाओ।" मावलंकर जी जिस पद पर भी रहे उन्होंने मानवता को उसके दुःखों और विषादों से छुटकारा दिलाना ही सदैव अपना ध्येय माना।

जब मावलंकर जी वकालत के पेशे में थे, उन्होंने विधि को सभ्य समाज की असली जीवन-दायिनी माना। उनका विश्वास था कि वह कानून सर्वोत्तम कानून है जो न्याय और समानता के नैतिक मूल्यों की मजबूत नींव पर बना है। वकीलों की भूमिका के बारे में वह कहा करते थे, "वकील की सामाजिक ढांचे में एक विशेष जिम्मेवारी है। वह इस दायित्व का निर्वहन एक ऐसे एजेंट के रूप में करता है जिसकी न्यायिक-प्रशासनिक तंत्र में एक अहम भूमिका है।"

अहमदाबाद में वकालत करते हुए वह महात्मा गांधी के संपर्क में आये और यहीं से उनके जीवन में एक नया मोड़ आया। गांधी जी के आदर्शों से प्रेरित होकर मावलंकर जी सामाजिक और राजनीतिक कार्यों में लग गये। वह एक राजनीतिक संगठन 'गुजरात सभा' में सम्मिलित हो गये और 1916 में इसके सचिव बने। महात्मा गांधी के संपर्क में आने से उनकी जीवनधारा ही बदल गयी। उन्होंने 1921 में वकालत छोड़ दी और उसी वर्ष अहमदाबाद में कांग्रेस के हुए 36वें

* श्री बसुमतारी संसद के एक वरिष्ठ सदस्य हैं। वह अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों सम्बन्धी संसदीय समिति के सभापति भी रह चुके हैं।

अधिवेशन की स्वागत समिति के महासचिव चुने गये। श्री मावलंकर जी ने गांधी जी द्वारा स्थापित गुजरात विद्यापीठ में विधि के प्रोफेसर के रूप में भी अध्यापन किया।

गुजरात प्रांतीय कांग्रेस समिति के सचिव पद पर रहते हुए वह खादी की कताई और बुनाई तथा राष्ट्रीय शिक्षा आदि जैसे विभिन्न क्षेत्रों से सक्रिय रूप से जुड़े रहे।

कई वर्षों तक (1919 से 1937 तक) नगरपालिका के काम के प्रति समर्पित रहने के कारण उन्होंने देश के स्व-शासन में नगरपालिका के महत्व को समझा। राष्ट्र निर्माण के विराट कार्य में इसकी अनिवार्यता को मानते हुए उन्होंने नगर-पालिका को केवल नागरिक सुविधाएं प्रदान करने वाले एक निकाय के रूप में नहीं देखा अपितु नागरिकों को लोकतंत्र के प्रति रुझान पैदा करने तथा उन्हें स्वा-तंत्रयोत्तर दायित्वों को वहन करने और देश का शासन स्वयं चलाने के लिए तैयार करने की एक शिक्षास्थली माना। उनका विचार था कि प्रशासन का दृष्टिकोण अनिवार्यतः स्वराज्यवादी होना चाहिए तथा उसे प्रत्येक व्यक्ति की खुशहाली का ध्यान रखना चाहिए जिसका अभिप्राय है कि प्रशासन को सभी व्यक्तियों की नैतिक और भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए। उन्होंने उन 18 वर्षों के दौरान स्थानीय स्व-शासन के क्षेत्र में, सर्वप्रथम अहमदाबाद नगरपालिका के सदस्य के रूप में तदनुसार उसके अध्यक्ष के रूप में, अपना सर्वोत्तम योगदान दिया।

श्री मावलंकर ने भारत की स्वतंत्रता के लिए कुर्बानी दी। सविनय अवज्ञा आंदोलन में भाग लेने के लिए उन्हें 1930 में और 1933 में जेल भेजा गया। सत्याग्रह में भाग लेने के कारण श्री मावलंकर को 1940 में गिरफ्तार किया गया और साबरमती जेल में रखा गया। उन्हें 1941 में भारत सुरक्षा नियमों के तहत पुनः गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें अंततः मार्च, 1944 में रिहा कर दिया गया।

श्री मावलंकर के जीवन में एक बड़ा मोड़ तब आया जब वह बंबई विधान सभा के अध्यक्ष चुने गये। बंबई विधान सभा के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने जिस कुशलता से कार्य किया उसे देखते हुए उनका वर्ष 1946 में केंद्रीय विधान सभा का अध्यक्ष चुना जाना स्वाभाविक ही था। चुनाव में कड़ा मुकाबला हुआ परंतु सरकारी उम्मीदवार हार गया। जब भारत स्वतंत्र हुआ, तब श्री मावलंकर को 1946 में पुनः संविधान सभा (विधायी) का अध्यक्ष चुना गया। पंडित नेहरू ने उनके चुनाव पर उन्हें इन शब्दों में बधाई दी : "आप हमें उस उच्च पद पर प्राप्त अनुभवों से लाभान्वित करेंगे'''हमारा मार्गदर्शक एक सच्चा और विश्वसनीय

मार्गदर्शक है।" 1950 में जब भारत गणराज्य बना, वह पुनः अंतरिम संसद के अध्यक्ष बने। वह इस पद पर 1952 के आम चुनावों तक बने रहे। चुनावों के बाद श्री मावलंकर पुनः लोक सभा के अध्यक्ष बने।

अध्यक्ष के रूप में अपने दस वर्षों से अधिक के कार्यकाल के दौरान श्री मावलंकर ने संसद के गौरव और प्रतिष्ठा को बढ़ाया। उनका प्रक्रिया संबंधी उन नियमों को बनाने में बड़ा योगदान रहा है जिनके अंतर्गत अब संसद की कार्यवाही चलती है। उनकी दूरदर्शिता और कार्यपालिका पर संसदीय नियंत्रण के लिए उनका उत्साह इस तथ्य से स्पष्ट झलकता है कि उन्होंने प्राक्कलन समिति और लोक लेखा समिति जैसी समितियों के गठन के लिए संघर्ष किया जिसके फलस्वरूप तत्कालीन वित्त मंत्री को इनके गठन की आवश्यकता माननी पड़ी। 1921 में जब लोक लेखा समिति का गठन किया गया था तब यह पूर्णतया संसदीय समिति नहीं थी क्योंकि वित्त सदस्य इसका अध्यक्ष होता था। कालांतर में ये दोनों समितियां संसदीय समितियां बन गयीं और इनके सदस्य सभा द्वारा चुने जाने लगे। अन्य संसदीय समितियां भी श्री मावलंकर के अध्यक्ष के रूप में मिले नेतृत्व के दौरान गठित की गयीं।

अनुशासनप्रिय तथा निष्पक्ष अध्यक्ष होने के कारण उन्होंने लोक सभा में बड़ी सफलतापूर्वक एक मधुर लोकतांत्रिक और आदान-प्रदान का वातावरण बनाया। इससे उन्होंने सभा के सभी वर्गों को अपने कार्यों से न केवल संतुष्ट किया अपितु अपने कार्य में उन्हें खुद आनंद का अनुभव हुआ। एक महान संसदविज्ञ के रूप में वे सदस्यों को सदैव इस बात के लिए प्रोत्साहित किया करते थे कि उन्हें केवल प्रकिया आदि में ही अपना सर नहीं खपाना चाहिए अपितु विषय-वस्तु को समझने और स्वस्थ परंपराओं को विकसित करने में सहायता करनी चाहिए। उन्होंने प्रश्नकाल का विधायिका और कार्यपालिका के बीच मधुर संबंध बनाये रखने हेतु एक महत्व-पूर्ण साधन के रूप में प्रयोग किया। उनके अनुसार सभी पीठासीन अधिकारियों का यह सुनिश्चित करना कर्तव्य है कि प्रश्नों का शीघ्रता से पूर्ण और ईमानदारीपूर्वक उत्तर दिया जाये। स्थगन प्रस्ताव, ध्यानाकर्षण और आधे घंटे की चर्चा की जरूरत का विश्लेषण करते हुए उन्होंने सदस्यों के लिए इन्हें सूचना प्राप्त करने का अथवा अपनी शिकायतें बताने का अथवा विभिन्न विषयों पर अपनी भावनाओं को व्यक्त करने का एक साधन समझा।

लोक सभा सचिवालय की स्वायत्तता बनाये रखने में भी श्री मावलंकर का योग-दान सराहनीय है। उनके दिल में कर्मचारियों के प्रति अगाध प्यार था। 1954 में सचिवालय की रजत जयंती के अवसर पर उन्होंने कहा था : "लोक सभा में काम करने वाले प्रत्येक कर्मचारी को मैं यह आश्वासन दे सकता हूं कि वह मेरा सहयोगी

है और अध्यक्ष में जो भी यो यता है, वह वास्तव में संपूर्ण सचिवालय की योग्यता है।"

मावलंकर जी ने अपना सारा जीवन समाज कल्याण के कार्यों में लगा दिया। भारतीय समाज की परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने राष्ट्र निर्माण और राष्ट्र पुनरुद्धार की सभी योजनाओं में ग्रामीण क्षेत्रों को शामिल करना एक आधारभूत आवश्यकता समझा। गांधी स्मारक निधि और कस्तूरबा गांधी स्मारक ट्रस्ट के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने इन ट्रस्टों को महिलाओं और वच्चों की शिक्षा एवं कल्याण का और हरिजनों के उत्थान का एवं ग्रामोद्योग के विकास का माध्यम बना दिया।

श्री मावलंकर भारत में संसदीय लोकतंत्र के विकास में अपने योगदान के लिए विश्व भर में जाने जाते थे। उन्होंने 1948 और 1952 में क्रमशः इंग्लैंड और कनाडा में हुए राष्ट्रमंडल संसदीय सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व किया। उन्होंने नये ब्रिटिश हाउस ऑफ कामन्स के उद्घाटन समारोह में तथा 1950 में लंदन में हुए राष्ट्रमंडल अध्यक्ष सम्मेलन में भाग लिया। 1953 में उन्होंने महारानी एलिजाबेथ द्वितीय के राज्याभिषेक समारोह में भाग लिया। उन्हें जनवरी, 1956 के आरंभ में जमैका में होने वाले राष्ट्रमंडल संसदीय सम्मेलन में भाग लेने जाना था परंतु डाक्टरी सलाह के कारण उन्होंने इस विचार को छोड़ दिया। तथापि, जनवरी, 1956 में उक्त सम्मेलन में कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी एसोसिएशन की जनरल काउन्सिल के चेयरमैन के रूप में श्री मावलंकर के चुनाव से भारत को काफी सम्मान मिला। उक्त एसोसिएशन के इतिहास में पहली बार जनरल काउन्सिल का अध्यक्ष एक एशियाई चुना गया था।

श्री मावलंकर ने विधानमंडलों के पीठासीन अधिकारियों के सम्मेलनों की कई वर्षों तक अध्यक्षता की। उन्होंने देश के सारे विधानमंडलों के लिए एक-समान प्रक्रिया तथा कार्य संचालन नियम बनाने में सहायता की। उन्होंने पीठासीन अधिकारियों के सम्मेलन को लोकतंत्र की विभिन्न समस्याओं पर चर्चा करने तथा विचारों के आदान-प्रदान करने का अच्छा मंच समझा। उन्होंने भारत में लोकतंत्र के विकास के लिए समान विचारों तथा चर्चा के माध्यम से सर्वथा उपयुक्त परंपराओं का निर्माण करने के लिए इसे एक मंच का रूप देने का प्रयास किया। उनका मत था: "इन सम्मेलनों से हमें देश की सेवा में परस्पर सहयोग हेतु व्यक्तिगत संपर्क बनाने का अवसर मिलता है और इनसे हमें अपना कर्तव्य और कुशलता से निर्वहन करने में सहायता मिलेगी।"

भारत के इस महान सपूत का 27 फरवरी, 1956 को निधन हो गया। श्री मावलंकर का इतना अधिक सम्मान किया जाता था कि उसी दिन लोक सभा में उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए पंडित नेहरू ने कहा कि वह केवल प्रथम अध्यक्ष ही नहीं थे अपितु लोक सभा के जनक थे और उनका नाम लोक सभा और संसद के साथ "एक लंबे समय तक एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जुड़ा रहेगा जिसने इसे एक शक्ल और दिशा दी तथा इस पर अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ी।"

6

दादा साहेब मावलंकर

—एस० एल० शकधर*

श्री जी० वी० मावलंकर, लोक सभा के प्रथम अध्यक्ष, एक बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। वे न केवल एक सर्वोत्कृष्ट व्यक्ति, अपितु एक सफल अधिवक्ता, अग्रणी सांसद, राजनैतिज्ञ और एक महान अध्यक्ष थे। वे एक कुशाग्र बुद्धि के व्यक्ति थे जो अपने समक्ष प्रस्तुत प्रत्येक प्रस्ताव में गहरी रुचि लेते थे और उसके औचित्य के बारे में आश्वस्त होने पर उसे पारित करवाने में अपना अबाध समर्थन देते थे जिसके परिणामस्वरूप प्रक्रिया में अत्यंत अल्प समय में सहज ही काफी सुधार और परिवर्तन हुए। लोगों के प्रति व्यवहार का उनका एक विलक्षण ढंग था। अपने स्वप्नों के नूतन भारत के निर्माण की गहरी इच्छा से अभिभूत हो उन्होंने समाज सेवा में अपना संपूर्ण जीवन अर्पण कर दिया।

जब संविधान सभा नये संविधान पर विचार-विमर्श कर रही थी, नेहरू, पटेल और डॉ० अम्बेडकर अध्यक्ष मावलंकर के साथ समीप का संपर्क बनाये रहे और उन्होंने संसद संबंधी उपबंधों पर उनके परामर्श को सम्मान दिया। दादा साहेब ने संविधान सभा (विधायी) के तत्कालीन सचिव श्री एम० एन० कौल के साथ मिलकर राष्ट्रपति के अभिभाषणों, अध्यादेशों, पीठासीन अधिकारियों, संसद के सचिवालयों संबंधी उपबंधों, संसद के प्राधिकार द्वारा कराधान और विनियोग जैसे वित्तीय उपबंधों तथा विधि तथा संबंधित उपबंधों के बारे में सुझाव दिया। संविधान सभा की प्रारूपण समिति ने इन सभी सुझावों को स्वीकार कर उन्हें अनुमोदित कर दिया। ये आज हमारे संविधान का महत्वपूर्ण भाग बन गये हैं।

* श्री शकधर लोक सभा के भूतपूर्व महासचिव, भूतपूर्व मुख्य निर्वाचन आयुक्त और सदन के अवैतनिक अधिकारी हैं।

अध्यक्ष मावलंकर, जिन्हें भारत के हाउस ऑफ पीपल्स (लोक सभा) के आरंभिक वर्षों में अध्यक्षता करने का सम्मान प्राप्त है, एक महान अध्यक्ष थे, पंडित नेहरू के शब्दों में एक जन्मजात अध्यक्ष थे। उनकी ईमानदारी एवं निष्पक्षता असंदिग्ध थी। उनके विनिर्णय सुस्पष्ट और सुनिश्चित होते थे और वे सही प्रक्रिया पर बल देते थे। उन्होंने सर्वदा संसदीय मर्यादा को साकार किया और उनके शब्द सर्वदा संसदीय प्रक्रिया की मूलभूत गंभीरता और उसके सही संचालन की भावना से अभिप्रेरित होते थे। पंडित नेहरू हमेशा इस तथ्य के प्रति सजग रहते थे कि एक स्वस्थ, सफल और स्थायी संसदीय पद्धति के लिए यह आवश्यक है कि अध्यक्ष एक सत्यनिष्ठ एवं दूरदर्शी व्यक्ति हो। हमारा सौभाग्य था कि उन्होंने श्री मावलंकर को लोक सभा का प्रथम अध्यक्ष चुना। पंडित नेहरू श्री मावलंकर की सत्यनिष्ठता एवं कार्य कुशलता के प्रति आश्वस्त थे कि वे सभा के कुशल कार्यचालन और जनता के हित में विनिर्णय और विपक्षी दलों के बीच सही संतुलन बनाये रखने में सक्षम होंगे। भारत के एक स्वाधीन राष्ट्र के आविर्भाव के विकास काल में अध्यक्ष मावलंकर ने संसदीय लोकतंत्र की अनेक परंपराएं निर्मित की। उनके अध्यक्ष काल के दौरान सदन की कार्यवाही में स्थायित्व आया और सदन का संचालन सहज और सुव्यवस्थित हो गया।

श्री जी० वी० मावलंकर संसदीय प्रक्रियाओं, उदाहरणार्थ एक सदन के सदस्य का दूसरे सदन के विशेषाधिकार भंग का मामला, में कभी नहीं हिचकिचाये। लोक सभा के सदस्य श्री एन० सी० चटर्जी ने शिमला में एक भाषण में राज्य सभा के सदस्य के विरुद्ध कुछ अपमानजनक शब्दों का प्रयोग किया। राज्य सभा के सभापति ने उन्हें अवमानना सूचना जारी की, जो लोक सभा में विशेषाधिकार सम्बन्धी कार्यवाही का भाग बनी। प्रधान मन्त्री नेहरू ने सदन में यह सुझाव दिया कि दोषी सदस्य को दूसरे सदन के सभापति से क्षमा-याचना कर लेनी चाहिए और मामले को समाप्त कर दिया जाये। सदन के सदस्य काफी उत्तेजित थे और अध्यक्ष मावलंकर को तनावग्रस्त सभा में विनिर्णय देने के लिए कहा गया। यदि कोई कमजोर पीठासीन अधिकारी होता तो वह इस गतिरोध से निकलने के लिए प्रधान मंत्री के सुझाव को स्वीकार कर लेता किंतु अध्यक्ष मावलंकर ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने तत्काल एक विनिर्णय दिया कि वे सदस्य को क्षमा-याचना की सलाह नहीं देंगे क्योंकि इसका अर्थ होगा दूसरे सदन के समक्ष लोक सभा के क्षेत्राधिकार का समर्पण और लोक सभा के अध्यक्ष के नाते वे ऐसा कभी नहीं करेंगे। बाद में अध्यक्ष के पक्ष को पंडित नेहरू ने भी सही माना। श्री मावलंकर ने स्वस्थ परंपराओं की स्थापना की थी और अब हमारे पास इन सभी विवादों को सुलझाने हेतु स्पष्ट निर्धारित मार्गदर्शी सिद्धांत पर आधारित एक ठोस प्रक्रिया है।

यदि प्रकृति ने उन्हें कार्यकारी की स्थिति में स्थापित किया होता तो मैं कह नहीं सकता कि उन्होंने किन ऊंचाइयों को प्राप्त किया होता। दादा साहेब एक प्रशासक के रूप में इस बात से परिचित थे कि अधिकारों का प्रत्यायोजन कैसे किया जाता है तथा उन्होंने अपने अधीनस्थों के विवेकाधिकारों में हस्तक्षेप नहीं किया। अपने अध्यक्षकाल के दौरान उन्होंने एक भी व्यक्ति की नियुक्ति की सिफारिश नहीं की। उन्होंने सर्वदा अपने सलाहकारों को विश्वासपात्र समझा और इस बात को सार्वजनिक रूप से भी कहा। उनके व्यक्तित्व का समूचे सचिवालय में इतना गहरा प्रभाव था कि किसी भी स्तर के किसी भी व्यक्ति ने स्तरहीन कार्य करने के बारे में कभी कल्पना भी नहीं की। प्रत्येक व्यक्ति यह महसूस करता था कि यदि दादा साहेब द्वारा उसके कार्य को गलत बताया गया तो उसकी स्थिति क्या होगी। इस प्रकार वे अपने आचरण और चरित्र से अपने प्रति सबमें सम्मान और भय अभिप्रेरित करते थे और जो भी उनके सम्पर्क में आता, उसमें सत्यनिष्ठा, अनुशासन एवं निष्पक्षता की भावना भरते थे। इसके परिणामस्वरूप सचिवालय में कर्तव्यनिष्ठा एवं उच्च स्तर की कार्य कुशलता सर्वत्र विद्यमान थी। दादा साहेब सर्वदा अपना कार्य तत्काल निपटा देते थे और उनके पास कोई भी मामला एक दिन से अधिक समय तक नहीं पड़ा रहता था। अपने निरपेक्ष दृष्टिकोण के कारण उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि वे गलती नहीं कर सकते। वे तर्क करते थे, दूसरों को धैर्य से सुनते थे और अपने विचारों में कोई परिवर्तन तभी करते थे जब उन्हें यह विश्वास हो जाता था कि ऐसा करना सही है।

वे प्रशासन के विकेन्द्रीकरण के प्रबल समर्थक थे और उसे राष्ट्र-निर्माण का आधार स्तम्भ समझते थे। वे प्रायः कहा करते कि एक केन्द्रीय मंत्री के लिए नगर प्रशासन और राज्य प्रशासन से गुजरना आवश्यक है ताकि वे स्थानीय समस्याओं की नब्ज को समझकर स्थानीय आवश्यकताओं और केन्द्रीय मांगों में समन्वय ला सकें। उनकी राय में प्रशासनिक तकनीक, उसकी कमियों और सशक्त बिन्दुओं की स्पष्ट पकड़ के कारण ही धीरे-धीरे सुधारों को प्रभावी ढंग से लागू किया जा सकता है। एक दिन एक युवक ने, जिसे हाल में ही मन्त्री के पद पर नियुक्त किया गया था, उनके साथ कुछ आमूलचूल उपायों पर चर्चा की जिन्हें वह पद-भार संभालने के बाद लागू करना चाहता था। दादा साहेब ने यह समझते हुए कि उसका दृष्टिकोण एक शान्त, धीर, गम्भीर एवं परिपक्व व्यक्ति का न होकर एक उत्साहित व्यक्ति का था, उत्तर दिया: "इस प्रशासनिक तन्त्र ने भूतकाल के सभी प्रशासकों को मात दी है और किसी भी प्रशासक ने अभी तक इस पर विजय प्राप्त नहीं की है।" बाद में पता चला कि संबद्ध मन्त्री अपने विचारित सुधारों को लागू नहीं कर सका। अपितु अपने इर्द-गिर्द की परिस्थितियों का शिकार हो गया और अन्ततः वह पूरी तरह असफल सिद्ध हुआ।

दादा साहेब अनिवार्यतः एक ऐसे व्यक्ति थे जो मामलों को सुलह सफाई से निपटाने में विश्वास रखते थे किन्तु साथ ही वे अपने सिद्धांतों पर दृढ़ रहते थे। वे सिद्धांत और गैर-सिद्धांत के बीच भेद करना बखूबी जानते थे और एक बार निश्चय कर लेने के बाद उनका अपने पक्ष से डांवाडोल होने का प्रश्न ही नहीं उठता था। वे अपनी अन्तर्दृष्टि से अनुभव कर लेते थे कि किसी मामले विशेष में उन्हें क्या दृष्टिकोण अपनाना चाहिए और प्रायः वे सही होते थे। एक बार उन्होंने एक ज्वलन्त मामले पर प्रधान मन्त्री को एक पत्र लिखा और भेजने से पहले उन्होंने उसे सर्वदा की भांति लोक सभा के सचिव श्री एम० एन० कौल को दिखाया और श्री कौल ने मुझसे परामर्श किया। हम दोनों ने अनुभव किया कि पत्र को या तो भेजा नहीं जाना चाहिए अथवा उसमें उचित संशोधन किया जाना चाहिए, क्योंकि उनका चिन्तन वर्तमान दृष्टिकोण के विपरीत था। हमने मामले पर उनसे विचार-विमर्श किया और अपने तर्क प्रस्तुत किये। उन्होंने हमारी बात को धैर्य से सुना और कहा कि वे अपने इस विचार में बिल्कुल स्पष्ट है कि प्रधान मन्त्री को पत्र उसी रूप में जाना चाहिए। हमने उनकी आज्ञा का अनुपालन किया। प्रधान मन्त्री का तत्काल उत्तर आया कि वे न केवल दादा साहेब मावलंकर द्वारा प्रस्तावित दृष्टिकोण का अनुमोदन करते हैं अपितु उससे पूर्णतया सहमत हैं।

मुझे याद है एक बार पंडित नेहरू लोक सभा में अध्यक्ष मावलंकर से तब उलझ पड़े थे जब अध्यक्ष ने तत्कालीन नियमों के विपरीत एक ही दिन में उन्हें दूसरी बार वक्तव्य देने की अनुमति नहीं दी थी। पंडित नेहरू ने अध्यक्ष महोदय के दृढ़ विनिर्णय को स्वीकार कर लिया।

अध्यादेशों की उद्घोषणा जारी करने के विषय पर अध्यक्ष मावलंकर तथा प्रधान मंत्री नेहरू के बीच खूब पत्राचार हुआ था। श्री मावलंकर यह तीव्रता से अनुभव करते थे कि संसदीय पद्धति में कानून सदन में बनाये जाने चाहिएं, कार्यकारी आदेश द्वारा नहीं। उन्होंने कहा कि अध्यादेश जारी करने के सांविधिक अधिकार का चयनात्मक आधार पर केवल तभी प्रयोग किया जाये जब वस्तुतः इतनी तात्कालिकता हो कि मामले पर अगले सत्र तक प्रतीक्षा न की जा सकती हो। वह संसदीय शक्ति के विकल्प के रूप में इस शक्ति के प्रयोग को ठीक नहीं समझते थे। ऐसा हमेशा हुआ कि जब कोई अध्यादेश जारी किया गया, अध्यक्ष मावलंकर ने तुरंत प्रधान मन्त्री को लिखा और कहा कि इसकी कोई तात्कालिक आवश्यकता नहीं है। एक बार अध्यक्ष मावलंकर इस मामले पर इतने नाराज हुए कि वह सत्रावसान करने पर सहमत नहीं हुए ताकि सरकार के पास अध्यादेश जारी करने का कानूनी अधिकार न रहे। इससे प्रधान मंत्री नेहरू जरूर व्यग्र रहे होंगे, क्योंकि जब भी कोई मंत्रालय कोई अध्यादेश जारी

करने का प्रस्ताव करता था तो वह उसको वापस कर देते थे। इससे यह पता चलता है कि अध्यक्ष के प्रति नेहरू जी के मन में कितना गहन आदर था क्योंकि उन्होंने अध्यादेश जारी करने की स्थिति होने के बावजूद अपनी इस शक्ति का उपयोग नहीं किया। वह सदन में मामले पर चर्चा करने के लिए सहमत हो जाते थे। सरकार ने स्पष्ट रूप से इस बात पर जोर दिया कि केवल वह ही इस बात का फैसला कर सकती है कि क्या अध्यादेश जारी करना जरूरी है और इसे कब जारी किया जाये। न्यायालय भी इस तर्क के पक्ष में थे। परंतु नेहरू जी ने महसूस किया कि कानूनी और समर्थकारी शक्ति एक बात है और इसे लोकतांत्रिक तरीके से प्रयोग करना दूसरी बात है। वह दूसरी बात पर विश्वास करते थे। प्रधान मंत्री नेहरू इस बात को समझते थे कि सरकार को विवेकहीन तरीके से काम करने से रोकने के मामले में अध्यक्ष मावलंकर ठीक हैं। ये ऐसी छोटी-छोटी बातें हैं जो व्यवस्था को बल देती हैं और संस्थाओं को स्थायित्व प्रदान करती हैं।

पंडित नेहरू ने आरंभ से ही सदन के सचिवालय का प्रशासन चलाने के अध्यक्ष के अधिकार को स्वीकार किया था। अन्य देशों के विपरीत अध्यक्ष का यह पूर्ण अधिकार भारत के लिए अद्वितीय और अनोखा है। जब 15 अगस्त, 1947 को सेन्ट्रल लेजिस्लेटिव एसेम्बली भंग हो गयी थी, सेन्ट्रल एसेम्बली विभाग बना रहा। संविधान सभा के अध्यक्ष ने एक तर्क दिया था कि लेजिस्लेटिव एसेम्बली विभाग का विलय संविधान सभा के अस्थायी सचिवालय में कर दिया जाना चाहिए। जब श्री कौल ने पंडित नेहरू को बताया कि यदि लेजिस्लेटिव एसेम्बली विभाग के स्टाफ का विलय संविधान सभा के अस्थायी सचिवालय में किया जाता है तो विभाग का पृथक अस्तित्व समाप्त हो जायेगा, तो प्रधान मंत्री नेहरू ने यह आदेश जारी किया कि बेशक लेजिस्लेटिव एसेम्बली विभाग का स्टाफ संविधान सभा सचिवालय में काम करे, परन्तु इस मामले में संविधान सभा के प्रेजीडेन्ट द्वारा आदेश जारी करते समय इस बात को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि लेजिस्लेटिव एसेम्बली विभाग की पृथक पहिचान पर आंच न आये। यह व्यवस्था अगस्त से नवम्बर 1947 की अल्प अवधि तक रही। जब संविधान सभा (विधायी) का नवम्बर, 1947 में गठन हुआ, लेजिस्लेटिव एसेम्बली विभाग का नाम 1952 तक संसद सचिवालय (अनन्तिम) रखा गया। जब पहला आम चुनाव हुआ और दोनों सदन अस्तित्व में आये तो यह लोक सभा सचिवालय बना। शुरू-शुरू में केन्द्रीय सरकार के गृह और वित्त मंत्रालयों ने इस सचिवालय के स्वतंत्र स्वरूप पर आपत्ति की और यह प्रस्ताव किया कि संसद सचिवालय (अनन्तिम) के अधिकारियों और स्टाफ पर कार्यपालिका का प्रशासनिक नियंत्रण होना चाहिए और इन पर केन्द्रीय

सरकार द्वारा समय-समय पर जारी आदेश लागू होने चाहिएं। अध्यक्ष मावलंकर ने महसूस किया कि अध्यक्ष और विधान मंडल सचिवालय का स्वतंत्र स्वरूप न केवल उचित वाद विवाद, वाक् अभिव्यक्ति और स्वतंत्र रूप से मत अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है अपितु विधानमंडलों के वास्तविक लोकतांत्रिक निकायों के रूप में अस्तित्व के लिए भी आवश्यक है। उन्होंने एक कड़ा नोट लिखा और यह मत व्यक्त किया कि संसद का सचिवालय यदि सरकार और इसके अधिकारियों के अधीन काम करता है तो यह स्वतंत्र संसद के लिए अपमानजनक होगा। यह मामला सरदार पटेल के पास गया जिन्होंने पंडित नेहरू के साथ सलाह मश्विरा करके यह आदेश दिया कि अध्यक्ष के अधिकार में संसद सचिवालय की स्वतंत्रता बरकरार रखी जायेगी। इस एक ही आदेश ने भारत में एक सबल संसदीय व्यवस्था के विकास में भारी सहायता की, क्योंकि संसद सचिवालय के अधिकारियों और स्टाफ ने यह महसूस किया कि वे अब अपना काम स्वतंत्रतापूर्वक कर सकेंगे और उन पर कोई ऐसा दबाव नहीं रहेगा कि उन्हें सरकार की नीति का समर्थन करना है। इस सचिवालय ने सही प्रक्रिया निर्धारित करने में और संसद की समितियों, जिन्होंने आगे चलकर सरकार के मंत्रालयों के कार्यों पर निगरानी रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, की प्रतिष्ठा बढ़ाने में बिना भय अथवा पक्षपात के कार्य किया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रारम्भिक दिनों में अध्यक्ष मावलंकर के समक्ष संसदीय समितियों का मार्गदर्शन करने का दुष्कर कार्य था। स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत पश्चात उन्होंने प्रस्ताव किया कि लोक लेखा समिति, जो सेन्ट्रल लेजिस्लेटिव एसेम्बली के समय से अस्तित्व में थी और नयी संसदीय समिति, जिसे प्राक्कलन समिति कहा जाता है तथा जो श्री कौल और श्री मावलंकर के सुझावों के बाद अस्तित्व में आयी थी, को अध्यक्ष के सम्पूर्ण नियंत्रण में कार्य करना चाहिए ताकि कार्यपालिका पर संसद के वर्चस्व पर किसी प्रकार का संदेह न रहे। प्रधान मंत्री जी इससे सहमत हो गये। कुछ समय बाद समितियों द्वारा स्वतंत्र रूप से जांच किये जाने पर सरकार के अधिकारियों को परेशानी होने लगी। सरकार के कुछ वरिष्ठ सचिवों ने प्रधान मंत्री नेहरू को कहा कि समितियों द्वारा की जाने वाली जांच को वे ठीक नहीं समझते हैं। रक्षा मंत्रालय के तत्कालीन सचिव द्वारा की गयी ऐसी एक शिकायत पर प्रधान मंत्री नेहरू ने तत्कालीन उपाध्यक्ष श्री अयंगर और प्राक्कलन समिति के सभापति के साथ इस मामले को उठाया। श्री अयंगर ने यह दृढ़ रुख अपनाया कि सरकार के अधिकारी प्रधान मंत्री से शिकायत नहीं कर सकते हैं और यदि उनकी कोई शिकायत है तो उन्हें सभापति के पास आना चाहिए। प्रधान मंत्री ने इस बात को समझा और अधिकारियों को तदनुसार निर्देश दिया।

इससे समितियां अपने काम निर्विघ्न रूप से कर सकीं और तब से वित्तीय समितियों और प्रशासन के बीच पूर्ण सहयोग रहा है।

अध्यक्ष मावलंकर ने सरकारी उपक्रमों पर पर्याप्त संसदीय नियंत्रण की आवश्यकता को महसूस करते हुए इस मामले पर गम्भीरता से विचार किया तथा इस बात को सुनिश्चित करने हेतु निर्देश जारी किये कि जहां संसदीय प्रभुत्व को स्वीकार करना है वहां इसका प्रयोग इस प्रकार करना है कि उपक्रमों की स्वायत्तता पर आंच न आये और उनकी विस्तृत जांच न की जाये। बाद में सरकारी उपक्रमों सम्बन्धी समिति की स्थापना की गयी और यह वर्षों से सुचारू रूप से काम करती आ रही है। प्रधान मंत्री नेहरू के साथ मिलकर अध्यक्ष मावलंकर ने विभिन्न अन्य महत्वपूर्ण समितियों यथा कार्य मंत्रणा समिति और सरकारी आश्वासनों सम्बन्धी समिति की स्थापना की। इससे सरकार और संसद का कार्य सुचारू रूप से चलने लगा।

हमारे देश में प्रक्रिया तथा कार्य संचालन नियम अध्यक्ष को संसदीय समितियों के सभापति नियुक्त करने, संसदीय शिष्टमंडलों के लिए सदस्यों का चयन करने और सरकारी समितियों आदि में सदस्यों को नामित करने की शक्ति देते हैं जबकि अन्य देशों में इस प्रकार की शक्तियों का प्रयोग आमतौर पर सभा करती है जो तस्तुत: सरकार द्वारा सत्तारूढ़ दल के सहयोग से अथवा विपक्षी दलों के साथ परामर्श करके किया जाता है। अध्यक्ष महोदय मावलंकर ने नियमों में निहित अर्थ को समझा और समितियों में नियुक्तियां करने तथा उनमें नामजद करने से पूर्व प्रधान मंत्री नेहरू तथा विपक्षी दलों तथा ग्रुपों के नेताओं के साथ विचार-विमर्श किया।

अध्यक्ष मावलंकर ने भारत में विधायी निकायों के पीठासीन अधिकारियों के वार्षिक सम्मेलनों की अनेक वर्षों तक अध्यक्षता की। उन्होंने न केवल समूचे देश में संसदीय प्रणाली तथा व्यवहार के बीच उचित समन्वय लाने अपितु सबल परम्पराओं की स्थापना करने में भी इन सम्मेलनों का उपयोग करने का पूर्ण प्रयास किया। यह उनका दृढ़ विश्वास था कि यद्यपि लिखित संविधान में अनेक संभावनाओं की व्यवस्था है, इस बात से बिलकुल भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि किन्हीं भी विद्वानों के लिए यह असंभव होगा कि वे ऐसी संपूर्ण संहिता तैयार करें जो सभी स्थानों में सभी मामलों और सभी समय लागू हो सके। इसलिए यह कार्य विधानमंडलों के पीठासीन अधिकारियों का है कि वे लिखित संविधान को ऐसा रूप दें जिससे लोगों को, जिनका प्रतिनिधित्व विधानमंडलों द्वारा किया जाता है, अधिकतम लाभ मिल सके। पीठासीन अधिकारियों के सम्मेलनों में, प्राक्कलन और लोक लेखा समितियों, अधीनस्थ विधान सम्बन्धी समिति के सदस्यों को,

समितियों के अध्यक्षों आदि को दादा साहेब ने जो भाषण दिये हैं, उनमें प्रशासनिक सच्चाई का अपार भंडार है और उनमें प्रशासन में उनके गहन ज्ञान और मानवीय अनुभव की झलक मिलती है।

मेरा अनुभव है कि दादा साहेब ने अपने जीवन और कार्यों से पर्याप्त रूप से यह दिखाया है कि उनका वास्तविक चरित्र क्या था और किस प्रकार उन्होंने अपना जीवन और दूसरों का जीवन, जो उनके संपर्क में आये, ज्ञान से समृद्ध किया। यद्यपि उनके प्रशंसक और उनके अधीन काम करने वाले लोग उनकी महानता और एक विशेष संस्था, जिसके साथ वे सम्बद्ध थे, के विकास में उनके योगदान से परिचित थे। वे हमेशा विनम्रता के साथ कहा करते थे, "मैं भाग्यशाली हूं कि मेरे साथ काम करनेवाले ईमानदार लोग हैं और वे बहुत ही अच्छा काम कर रहे हैं और वे अपने काम के प्रति वफादार और समर्पित हैं।" वह एक दृढ़-निश्चयी और साहसी व्यक्ति थे परन्तु उनके भीतर एक कोमल हृदय था जो सहानुभूति, प्रसन्नता के शब्दों और उचित निर्णयों के रूप में अभिव्यक्त होता था।

दादा साहेब का दृष्टिकोण मानवीय था और वह एक वास्तविक समाजवादी थे। वह सबके साथ बातचीत करते थे चाहे समाज में उसका दर्जा कुछ भी हो। उनमें कुछ ऐसा गुण था जिसके कारण वे अनुशासन में रहते थे तथा हर बात के प्रति उनका एक सन्तुलित दृष्टिकोण रहता था। मैं वर्ष 1952 में दिवंगत दादा साहेब मावलंकर के नेतृत्व में कनाडा में राष्ट्रमंडल संसदीय सम्मेलन में भारतीय संसदीय शिष्टमंडल के साथ गया था। वहां से हममें से कुछ संयुक्त राष्ट्र अमरीका अध्ययन यात्रा पर गये थे। एक दिन वाशिंगटन में जब हम एक भोज पार्टी में शामिल होने के बाद अपने राजदूत के मकान से जा रहे थे तो कारों के बारे में कुछ कठिनाई उत्पन्न हो गयी थी। वहां केवल कुछ ही कारें थीं जिनमें पार्टी के सभी सदस्य नहीं आ सकते थे। फिर भी कारों में कुछ जगह बनाकर उनमें मुझे छोड़कर सब बैठ गये। जब दादा साहेब ने यह देखा तो मुझसे कहा : "अन्दर आ जाइए और मेरे साथ बैठिए।" मैं कुछ देर के लिए हिचकिचाया, क्योंकि मैंने देखा कि पिछली सीट पर जहां वह और श्रीमती मावलंकर बैठे हुए थे वहां तीसरे व्यक्ति के लिए बहुत ही कम जगह थी और आगे की सीटों पर अन्य लोग बैठे हुए थे। उन्होंने मेरी हिचकिचाहट को भांपा और कहा : "परेशानी में मत पड़िए। आप मेरे परिवार के एक सदस्य की भांति हैं और मैं तुम्हें अपना पुत्र मानने को तैयार हूं परन्तु मेरी पत्नी और लड़कों को इस पर आपत्ति हो सकती है जिन्हें मेरी सम्पत्ति में तुम्हारे हिस्से को लेकर चिन्ता हो जायेगी।" मैंने तुरन्त उत्तर दिया, "मैं आपके धन और सम्पत्ति पर अपना दावा छोड़ता हूं और आपसे केवल मां-बाप के समान स्नेह की

आकांक्षा करता हूं।" इस पर सभी लोग खूब जोर से हंस पड़े और मुझे दादा साहेब और श्रीमती मावलंकर के बीच एक सीट मिल गयी और हमारी मोटर चल पड़ी। मैं कह नहीं सकता कि इस घटना ने मेरे आचरण, चरित्र और समस्याओं के प्रति नजरिए पर कहां तक प्रभाव डाला। ये शब्द केवल कहने के लिये ही कहे नहीं गये थे लेकिन मुझे याद नहीं आता कि दादा साहेब के साथ बिताये गये छः वर्षों में कोई ऐसा भी अवसर आया हो जब उन्होंने मेरे साथ पितृतुल्य व्यवहार न किया हो।

भाग दो

उनके विचार

श्री जी० वी० मावलंकर के भाषण तथा लेख

7

नये युग का सूत्रपात*

माननीय सदस्य, इस पद के लिए मुझे चुनकर तथा मुझमें विश्वास व्यक्त करके आप लोगों ने जो मेरा सम्मान किया है, उसके लिए मैं आपको हार्दिक धन्यवाद देता हूं। विभिन्न दलों के नेताओं ने जो बधाई मुझे दी है उसे सुनकर मैं इस पद के उत्तरदायित्वों को अपेक्षता कहीं अधिक अनुभव कर रहा हूं जितना कि मैं सामान्यतया अनुभव करता।

मुझे अपनी कमियों का ज्ञान है और आपके भाषणों से मुझे अपने गुरुतर उत्तरदायित्व का ज्ञान हो गया है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि मैंने इस काम को विनम्र सेवा की भावना से लिया है; और अब इस सदन के सभी सदस्यों के पूरे सहयोग की विश्वस्त आशा के साथ मैं यह कह सकता हूं कि निस्संदेह हमारे सामने हिमालय जितना गुरुतर कार्य है। जैसा हमारे प्रधान मन्त्री ने कहा है हम इस समय एक नये युग में प्रवेश कर रहे हैं और इस प्रांत के भाग्य-निर्माण के लिए जिस मार्ग पर हम अग्रसर होंगे, उसका प्रभाव भविष्य पर अवश्य पड़ेगा। जैसा कि एक वक्ता ने कहा है, नये संविधान के अधीन हमारी विधान सभा सबसे पहली विधान सभा है, इसलिए यदि हम अपना ऐतिहासिक महत्व रखना चाहते हैं तो हमें यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि हमारे उत्तरदायित्व भी तदनुसार अधिक गुरुतर ही हैं। हमारी राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस द्वारा सरकार बनाने की स्वीकृति के निर्णय से, देश में एक नये युग के आरम्भ होने, और सरकार के दृष्टिकोण तथा ढांचे में परिवर्तन होने की आशा उत्पन्न हो गयी है। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि इस आशा के बारे में बहुत से वक्ताओं ने बहुत कुछ कहा है और इन आशाओं को फलीभूत करने की जिम्मेदारी हम सब पर है। इस बात का आश्वासन देने की आवश्यकता नहीं कि मैं एक अध्यक्ष के नाते दल से परे रहकर प्रक्रिया नियमों तथा विनियमों को पूर्ण निष्पक्षता से लागू करूंगा और उस मामले में किसी दलीय अथवा व्यक्तिगत दृष्टिकोण से काम नहीं लिया जायेगा।

* बंबई विधान सभा के अध्यक्ष निर्वाचित होने पर, 21 जुलाई, 1937

8

पीठासीन अधिकारियों के सम्मेलन स्वरूप तथा भूमिका*

संभवतः आप सभी को मालूम है कि प्रान्तीय विधान सभाओं के पीठासीन पदाधिकारियों के इस सम्मेलन की बैठकें सितंबर, 1921 में माननीय सर फ्रैड्रिक व्हाइट के सभापतित्व में शुरू हुई थीं और इसके बाद स्वर्गीय श्री वी० जे० पटेल और उनके उत्तराधिकारियों के विशिष्ट सभापतित्व के अधीन सम्मेलन के अधिवेशन होते रहे हैं।

जैसा कि दिसंबर, 1923 के संकल्प में कहा गया है, सम्मेलन का उद्देश्य "भारत भर में संसत्-प्रक्रिया का समुचित समन्वय" करना है। यह विचार मूलतः स्वर्गीय लार्ड मौन्टेगू द्वारा रखा गया था और वह इस देश में संसदीय संस्थाओं की स्थापना में बहुत दिलचस्पी लेते थे।

सभी भारतीय विधान सभाओं के पीठासीन पदाधिकारियों द्वारा सम्मेलन में भाग लेना आरम्भ किये हुए अब एक चौथाई शताब्दी बीत चुकी है। इस दीर्घावधि में सरकार के कृत्यों सम्बन्धी दृष्टिकोण में अत्यन्त क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं। भले ही प्रक्रिया के रूपों में इतने मूलभूत परिवर्तन चाहे न हुए हों, तथापि इस लंबी अवधि में भारतीय विधान सभाओं के लिए संसत्-प्रक्रिया के सार और भावना के संबंध में भी वैसे ही परिवर्तन हुए हैं। उन ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा सांविधानिक परिसीमाओं के होते हुए भी, जिनके अंतर्गत वे कृत्य करते रहे हैं, भारतीय विधानमंडलों का इन घटनाओं के प्रभाव से अछूता रहना असम्भव है।

प्रथम सम्मेलन का सभापतित्व एक नाम निर्देशित सभापति द्वारा किया गया

* विधायी निकायों के पीठासीन अधिकारियों का सम्मेलन, नई दिल्ली, 7 जनवरी, 1947

था और 1926 के बाद से यह सम्मेलन निर्वाचित सभापतियों का सम्मेलन हो गया था। इस बात के कहने से मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि 1926 के सम्मेलन से पूर्व सभापति पद पर पीठासीन प्रतिष्ठित व्यक्तियों का मैं अनादर करना चाहता हूं। मैं केवल यह कहना चाहता हूं कि निर्वाचित सभापतियों का सम्मेलन अधिक लोकतंत्रात्मक था। उस समय भी प्रांतों में विधान सभाएं थीं जिनके प्रति कार्य-पालिका पूर्णतः उत्तरदायी नहीं थी।

1937 में प्रांतीय स्वायत्तता के आरंभ पर हमने एक नया युग देखा जिसमें प्रांतीय विधान सभाओं में ब्रिटिश हाउस ऑफ कामन्स से कई बातों में पहले से अधिक समरूपता थी। उन निकायों पर प्रक्रिया का संसदीय रूप लागू करना, जिनके प्रति कार्यपालिका उत्तरदायी नहीं थी, स्पष्टतया मूल रूप से असंगत था, यद्यपि काफी सीमा तक उसकी उपयोगिता संशयास्पद नहीं है। 1937 के इस परि-वर्तन ने इस अंतर्भूत अयोग्यता को दूर कर दिया; और लोकतंत्रात्मक सिद्धांतों के वस्तुतः लागू होने तथा कार्यपालिका के विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होने के बाद से इस सम्मेलन की भी एक भिन्न तथा वास्तविक सार्थकता हो गयी। यह औप-चारिकता से वास्तविकता की ओर एक संक्रमण था।

उस समय भी केन्द्र की स्थिति पहले जैसी हो रही थी; और यद्यपि आज भी उसकी वैधानिक या सांविधानिक स्थिति वैसी ही है तथापि केंद्रीय विधान सभा का स्वरूप अंतरिम सरकार की स्थापना से पूर्णतः बदल गया है। इसलिए जिन समस्याओं के उत्पन्न होने की संभावना है, हमें अब उन विभिन्न समस्याओं के प्रति वास्तविकता की भावना को अपनाना होगा और लोकतंत्रवाद के इस प्रयोग को उस दृष्टि से देखना होगा। पहले जो कुछ था यह उससे भिन्न है।

इस प्रक्रम में मैं यह भी कहना चाहूंगा कि जब भारतीय विधान सभाएं संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न निकाय बनने की ओर अग्रसर हैं तब भी वे संसदों की जननी से एक सारभूत बात में भिन्न बनी रहेंगी। भारतीय संविधान एक लिखित संहिता रहेगा और स्थानीय उद्भव की वस्तु न होगा जबकि इसके विपरीत ब्रिटिश संसद का संविधान अलिखित है, और उन व्यक्तियों के कई वर्षों के अनुभव का परिणाम है जो अपने देश में विचारों के मतभेदों के होते हुए भी लोकतंत्रवाद को क्रियान्वित करने का दृढ़ निश्चय कर चुके थे। विकास के इस ढंग का एक अत्यंत सारपूर्ण लाभ भी है कि सदन का ध्यान सदैव वास्तविक बातों पर जिन्हें वह प्राप्त करना चाहता है, अधिक केंद्रित रहता है। एक लिखित संविधान, चाहे उसके गुणावगुण कुछ भी हों, ब्रिटिश संसद की भांति पूर्णतः एक स्थानीय उद्भव की वस्तु न होगा। इस दृष्टिकोण से जिन उद्देश्यों के लिए विधान सभाओं की स्थापना की गयी है उनको यदि हम अपने सामने रखें तो हमारे सामने जो कार्य है वह बहुत गुरुतर है। हमें न

केवल संविधान की उल्लिखित सीमाओं के अंदर ही इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करना होगा, बल्कि उस विशिष्ट प्रक्रिया के अन्तर्गत भी काम करना होगा जो हम निश्चित करेंगे। लिखित संविधान में चाहे कई आकस्मिकताओं के लिए उपबन्ध कर लिये गये हों, परंतु इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि बुद्धिमान व्यक्तियों के लिए एक ऐसी परिपूर्ण संहिता बनाना असंभव है जो सभी मामलों पर, सभी स्थानों पर और सभी समयों में लागू की जा सके। हमें विधान सभाओं के पीठासीन पदाधिकारियों के रूप में लिखित संविधानों को इस प्रकार से ढालना होगा कि उससे जनता का, जिसका कि विधान सभाएं प्रतिनिधित्व करती हैं, अधिकतम लाभ हो सके। हमें यह याद रखना चाहिए कि संविधान की विधियों की किसी संहिता के परिपूर्ण होने से ही किसी देश की सबसे अच्छी या अधिकतम लोकतंत्रात्मक सरकार नहीं बन जायेगी; बल्कि संविधान कार्यान्वित करनेवाले व्यक्ति जिस भावना तथा दृष्टिकोण से काम करेंगे वही हमें अपने लक्ष्य के कहीं अधिक निकट ले जायेगा। दूसरे शब्दों में जबकि संविधान हमारे पथ-प्रदर्शन के लिए ढांचे का काम देगा हमें उसके मानवीय पहलू से संबंध रखना होगा और इस प्रकार समय-समय पर कार्य तथा प्रक्रिया में परिवर्तन या समायोजन करना होगा जिससे हम संविधान द्वारा वस्तुतः अधिकतम लाभ उठा सकें।

इस प्रकार के सम्मेलनों से हमें संसाधनों को इकट्ठा करने और अनुभव तथा विचारों के आदान-प्रदान से कुछ सीखने के अवसर प्राप्त होंगे। इनसे हमें अपने देश की सेवा के हेतु भाई-चारे के लिए वैयक्तिक सम्पर्कों का अवसर मिलेगा और हमें अपने उत्तरदायित्वों को अधिक दक्षता से पूरा करने के लिए योग्य बनाने में बहुत सहायता मिलेगी।

मेरे विशिष्ट पूर्वाधिकारी स्वर्गीय श्री वी० जे० पटेल ने आज से ठीक 20 वर्ष पहले (6 जनवरी, 1926) को इसी स्थान पर सम्मेलन में अपने प्रारंभिक भाषण के दौरान जो कुछ कहा था उन शब्दों के साथ मैं अपना भाषण समाप्त करता हूं : "हमें याद रखना चाहिए कि हमें अपनी निजी ठोस परंपराएं स्थापित करनी हैं और ऐसा करते समय हमें जब कभी संभव तथा उचित हो हाउस ऑफ कामन्स का अनुकरण करने के लिए सदैव उद्यत रहना चाहिए, साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जब कभी भी ब्रिटेन की संसदीय परंपराएं भारतीय आवश्यकताओं तथा भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल हों हम उस समय लकीर के फकीर न बनें। इस प्रकार का कार्य हमारे प्रयत्नों के योग्य ही है और मुझे विश्वास है कि हमने तथा हमारे साथी सदस्यों ने जिस अभिव्यक्ति तथा क्रिया की स्वतंत्रता की जिस इच्छा का अनुभव किया था, उसका उस उत्तरदायित्व की भावना के साथ, जो देश की विधान-सभा की सभी गतिविधियों में ओत-प्रोत होनी चाहिए, सामंजस्य करने में हम सफल होंगे।"

9

लोकतांत्रिक आदर्श तथा परंपराएं*

यहां एकत्रित बहुत से सदस्यों को ब्रिटिश नियंत्रण के अधीन काम करने वाली भारतीय विधान-सभाओं का अनुभव है । सभी सदस्य अब तक संविधान के बनाने के कठिन काम में संलग्न रहे हैं । आज हम बिल्कुल पृथक् परिस्थितियों के बीच तथा एक पृथक् प्रकार के कार्य के हेतु यहां एकत्रित हुए हैं । हमने इस समय संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न भारत के संसद के रूप में काम शुरू किया है और दुनिया के नक्शे में हमारा स्वतंत्र अस्तित्व हो गया है । विश्व के समस्त राष्ट्रों के साथ हमने सदैव अच्छे संबंध रखने की इच्छा की है और करते रहेंगे और हमें आशा है कि विश्व के हेतु शांति तथा समृद्धि की प्राप्ति के लिए भारत सदैव प्रयत्नशील रहेगा ।

जनसाधारण की स्थिति सुधारने की दृष्टि से तथा विश्व शांति बनाये रखने के विचार से प्रत्येक प्रश्न पर स्वतंत्र, खुले तथा अवैयक्तिक रूप से चर्चा करना ही लोकतंत्र का सारांश है, और जैसा कि कहा जाता है कि गत विनाशकारी युद्ध भी इसी कारण लड़ा गया था । उस लोकतंत्र की स्थापना के लिए हमें कुछ अपने निजी मान निर्धारित करने होंगे तथा कुछ परंपराएं बनानी होंगी और इस महान सभा के समस्त सदस्यों के सहयोग से मुझे आशा है कि मैं अत्युत्तम लोकतंत्रात्मक परंपराओं और इस सभा की गरिमा तथा स्वतंत्रता को बनाये रखने में सहायक हो सकूंगा ।

* संविधान सभा (विधायिनी) का सर्वसम्मति से अध्यक्ष निर्वाचित होने पर, 17 नवम्बर, 1947

10

विधानमंडल सचिवालय की स्वतंत्रता*

हमें जिस बात पर विचार करना है वह बहुत छोटी सी है। मेरे विचार से इस आधारभूत सिद्धांत के संबंध में कोई मतभेद नहीं है कि अध्यक्ष तथा उसका विभाग कार्यपालिका के किसी भी प्रकार के नियंत्रण से पूर्णतः स्वतंत्र होना चाहिए, इस प्रस्थापना के संबंध में मेरे विचार में कोई संशय नहीं है। इसलिए अब वस्तुतः केवल यही एक प्रश्न विचार किये जाने के लिए उत्पन्न होता है कि क्या हमें वह स्वतंत्र स्थिति प्राप्त करनी चाहिए या स्वयं संविधान में किसी उपबंध द्वारा इसकी प्रत्याभूति होनी चाहिए या हम इसे प्रचलन द्वारा ही पायेंगे। अब यदि हमारा यह मत है कि हम इसे प्रचलन द्वारा प्राप्त न करें, बल्कि संविधान में कोई संविहित उपबंध किया जाना चाहिए, तो हमें इसके लिए एक संकल्प पारित करना होगा और अपने संकल्प की ओर संविधान सभा के माननीय सभापति तथा संविधान सभा में संविधान के प्रारूप को प्रस्तुत करने वालों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित करना होगा और यह प्रार्थना करनी होगी कि संविधान में उचित स्थान पर एक उचित उपबंध किया जाये।

आप देखेंगे कि केन्द्रीय-सभा 1925 से एक लोकप्रिय निर्वाचित सभापति के सभापतित्व में कार्य कर रही है—प्रथम सभापति माननीय श्री पटेल थे—और यद्यपि यह ऐसे समय में भी कार्यरत थी जबकि सरकार विधान सभा के प्रति उत्तर-दायी नहीं थी, तथापि जबकि गवर्नर-जनरल और उसकी कार्यपालिका परिषद्

* विधायी निकायों के पीठासीन अधिकारियों का सम्मेलन, नई दिल्ली, 10 अप्रैल, 1949

व्यवहारतः पूर्ण रूप से शक्तिशाली थी, उन पुरानी स्थितियों में भी, 1929 से ही अध्यक्ष के कार्यालय की स्वतंत्रता और अध्यक्ष के लिए पृथक् विभाग और उस विभाग पर उसके नियंत्रण की प्रथा चली आ रही है।

भारत सरकार द्वारा नियुक्त मितव्ययता समिति के कार्यक्षेत्र के संबंध में एक मनोरंजक स्थिति उत्पन्न हुई थी या उत्पन्न होने की संभावना थी। यह समिति विशिष्ट रूप से भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों के कर्मचारीवृन्द की स्थिति पर विचार करने के प्रयोजन से नियुक्त की गयी थी और यह प्रश्न उत्पन्न हुआ था कि क्या विधान-सभा विभाग भी मितव्ययता समिति की छान-बीन की परिनिरीक्षण के अन्तर्गत आयेगा। उस समय भी मैंने यही मत प्रकट किया था कि यद्यपि मुझे मितव्ययता समिति की छान-बीन के लाभ के संबंध में कोई आपत्ति नहीं है तथापि यदि मैं उनसे सहमत न हुआ, तो उनके द्वारा कही गयी किसी बात को मैं स्वीकार नहीं करूंगा। मेरा यह दृष्टिकोण था और मैंने सचिव से सचिवालय के विस्तार संबंधी मेरे प्रस्तावों सहित समस्त विभागीय स्थिति उनके सामने रखने के लिए कहा था। मेरे कहने पर सचिव ने ये शब्द लिखे थे :

"इस मामले के एक और महत्वपूर्ण पहलू की ओर आपका ध्यान दिलाने का मुझे निर्देश दिया गया है। अध्यक्ष, विधान सभा का प्रमुख अधिकारी है और विधान सभा की स्वतंत्र स्थिति तथा सम्मान बनाये रखने के लिए अध्यक्ष के विभाग को पूर्णतः उनके स्वतंत्र नियंत्रण के अधीन रखा गया है। अब ब्रिटेन तथा भारत, दोनों देशों में, यह एक मानी हुई प्रथा है कि अध्यक्ष के विभाग के संबंध में सदन में किसी संसदीय प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जाता और न ही किसी अन्य संसदीय प्रक्रिया द्वारा या अनुदानों में कमी के लिए प्रस्तावों की शक्ल में सदन में इस मामले पर विचार किया जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अध्यक्ष के विभाग के संबंध में जानकारी प्राप्य नहीं है। अध्यक्ष सदैव इस बात के लिए तैयार है कि यदि कोई भी सदस्य कर्मचारीवृन्द की स्थिति के संबंध में या उनके विभाग से संबंधित किसी अन्य विषय के संबंध में कोई जानकारी प्राप्त करना चाहे तो सचिव द्वारा उसे तुरंत ही जानकारी प्रदान की जानी चाहिए और यदि सदस्य को कोई सुझाव देना हो तो अध्यक्ष उसके साथ सदैव विचार विनिमय के लिए तैयार है। यह सिद्धांत स्पष्ट होने के कारण कि अध्यक्ष के विभाग से संबंधित सभी मामलों पर सदन में वाद-विवाद नहीं किया जाना चाहिए, मुझसे यह अनुरोध किया गया है कि किसी भी प्रतिवेदन में इस संबंध में कोई चर्चा नहीं की जानी चाहिए क्योंकि उसे सभा के समक्ष रखा जा सकेगा और हो सकता है कि उस पर वाद-विवाद हो। इसलिए उनका यह विचार है कि समिति द्वारा अपेक्षित सभी जानकारी सचिव द्वारा

दी जाये और यदि समिति को कोई सुझाव देने हों तो अध्यक्ष को उन सुझावों पर विचार करने में प्रसन्नता होगी, किन्तु समिति के विचार गुप्त रूप से अध्यक्ष को भेजे जाने चाहिएं और उन्हें प्रतिवेदन में सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए। माननीय अध्यक्ष महोदय यही बात शीघ्र ही समिति के सभापति से भी कहेंगे।"

समिति का उत्तर यह था :

"विधान-सभा विभाग के अध्यक्ष महोदय द्वारा प्रकट की गयी इच्छा के अनुसार इन अभ्युक्तियों को समिति द्वारा तैयार किये जाने वाले किसी प्रकाशित प्रतिवेदन में स्थान नही दिया जायेगा।"

जैसा कि मैंने कहा था अब इस बात पर विचार करना आपका काम है कि इसे कैसे लागू किया जाये कि एक प्रथा द्वारा या संविधान अधिनियम में उचित उपबंध द्वारा इसे लागू किया जाना चाहिए। यह उद्देश्य संविधान में किसी उपबंध के द्वारा, विधानमंडल के किसी अधिनियम द्वारा या संविधान अधिनियम के प्राधिकार के अधीन नियम बनाकर भी—विभिन्न प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है।

11

पीठासीन अधिकारियों के कृत्य तथा विधानमंडलों की भूमिका*

मैं आपको संक्षेप में बता दूं कि 9 अप्रैल, 1949 को क्या निर्णय हुआ था, और उस पर आगे क्या किया गया है। हमने दो संकल्प स्वीकार किये थे। एक केन्द्र की विद्यमान स्थिति के अनुसार अध्यक्ष के विभाग की स्वतंत्रता की मजबूत परंपरा को संविहित मान्यता* प्रदान किये जाने के लिए और दूसरा जब तक संविधि कार्यान्वित नहीं होती तब तक के लिए अन्तरीय-मान्यता के लिए।

*संकल्प का पाठ निम्नलिखित था :

"भारत के सभी प्रांतों, राज्यों और राज्यसंघों के विधायी निकायों के अध्यक्षों और सभापतियों के इस सम्मेलन का यह विचार है कि अध्यक्ष या यथास्थिति सभापति का सचिवालय एक स्वतंत्र स्थिति में रखा जाना चाहिए और वह कार्य-पालिका सरकार के नियंत्रण से मुक्त होना चाहिए और उसके लिए प्रारूप संविधान में आवश्यक उपबंध कर लिए जाने चाहिए।"

उस समय जैसा कि मैंने आश्वासन दिया था, मैंने माननीय डॉक्टर अम्बेडकर प्रारूप समिति, संविधान-सभा के माननीय अध्यक्ष और माननीय प्रधान मंत्री से प्रार्थना की कि सम्मेलन की इच्छा के अनुसार इस लक्ष्य वाले प्रारूप को अन्तिम रूप दिया जाये। इसी मतलब के लिए ही मैंने अपने दो मित्रों, पश्चिमी बंगाल और मध्य प्रदेश की विधान सभाओं के माननीय अध्यक्षों से प्रार्थना की कि वे अपने प्रारूप मुझे दें, क्योंकि उन्होंने इस विषय का गहरा अध्ययन किया था। मुझे इस

* विधायी निकायों के पीठासीन अधिकारियों का सम्मेलन, नई दिल्ली, 1 सितम्बर, 1949

विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं कि प्रस्तावित प्रारूप क्या था, उस पर क्या चर्चा हुई और उसको अन्तिम रूप कैसे दिया गया। मुझे केवल इतना ही कहना है कि संविधान-सभा की प्रारूप समिति ने इस प्रारूप के लिए उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के माननीय अध्यक्षों को सदस्यों के रूप में सहयोजित कर लिया। मुझे प्रसन्नता है कि मैं यह कह सकने में समर्थ हूं कि समिति की चर्चा और विचार के फलस्वरूप संविधि में स्वतंत्रता के सिद्धांत को काफी सीमा तक सम्मिलित कर लिया गया है। संविधान सभा द्वारा स्वीकृत नये अनुच्छेद के अनुसार विधानमंडल के सचिवालय का एक अलग कर्मचारीवृन्द होगा। विधानमंडल कर्मचारियों की भर्ती और सेवा की शर्तों को नियमित करने के लिए कानून बना सकेगा और जब तक विधानमंडल कोई व्यवस्था नहीं करता तब तक के लिए राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल अध्यक्ष महोदय के परामर्श से सचिवालय में भर्ती किये गये कर्मचारियों की भर्ती और सेवा की शर्तों के संबंध में नियम बनायेंगे। फिर भी मैं यह बता दूं कि संविहित उपबंध मात्र से ही हमें अपने लक्ष्य अर्थात् कार्यपालिका का विधान-मंडल के प्रति उत्तरदायित्व की प्राप्ति नहीं हो जायेगी। परन्तु यह सब इस बात पर आश्रित है कि इस संविहित व्यवस्था को सभी सम्बद्ध लोग किस प्रकार और किस भावना के साथ कार्यान्वित करते हैं।

हम प्रारूप समिति और माननीय डॉ० अम्बेडकर को अपने इस प्रस्ताव की भावना को समझने और हमारे सिद्धांत को स्वीकृत करने के लिए धन्यवाद देते हैं। कुछ सूत्रों में हुई चर्चा के बारे में तरह-तरह की जो अफवाहें मुझे सुनने को मिली हैं, उनके बारे में मेरा यह कर्तव्य है कि मैं सभी सम्बद्ध लोगों को यह आश्वासन दे दूं कि किसी भी सभापति अथवा अध्यक्ष की यह कभी इच्छा नहीं रही कि गैर जिम्मे-दार और निरंकुश की भांति सदन में अधिकारों का प्रयोग किया जाय। सदन के प्रतिनिधि के रूप में पीठासीन अधिकारी और कार्यपालिका के बीच किसी प्रकार के संघर्ष का कोई विचार नहीं है। प्रत्येक पीठासीन पदाधिकारी का यह प्रयत्न होगा कि उच्च लोकतंत्रीय परंपराएं कायम रखी जायें, और तत्कालीन सरकार को लोकतंत्रीय ढंग से बेरोक-टोक कार्य चलाने में सहायता दी जाये।

भारत की स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद अब विधानमंडलों को भी देश के भाग्य निर्माण में निश्चित और महत्वपूर्ण भाग लेना है। हम प्राचीन संस्कृति और भारी जनसंख्या वाले संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न गणराज के संघटक अंग होने का दावा करते हैं। उस संसार के लिए जो सर्वदा शांति स्थापना के लिए चिंतित रहता है, हमारे पास एक निश्चित संदेश है। यद्यपि दुनिया में अभी हाल शांति ही है, परन्तु हृदयों में शांति नहीं है और इस मामले में भिन्न-भिन्न तत्वों का संघर्ष चल रहा है कि कौन से मार्ग से समाज को स्थायी शांति उपलब्ध हो सकती है। हम बड़ी भारी चिंताओं

के पूर्ण संक्रमण के युग में हैं। हमारा विश्वास है कि लोकतंत्र से सभी बुराइयां दूर हो जायेंगी और इससे शांति को भी प्रोत्साहन मिल सकेगा।

विधानमंडलों के पीठासीन अधिकारियों के रूप में हमारा मुख्य कार्य लोकतंत्र को आगे बढ़ाना है। इसका अर्थ यह है कि क्रियात्मक रूप में सरकार और अधिकतम व्यक्तिगत स्वतंत्रता में पूर्ण समन्वय कायम रखा जाये। संसदीय लोकतंत्र का सार यह है कि मतभेदों को परस्पर बातचीत से हल किया जाये। कार्यपालिका सरकार की स्पष्ट आलोचना, तत्वान्वेषी प्रश्नों द्वारा प्रशासन के व्योरों का प्रचार, समस्त विधान-प्रस्तावों पर स्वतंत्र और पूर्ण चर्चा, वित्त-व्यवस्था पर कड़ी देखभाल और समुचित विधान, ये विधानमंडल के कुछ प्रमुख काम हैं और वास्तविक लोकतंत्र के इन आवश्यक तत्वों की रक्षा करना हम सबका प्रयत्न होगा।

हमें इसलिए प्रक्रिया के बाह्य रूप को ही नहीं देखना है, बल्कि वास्तविकता की ओर ध्यान देकर परंपराओं का विकास करना है। इतने विस्तृत नियम तो संभव नहीं जिसके अन्तर्गत सब कुछ आ जाये। बहुत कुछ इस बात पर निर्भर रहेगा कि हम क्या परंपराएं निर्माण करते हैं। मैं इस संबंध में एक चेतावनी भी देना चाहता हूं, वह यह कि हमें हमेशा यह याद रखना चाहिए कि 'हाउस ऑफ कामन्स' की प्रक्रिया और नियमों की मूल बातों का यद्यपि हमारे लिए विशेष मूल्य है, फिर भी हमें यह याद रखना होगा कि सर्वदा संसदीय रीतियों को अपना लेना ही पर्याप्त नहीं और वह सदैव मार्ग-प्रदर्शन नहीं कर सकता। प्रत्येक संसदीय नियम और रूप का इंग्लैंड में विशिष्ट वातावरण में ऐतिहासिक विकास हुआ है। हमें यह देखना है कि कौन-सी बात हमारे वातावरण के अनुकूल है और उसके अनुसार ही हमें अपनी परंपराओं की दिशा निर्धारित करनी है।

12

संसदीय समितियां और सक्षम सरकार*

सबसे पहले मैं आपका ध्यान अपने संसदीय जीवन में हुए अत्यंत महत्वपूर्ण परिवर्तन —क्रान्ति—की ओर आकृष्ट करूंगा जिसका अर्थ पूरी तरह समझा गया नहीं प्रतीत होता है। यद्यपि हम कई वर्षों से संसदीय प्रकार की सरकार से परिचित हैं, परन्तु हमारे यहां वास्तविक अर्थों में कभी संसदीय सरकार नहीं बनी, क्योंकि सरकार न तो सभा के प्रति उत्तरदायी थी और न उसके विचारों का सम्मान करती थी। सभा की शक्तियां सीमित थीं और वह सरकार की नीतियां भी अपनी इच्छानुसार निर्धारित करने के लिए स्वतंत्र नहीं थी। इसके फलस्वरूप हम संसदीय प्रकार की सरकारों को ऐसे भाव और ढंगों से चलाने के अभ्यस्त हो गये जो उनसे बिल्कुल भिन्न हैं जिनका हाउस ऑफ कामन्स में पालन किया जाता है। आमतौर पर, हम जो आलोचनायें करते थे, अथवा जिन नीतियों या कार्यवाहियों की प्रस्थापना करते थे, उनका पूरा उत्तरदायित्व नहीं समझते थे। यदि आप मुझे अनुमति दें तो में यह कहूंगा कि अपने संसदीय जीवन में हमने रचनात्मक के स्थान पर विध्वंसकारी बुद्धि का विकास किया है। यद्यपि हमारा वैसा इरादा नहीं होता, परन्तु हम सदैव ही मंत्रियों, सरकारी अधिकारियों आदि की ईमानदारी पर संदेह करने लगते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि हमें यही शिक्षा दी गयी है कि वास्तव में जिन समस्याओं को हल करना है उनके अध्ययन अथवा उन पर विचार के लिए गम्भीरतापूर्वक कोई प्रयास किये बिना सरकारी प्रस्थापनाओं के विरोध द्वारा ही हम सबसे अच्छे ढंग से देश का हित साधन कर सकते हैं। इस दृष्टिकोण का परिणाम यह हुआ है कि यद्यपि हमें स्वतंत्रता प्राप्त हो गयी है और सरकार हमारे विचारों का सम्मान करती है, परन्तु फिर भी सत्तारूढ़ कार्यपालिका सरकार का हाथ बंटाने

* प्राक्कलन समिति की पहली बैठक, 18 अप्रैल, 1950।

और उनके उत्तरदायित्व में हिस्सा लेने की भावना हमारे अन्दर नहीं आयी है।

यह सब कहने में मेरा उद्देश्य किसी के दोष निकालने का नहीं है, वरन् मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूं कि हमारे सामने जो समस्यायें हैं, उनके प्रति हमारे दृष्टि-कोण में परिवर्तन की आवश्यकता है। इस समय सरकार द्वारा रखी गयी योजनाओं में दोष निकालना अथवा उनका छिद्रान्वेषण करना ही हमारे लिये पर्याप्त नहीं है, वरन् हमें किसी समस्या से संबंधित सभी बातों का अध्ययन करना पड़ेगा, इस बात पर कि यदि वह काम हमें सौंपा जाये तो हम क्या करेंगे, विचार करना पड़ेगा, तब उसके हल के बारे में सुझाव देने होंगे। जब तक हम यह अनुभव न करने लगें कि सरकारी उत्तरदायित्वों को संभालने के लिए अपने आपको तैयार करना हमारा कर्त्तव्य है और उसी के अनुसार अपनी बुद्धि और शक्तियों का प्रयोग न करने लगें तब तक हमारी संसदीय प्रणाली का जनता के लिए सबसे लाभकारी दृष्टि से कार्य करना कठिन है।

हमारे यहां सामान्य प्रशासन के सिलसिले में प्राक्कलन समिति और लोक लेखा समिति जैसी समितियों के अतिरिक्त मंत्रणा-समितियां रखने की व्यवस्था भी है। मेरे विचार से इन समितियों को रखने के मुख्य उद्देश्य ये हैं :

(**एक**) यथासंभव अधिक से अधिक संख्या में सदस्यों को प्रशासन से संबद्ध करने एवं प्रशासन चलाने का ढंग सिखाने के साथ ही उनको उन विभिन्न समस्याओं से परिचित कराना, जिनका सरकार को दिन-प्रतिदिन सामना करना पड़ता है;

(**दो**) सरकार पर नियंत्रण रखना जिससे कि वह दमनकारी और निरंकुश न बन जाये;

(**तीन**) सरकार की नीतियों पर प्रभाव डालना;

(**चार**) सरकार और सामान्य जनता के बीच सम्पर्क स्थापित करना।

इस दृष्टि से, समिति के सदस्यों, प्रशासन के पद पर आसीन मंत्रियों और संबंधित सरकारी अधिकारियों की तुलना उस सुखी परिवार से की जा सकती है जिसके सदस्य समस्याओं को हल करने और देश में नागरिकों के जीवन को बनाने के लिए मिल-जुल कर अपनी बुद्धि का प्रयोग करने वाले हैं। स्पष्ट है कि समितियां और संसद नीतियों को निर्धारित करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर सकतीं और उनको इन नीतियों का ब्योरा तैयार करने और इन्हें यथासंभव अच्छे ढंग से कार्यान्वित करने का काम पूरी तरह कार्यपालिका पर ही छोड़ देना पड़ता है। इस सभा की समितियां निश्चय ही इस प्रकार की कार्यान्विति पर निगाह रखेंगी, जिससे उनको यह संतोष हो सके कि निर्धारित की गयी नीति की सीमाओं के भीतर रह कर ही उन्हें कार्यान्वित किया गया है और उसे यथासंभव अच्छे ढंग से चलाया जा

रहा है। समिति यह भी देखेगी कि जो परिणाम प्राप्त हुए हैं, उनके आधार पर कहीं नीति में परिवर्तन करना तो आवश्यक नहीं है। सदस्यों की ओर से की जानेवाली आलोचना और पूछे जानेवाले प्रश्नों से, जिन्हें मैं हर रोज सुनता हूं, ऐसा प्रतीत होता है कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति को उन सामान्य नीतियों और लक्ष्यों के स्थान पर, जो हमने अपनाये हैं और जिनका हमें ध्यान होना चाहिए, कार्यपालिका - प्रशासन की अधिक चिन्ता है। इससे स्वाभाविक रूप से बहुत ही व्यक्तिगत-सा और संकुचित-सा दृष्टिकोण बन जाता है। हमें इससे बचना है, क्योंकि पारस्परिक सहन-शीलता, विश्वास, व्यक्ति-निरपेक्ष आलोचना और समझौते की भावना ही लोकतंत्र के आधारभूत सिद्धांत हैं।

संसद के कर्त्तव्यों की विस्तृत, सुस्पष्ट व्याप्ति पर जितना भी जोर दिया जाये, थोड़ा है। सबसे आधारभूत बात यह है कि संसद कोई कार्यपालिका-संस्था नहीं है। उसकी संख्या ही इतनी अधिक है कि वह कार्यपालिका नहीं बन सकती है। यद्यपि वह संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न है और कार्यपालिका सरकार से श्रेष्ठ है, परन्तु अपने आकार के कारण उसके कर्त्तव्यों की व्याप्ति और स्वरूप सीमित ही हैं। वह केवल कार्यपालिका के, जिसे उसका विश्वास प्राप्त है, जरिये से ही कार्य कर सकती है और विभिन्न दृष्टिकोणों को समझने और यथासंभव व्यापक पैमाने पर सहमति प्राप्त करने के लिए समझौते की भावना को अनिवार्य मानने की इच्छा के साथ पूर्णता, स्वतंत्रता और स्पष्टवादिता के साथ की गयी चर्चा द्वारा ही वह उस जनता के लिए, जिसका प्रतिनिधित्व करने और जिसकी सेवा करने का वह दावा करती है, सर्वाधिक रूप से स्वीकार्य और हितकारी होनेवाली नीतियां निर्धारित कर सकती है। इसलिये, (क) विचार-विनिमय और चर्चा करना; और (ख) इस विचार-विनिमय और चर्चा के जरिये कार्यपालिका पर निगरानी रखना, उसकी देखभाल करना, उसका मार्ग-दर्शन करना और उस पर नियंत्रण रखना ही संसद के प्रमुख कर्त्तव्य और उनकी व्याप्ति है। निर्धारित नीति के भीतर रह कर कार्य करने के लिए कार्यपालिका को पूरी छूट मिलनी चाहिये और रोजमर्रा के विषयों अथवा प्रशासन संबंधी ब्योरे की बातों में हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए।

अब मैं स्थायी पदाधिकारी संबंधी दृष्टिकोण के बारे में कुछ शब्द कहता हूं। कुछ भी हो, सरकार केवल उसी के जरिये से कार्य कर सकती है; और सरकार की सफलता प्रायः पूरी तरह उसकी कुशलता, चरित्र और न्याय-भावना पर ही निर्भर करती है। यह मान कर चलना गलत होगा कि प्रत्येक पदाधिकारी स्वेच्छाचारी है, उसकी नीयत खराब है, या वह जनता का हितैषी नहीं है। उसका दृष्टिकोण और विचारधारा हमसे भिन्न हो सकती है परन्तु राज्य-निष्ठा, अनुशासन और विधियों तथा नियमों का सम्मान करने की उनकी भी अपनी परंपरायें हैं। यदि हम लोग

उसकी कुशाग्र बुद्धि को छोड़ भी दें, तो भी उसे प्राप्त अनुभव और जानकारी ऐसे गुण हैं, जिनका हमें पूरा लाभ उठाने की स्थिति में होना चाहिए और यह कार्य तभी सबसे अच्छे ढंग से पूरा किया जा सकता है, जब हम स्थायी पदाधिकारी से अपने संबंधों में देश के हित के लिए एक दूसरे को अपना साथी मानने की और पारस्परिक सम्मान की भावना को प्रोत्साहित करें।

अपने देश में एक संसदीय सरकार और संसदीय जीवन का उचित ढंग से विकास करने के लिए, प्रारंभिक बातों की इस पृष्ठभूमि के बाद अब मैं उस विशिष्ट उद्देश्य पर आता हूं, जिसके लिए हम आज यहां पर एकत्र हुए हैं। हमारे यहां सरकार के वित्तीय कार्यों से संबंधित तीन समितियां हैं : (1) स्थायी वित्त समिति; (2) प्राक्कलन समिति, और (3) लोक लेखा समिति। यद्यपि इन समितियों के कार्य के क्षेत्रों की स्पष्ट परिभाषा कर दी गयी है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इनके अनुसंधान-क्षेत्र एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। किसी नीति विशेष संबंधी जांच के सिलसिले में पहले किये गये वास्तविक व्यय और भविष्य के लिए तैयार किये गये प्राक्कलनों संबंधी जानकारी की आवश्यकता पड़ सकती है। इसलिये ये तीनों समितियां एक दूसरे से बहुत घनिष्ट रूप से संबंधित हैं और इस क्षेत्र को केवल सुविधा के ही विचार से तीन भागों में विभक्त किया गया है।

आज हमारा संबंध प्राक्कलन समिति से है। नियम 145 के उपखंड (1) में मोटे तौर पर समिति के कृत्यों का उल्लेख किया गया है और उस नियम के अन्य उपखंडों में प्रक्रिया निर्धारित की गयी है। समिति अपने कार्य के लिए स्वयं अपने नियम भी निर्धारित कर सकती है। समिति का कार्य अत्यंत ही दुःसाध्य और महत्वपूर्ण है। जब तक समिति उन योजनाओं के, जिसके प्राक्कलन उसके समक्ष हों, प्रयोजन और कार्यान्वय-यंत्र का निकट से अध्ययन नहीं कर लेती और उसे समझ-बूझ नहीं लेती, तब तक वह संबंधित प्राक्कलनों की पूरी तरह और उचित रीति से जांच नहीं कर सकती और धन, समय और शक्ति में बचत का सुझाव नहीं दे सकती है। समिति द्वारा कुशलतापूर्वक की गयी जांच शासनतन्त्र में यह जागरूकता ला देगी कि कोई ऐसी संस्था भी है जो की गयी प्रस्थापनाओं की पूरी छानबीन करेगी। अकेली यही बात कार्यपालिका पर एक बड़ी रोक का काम करेगी। यदि यह जांच ठीक ढंग से की जाये तो इसके फलस्वरूप प्रशासन में भी आमतौर पर कुशलता आ जायेगी। समिति द्वारा की गयी पड़ताल भविष्य में तैयार किये जाने वाले प्राक्कलनों और भावी नीतियों के मार्ग-दर्शन के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

इस प्रकार की छानबीन करने के लिए समिति को एकदम प्रशासन के संपूर्ण क्षेत्र की जांच करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। मैं स्वयं तो यह पसन्द करूंगा

कि प्रत्येक वर्ष में कुछेक मंत्रालयों को चुना जाये और 3 या 4 वर्षों में पूरे क्षेत्र की जांच पूरी की जाये। यदि वे सरकार की नीतियों और व्यय पर अपनी छाप छोड़ना चाहते हैं, तो उन्हें विस्तृत जांच के स्थान पर गहन जांच करने का प्रयास करना चाहिए। यह कहना व्यर्थ है कि इस प्रकार की संपूर्ण जांच उस समय तक असंभव है जब तक कि समिति सरकार के संबंधित कार्यों में जिज्ञासु छात्रों के समान अपना ध्यान न लगाये। आप यह देखेंगे कि इस नियम में स्पष्ट रूप से उपसमितियां नियुक्त करने की व्यवस्था की गयी है, जिसका एकमात्र उद्देश्य यही है कि कार्य-विभाजन द्वारा समिति प्रशासन का गहन अध्ययन कर ले।

इसके अतिरिक्त, एक देश-व्यापी और विशाल प्रशासन में कोई भी एक अधिकारी अथवा मंत्री अपने दिमाग में उसका पूरा खाका नहीं रख सकता, और इसीलिये उसमें स्वाभाविक रूप से अपनी विभागीय सत्ता चलाने की प्रवृत्ति आ जाती है और बचत करने के लिए प्रोत्साहन नहीं मिलता। प्राक्कलन समिति द्वारा की जानेवाली जांच से उन पर जो रोक लगेगी उसका परिणाम यह होगा कि वह बचत और नीतियों, दोनों के संबंध में अपना प्रभाव डालेगी और प्राक्कलन समिति में सदस्यों को जो जानकारी प्राप्त होती है उसका स्थायी वित्त समिति और लोक-लेखा समिति के कार्यों में भारी उपयोग किया जा सकता है।

13

विधानमंडल की प्रभुसत्ता*

नये संविधान के अन्तर्गत हम प्रथम बार एकत्रित हुए हैं। संविधान इस वर्ष की 26 जनवरी को लागू हुआ है। और इस संविधान के उपबन्धों के अनुसार बिल्कुल तो नहीं परन्तु काफी सीमा तक भारत की संस्थिति और संघ की विभिन्न विधान सभाओं के अधिकारों और प्रक्रियाओं में परिवर्तन हुए हैं। कार्यपालिका को विधानमंडल के प्रति पूर्ण उत्तरदायी बना कर विधानमंडलों की संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्नता को साररूप में स्वीकार कर लिया गया है। यद्यपि संविधान में संघ के लिए राष्ट्रपति और विभिन्न राज्यों के लिये राज्यपालों और राजप्रमुखों की व्यवस्था है, परन्तु यह सर्वविदित है कि वे सांविधानिक प्रमुख होंगे और अपने मंत्रिमंडलों की सलाह पर ही चलेंगे। संपूर्ण-प्रभुता इस प्रकार जनता के हाथ में चली गयी है, और वह इसे विभिन्न विधानमंडलों में अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा कार्यान्वित कर सकती है। यद्यपि यह परिवर्तन दिखायी नहीं देता, परन्तु यह मौलिक परिवर्तन है। और सब बातों पर विचार करते हुए हमें हमेशा इसे ध्यान में रखकर ही अपने विधानमंडलों के प्रक्रिया नियम बनाने चाहिएं। जिन मामलों के संबंध में संविधान में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं वे निम्नलिखित हैं :—

(क) विधानमंडलों के सचिवालयों की स्वतन्त्रता,

(ख) वित्तीय मामलों के बारे में उपबन्ध,

(ग) सदन और सदस्यों के विशेषाधिकारों के बारे में उपबन्ध,

(घ) संघ विधानमंडल और राज्य विधानमंडलों की भाषा।

आपको पता ही है कि जिस प्रकार का लोकतन्त्र और संसदीय सरकार का

* विधायी निकायों के पीठासीन अधिकारियों का सम्मेलन, नयी दिल्ली, 21 अगस्त, 1950

रूप हम अपना रहे हैं, वह वही है जिस आधार पर कि ब्रिटेन में इन संस्थाओं का निर्माण हुआ है। ब्रिटेन में पूर्णतः प्रति निध्यात्मक सरकार के तीन तत्वों के एकीकरण और समन्वय का आश्चर्यजनक विकास हुआ है जिससे जन-स्वतंत्रता, विधि संगत प्रशासन और यथासंभव अधिक दक्षता की सिद्धि होती है। विधानमंडलों का कार्य मुख्यतः पर्यालोचनात्मक होता है, और यहां जनता के प्रतिनिधि उन सामान्य आधारों पर विचार, चर्चा और विवाद करते हैं जिन आधारों पर कि वे सरकार को चलाना चाहते हैं और उन्हें इस उद्देश्य के लिए कानून बनाने का भी अधिकार होता है। उन्हें अपने निर्णयों के कार्यपालन अथवा उनका निर्वचन करने का अधिकार नहीं होता।

साथ ही समालोचना द्वारा कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने के संबंध में उनके पास काफी अधिकार होते हैं। यह समालोचना प्रश्न, वाद-विवाद, संकल्प और वित्त नियंत्रण के रूप में हो सकती हैं। यदि वे कार्यपालिका के कार्य से संतुष्ट नहीं और सरकार को बदलना चाहते हैं तो वे अनुदानों की मांगों को स्वीकार, संशोधित या अस्वीकार कर सकते हैं।

अपने अधिकारों के अंतर्गत संसद ने जिस धन की स्वीकृति दी है, उससे कार्यपालिका को दिन-प्रतिदिन के प्रशासन को चलाने की पूर्ण स्वतंत्रता है। संसद उसमें हस्तक्षेप नहीं करती। इससे निरंकुशता और गैर-जिम्मेदारी का उद्भव होता है परंतु फिर भी इससे प्रशासन की योग्यता अवश्य बढ़ती है। और इसके विकास की मात्रा संसद की जागरूकता अथवा शिथिलता पर निर्भर है। फिर स्वतंत्र न्यायपालिका भी है जो कि स्वतंत्र रूप से विधि का निर्वचन करती है। इसका न संसद से संबंध होता है न कार्यपालिका से। इस कारण अपना स्वतंत्र और किसी भी पक्ष से अप्रभावित मत होता है। इस प्रकार कार्यपालिका को विधि के अंतर्गत रखते हुए यह जनसाधारण को आश्वस्त कर सकती है कि विधिसंगत प्रशासन में व्यक्तिगत विचारों के लिये कोई स्थान नहीं।

आप देखेंगे कि इन तीनों तत्वों के लिये हमारे संविधान में काफी व्यवस्था की गई है। संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में वित्त संबंधी मामलों में कार्यपालिका पर समुचित नियंत्रण की व्यवस्था है। अब यह जरूरी नहीं कि 31 मार्च से पूर्व बजट अवश्य पारित किया जाये। विधानमंडल अपनी स्वीकृति से सरकार को कुछ मास चलने के लिए लेखानुदान दे सकता है, और विधानमंडल एक स्वतंत्र समिति की स्थापना करके अगले दो तीन मास में बजट की ब्यौरेवार छानबीन भी करवा सकता है। इससे सदन द्वारा अधिक नियंत्रण और छानबीन ही नहीं प्रत्युत सदस्यों को प्रशासन की समस्याओं, कठिनाइयों और दोषों के साथ संपर्क रखने का अवसर मिल जाता है। इससे सदस्यों को प्रशासन के मामलों की छानबीन, उनका अध्ययन और

पूरी जानकारी प्राप्त करने का पूरा अवसर प्राप्त होता है।

संविधान सभा से हमने जो सिफारिशें की थीं कि प्रत्येक विधानमंडल के लिये स्वतंत्र सचिवालय की व्यवस्था संविधान में की जानी चाहिये, उसके फलस्वरूप अनुच्छेद 98 और 187 रखे गये, जिनमें विधानमंडलों के लिये समुचित प्रकार के सचिवालयों की व्यवस्था की गई है। परंतु मैं यह कहूंगा कि अलग निकायों के निर्माण मात्र से ही लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। व्यावहारिक रूप में सब कुछ सचिवालय के कर्मचारियों पर आश्रित होता है। इसलिये इस संबंध में परंपराओं की स्थापना और कर्मचारियों को समुचित प्रशिक्षण देने में कुछ समय लगेगा। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि काफी काल से केंद्र में जो परंपरायें इस संबंध में प्रचलित हैं, वे अध्ययन योग्य हैं और देश के विभिन्न विधानमंडलों को उन पर चलना चाहिये।

आपको याद होगा कि गत सत्र में बंबई के माननीय अध्यक्ष के सभापतित्व में एक समिति की स्थापना की गई थी, ताकि सदन और सदस्यों के विशेषाधिकारों पर विचार किया जा सके। परंतु इससे पूर्व कि समिति की बैठक होती, भारत के संविधान में 105 और 194 अनुच्छेदों की व्यवस्था हो जाने से स्थिति में भारी परिवर्तन हो गया। अब सदन और सदस्यों के विशेषाधिकार वही हैं, जो कि इंग्लैंड की संसद के सदस्यों के हैं। यह ठीक है विशेषाधिकारों का बिलकुल उल्लेख कहीं नहीं, फिर भी समय पड़ने पर प्रामाणिक ग्रंथों का हवाला दिया जा सकता है और विशेषाधिकार क्या है—यह जाना जा सकता है। हमने जिस समिति की स्थापना की थी, उसने काफी परिश्रम किया और गत मास तीन दिन तक विचार कर सर्वसम्मति से एक रिपोर्ट प्रस्तुत की। उसकी एक-एक प्रतिलिपि आप सबको दी जा रही है, और यह भी एक विषय है जिस पर विचार किया जा सकता है। मैं इस अवसर पर समिति को उसके परिश्रम के लिये धन्यवाद देता हूं।

इस अवसर पर यह कहना भी अनुपयुक्त नहीं होगा कि विशेषाधिकारों के विधान के संबंध में मेरा मत क्या है। मेरा मत उदार है और जो भी यह सम्मेलन इस संबंध में निश्चय करेगा, मैं उसे कार्यान्वित करूंगा। परंतु देश के वर्तमान संसदीय जीवन के स्तर और सरकारों के निर्माण को देखते हुए मैं चाहता हूं कि कुछ समय के लिये इस मामले को यहीं रहने दिया जाय। संविधान ने 'हाउस ऑफ कामन्स' की समानता की व्यवस्था करके अधिक से अधिक विशेषाधिकारों को मान्यता दी है। इसलिये इस संबंध में विधान की कोई आवश्यकता दिखाई नहीं देती या कम से कम उतना आवश्यक नहीं है, जितना कि उस समय था, जब विशेषाधिकार बहुत सीमित थे। फिर विशेषाधिकारों के बारे में विधान बनाने में मुझे दो बाधायें

या अड़चने दिखाई दे रही हैं :

(1) इस समय किसी विधान का अभिप्राय केवल आजकल की कार्यपालिका सरकार को स्वीकार विषयों संबंधी विधान बनाना होगा। यह स्पष्ट है कि चूंकि उनका बहुमत है, अत: सभा केवल उस बात को स्वीकार करेगी जिसे वे स्वीकार करना उचित समझते हैं। इस बात को ध्यान में रखने का महत्व है कि सदस्यों के विशेषाधिकारों का विचार किसी दल-विशेष की ओर निर्देश करके नहीं किया जाता, वरन् सभा के प्रत्येक सदस्य के विशेषाधिकार का विचार करके किया जाता है चाहे वह सरकार से संबंध रखता हो अथवा विरोधी पक्ष से। अत: मुझे भय है कि इस संबंध में विधान बनने का अभिप्राय आजकल जो विशेषाधिकार हैं, उन्हें बहुत मात्रा में घटाना होगा। अतएव हमें कुछ वर्ष पश्चात् विधान के बारे में सोचना चाहिये। हमें आशा है कि तब तक त्रुटिहीन संसदीय प्रथायें पैदा हो जायेंगी। आज मुझे शंका है कि स्वरूपत: तो हमारी सरकार संसदीय सरकार है परंतु तुलनात्मक दृष्टि से इसमें वास्तविकता कम है।

(2) मेरा दूसरा तर्क यह है कि किसी भी विधान से विशेषाधिकार स्पष्ट हो जायेंगे और पीठासीन प्राधिकारियों के लिये ब्रिटिश संसद के वर्तमान विशेषाधिकारों की परिभाषा द्वारा उन्हें विस्तृत करने का या परिवर्जित करने की गुंजाइश नहीं रहेगी। आज उन्हें उस सिद्धान्तों को भारत की स्थिति के अनुकूल बनने का सुअवसर प्राप्त है जिन पर इंग्लैंड के विशेषाधिकार आधारित हैं।

समिति ने जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किया है, उस पर विचार करने और ध्यान देने के पश्चात आपको निष्कर्ष निकालना होगा।

कार्यपालिका पर संसदीय नियंत्रण के बारे में निर्देश करते हुए मैं आपका ध्यान इस ओर दिलाना चाहता हूं कि प्रक्रिया नियमों में ऐसी लोक लेखा समिति और प्राक्कलन समिति बनाने का उपबंध करना वांछनीय है, जो पीठासीन प्राधिकारी के प्रति उत्तरदायी हों और संसद सचिवालय द्वारा काम करती हैं। यहां मैं आपका ध्यान संसद के प्रक्रिया और कार्य संचालन के नियमों के नियम 143 और 144 की ओर दिलाना चाहता हूं। समितियों के सभापति को नामनिर्देशित करने का प्राधिकार अध्यक्ष को सौंपा गया है और समिति के कार्य में जो शंका अथवा कठिनाई पैदा हो उसे निर्णय के लिये अध्यक्ष के पास भेजा जाता है। संसद सचिवालय उस जानकारी को, जो समिति कार्यपालिका सरकार से प्राप्त करना चाहती हो, मंगवाने का प्रबंध करता है। इस प्रकार समिति के कार्य और दृष्टि दोनों में तटस्थ स्वतंत्र और निर्लिप्त विचारधारा का प्रभाव पैदा होता है और समिति स्वतंत्रता के वातावरण का अनुभव करती है और कार्यपालिका भी उसकी अपेक्षा, जो शासकीय

सीमाओं और परिस्थितियों में संभव है, अधिक प्रभावी रूप में काम कर सकती है। आपको यह बताते हुए मुझे हर्ष होता है कि मैंने संसद की प्राक्कलन समिति में जो कुछ सुना है उसके आधार पर यह विचार व्यक्त कर रहा हूं और मुझे विश्वास है कि कुछ समय पश्चात् कार्यपालिका सरकार भी इस सहायता की सराहना करेगी, जो ये समितियां उसे दे रही हैं। यदि हम इस तथ्य का स्मरण करें कि प्रशासनिक तंत्र की विगत परंपरा में प्रशासन संबंधी ब्योरों से लोक प्रतिनिधियों को यथासंभव अधिक दूर रखा जाता रहा है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विषय का विशेष महत्व है। शासक वर्ग और सदस्य अब विरोधी दलों में नहीं हैं, जैसाकि वे पहले होते थे, और प्रशासन में बचत और कार्यकुशलता के लिये दोनों के पारस्परिक सहयोग में ही समान राष्ट्रीय हित है। तो भी इस प्रकार के मानसिक दृष्टिकोण के विकसित होने में कुछ समय लगेगा और तब तक यह संभव है कि ऐसी समितियों को न पसंद किया जाये अथवा उन पर संदेह किया जाये। फिर भी हमारा यह कर्त्तव्य होना चाहिये कि जो आधार मैंने ऊपर बताये हैं, उन पर उनकी रूपरेखा बनाई जाये।

इसे समाप्त करने से पूर्व मैं आपका ध्यान विधानमंडलों में भाषा के प्रश्न की ओर दिलाना चाहता हूं। इस संबंध में संविधान में अनुच्छेद 343, 345 और 351 का उपबंध किया गया था। मैं ब्योरे पर अधिक समय नहीं लेना चाहता। परंतु मैं समझता हूं कि हम में से प्रत्येक का भरसक प्रयत्न हिन्दी अथवा संविधान में उल्लिखित अन्य भाषाओं को प्रोत्साहन देने और जहां तक हमारी राष्ट्रीय चर्चाओं का संबंध है विदेशी भाषा के प्रभुत्व से मुक्त होने में सहायता करने के लिये होना चाहिये। मैं यह सुझाव नहीं देना चाहता कि हम अंग्रेजी को छोड़ देंगे अथवा हमें उससे कुछ विरोध है। यह विश्व की भाषा है, इसमें ज्ञान और साहित्य का भंडार है और हमारा इतिहास उस भाषा में निहित है। हम अपने हित के लिये भी इसकी अवहेलना नहीं कर सकते। परंतु कुछ भी हो राष्ट्रीय सभाओं में हमारे प्रतिनिधियों को अपने कार्य अपनी भाषा में करने के योग्य अवश्य हो जाना चाहिये।

14

प्राक्कलन समिति तथा प्रशासन*

इस समिति के काम के बारे में अब हमें एक वर्ष का अनुभव है। जब समिति की बैठक पहली बार हुई थी उस समय मैंने कार्य की व्याप्ति तथा समिति द्वारा प्रश्नों को किस ढंग से लिया जाना चाहिए इन बातों पर पर्याप्त रूप में कहा था। इसके बाद 5 दिसंबर, 1950 को मैं पुनः समिति में आया और उस समय हमने तब तक किये गये काम के बारे में विचार विनिमय किया। चूंकि यह समिति एक संसदीय समिति है, अर्थात् इस समिति के सदस्य संसद सचिवालय की सहायता से काम करेंगे, इस कारण मैं यह आवश्यक समझता हूं कि प्रायः इस समिति से संपर्क रखूं। बैठकों में भाषण देने के अतिरिक्त मैंने समिति द्वारा अंतिम रूप से अनुमोदित किये जाने से पहले प्रारूप प्रतिवेदन भी पढ़े हैं। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि यह जाना जाये कि एक विषय-विशेष के बारे में समिति क्या समझती है और क्या सोचती है। यद्यपि सभी निष्कर्षों के लिये समिति स्वतः उत्तरदायी है, किंतु मेरा उद्देश्य यह था कि क्या समिति के तर्क उनके निष्कर्षों को न्याय सिद्ध करते हैं और क्या निष्कर्षों के समर्थन में दिये गये तर्क उचित हैं। मैं स्वतः इस बात में विश्वास रखता हूं कि प्रतिवेदन की भाषा स्पष्ट तथा सुसंयत होनी चाहिए। इस कारण मैंने उन्हें देखते समय यह ध्यान रखा कि क्या प्रतिवेदनों की भाषा स्पष्ट तथा सुसंयत है। मैं समिति को धन्यवाद देता हूं कि उन्होंने मेरे सुझाव माने, यद्यपि वे सुझाव सामान्य प्रकार के थे।

समिति के उद्देश्य तथा कृत्य संसद के प्रक्रिया तथा कार्य संचालन संबंधी नियमों के नियम 145 में दिये गये हैं। अपने दैनिक कार्य के लिये भी समिति ने अपने नियम बनाये हुए हैं। उन सबसे आप परिचित हैं। इस बारे में मैं कुछ और बातें आप लोगों के सामने रखना चाहता हूं, जोकि इस दृष्टि से असाधारण महत्व की

* प्राक्कलन समिति के समक्ष भाषण, 7 मई, 1951

नहीं है कि वे नयी हैं। आप सब लोग उन बातों को जानते हैं। इस समिति के कार्य के महत्व को देखते हुए मैं उन्हें बताना आवश्यक-सा समझता हूं ताकि हमें इस बात का स्पष्टीकरण हो जाये कि हम इस देश में कैसी सरकार चाहते हैं और समिति उसी पृष्ठभूमि के आधार पर प्रशासन के तरीकों में बचत करने के सुझाव दे सके।

प्रशासन स्वत: ही कोई उद्देश्य नहीं है। प्रशासन देश की सरकार को समस्त रूप में अच्छे ढंग पर चलाने के लिये किया जाता है; इस कारण प्रशासन करने वालों का आचरण तरीका और रवैया उसी मूलभूत सिद्धांत पर आधारित रहना चाहिए। देश की सरकार प्रजातंत्रात्मक प्रणाली और मानवीय-समयबोध के आधार पर एक मानवीय ढंग से चले और प्रशासन केवल एक मशीन की भांति न हो जो केवल कुछ आदेशों तथा विधियों को ही क्रियान्वित करे। मैं आपका ध्यान इस मूल-भूत पहलू की ओर दिलाना चाहता हूं। मैंने इस बात को पर्याप्त समय से देखा है कि हमारे प्रशासकगण अच्छे तथा कार्यकुशल हैं, किंतु उनमें यह कमी है कि वे मानवीय दृष्टिकोण से काम नहीं करते। वे लोग नियमों तथा विनियमों पर बहुत जोर देते हैं—इसका परिणाम यह होता है कि जनसाधारण की ओर, जिनके हित के लिये सरकार चलाई जाती है, कोई ध्यान नहीं दिया जाता। मैं यह नहीं चाहता कि आप लोग इस बात को वेद वाक्य समझें—केवल इसी कारण कि यह बात मैंने कही है। मैं केवल अपना दृष्टिकोण आप लोगों के सामने रख रहा हूं, क्योंकि यहां हम सब साथियों के रूप में एक समान उद्देश्य के लिये एकत्रित हो रहे हैं।

मैं समझता हूं कि हमारे यहां प्रशासन का अतिशय केंद्रीयकरण होता जा रहा है। मैं यह समझता हूं कि जहां तक संभव हो सके हमें प्रशासन का विकेंद्रीकरण करना चाहिए। जब तक हम यथासंभव विकेंद्रीकरण नहीं करेंगे तब तक इतने बड़े देश को लोगों की भलाई के लिये प्रजातंत्रात्मक ढंग पर प्रशासित करना संभव न होगा। इसलिए हमारे प्रशासन का उद्देश्य विकेंद्रीकरण होना चाहिए। यद्यपि हमारे विभाग विभिन्न हों, किंतु हमें विभागवाद कम करना चाहिए। दूसरे शब्दों में हमें सर्वोदय दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। दुर्भाग्य से हमारे प्रशासन की पद्धति में यद्यपि सुविधा के लिये काम का विभाजन होता है, किंतु हमारा दृष्टिकोण इस सीमा तक अनम्य हो गया है कि एक विभाग को यह पता नहीं कि दूसरे में क्या हो रहा है और किसी भी समस्या को सारे समाज को प्रभावित करने वाले एक महान् समष्टिगत काम का अंग नहीं समझा जाता।

मैं इन बातों के बारे में अधिक नहीं कहना चाहता, किंतु यदि आप कानून बनाने के कार्यक्रमों को देखें, अर्थात उन कार्यक्रमों को, जिनके द्वारा हमने अपने उद्योगों पर नियंत्रण रखना है—आप देखेंगे कि समस्याओं को व्यक्तिगत रूप से लिया गया

है—सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन पर तथा अन्य पहलुओं पर उचित विचार नहीं किया गया। उदाहरणस्वरूप श्रम संबंधी समस्याओं पर विचार करते समय हम उद्योग की प्रगति के बारे में बिल्कुल ध्यान नहीं देते। मेरा यह आशय नहीं है कि हम उस ओर प्रगति नहीं चाहते—किंतु उस संबंध में हम केवल एक ही ओर ध्यान देते हैं। इसी प्रकार से जब हम मध्यवर्ती व्यक्ति के बारे में विचार करते हैं, तो हम यही सोचते हैं कि समस्त प्रयत्न मध्यवर्ती व्यक्ति द्वारा प्राप्त किये जाने वाले लाभों को समाप्त करने के लिये किये जायें, उस समय हम न तो समाज के हित को ही ध्यान में रखते हैं और न ही उस प्रकार के कार्य से उत्पन्न होने वाली बेकारी की ही ओर ध्यान दिया जाता है। आप किसी विधेयक को लें, आप केवल कुछ ऐसी स्थितियों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं पर, जो आपको असह्य अथवा अयुक्तियुक्त प्रतीत हों, विधि नहीं बना सकते। आपको समस्त समाज की आर्थिक व्यवस्था पर विचार करना होगा—उसकी समस्त स्थिति पर विचार करना होगा। जो सुधार हम करना चाहें, उसका संबंध समाज की सामूहिक प्रगति से होना चाहिए।

प्रजातंत्र का मूल सिद्धांत वयस्क मताधिकार के आधार पर मत देना ही नहीं है। मत से तो केवल एक व्यवस्था होती है और वह उद्देश्य की प्राप्ति के लिये एक तरीका है। यदि हम चाहते हैं कि प्रजातंत्र ठीक ढंग से चले तो काम इस प्रकार से होने चाहिएं कि प्रत्येक व्यक्ति सरकार के कामों में पूर्ण सहयोग देने के लिए उद्यत हो। केवल बल-प्रयोग से ही आप विधियों को लागू नहीं कर सकते। यदि सरकार शक्ति से विधि तथा व्यवस्था बनाये रखने या अपनी नीतियों को लागू करने के लिये अत्यधिक पदाधिकारी रखें, तो देश में शक्ति तथा प्रगति असंभव हो जायेगी। जितने अधिक कानून हम बनायेंगे उतना ही अधिक लोग उनसे बचने का प्रयत्न करेंगे और लोगों का नैतिक स्तर नीचा होगा। इसलिए जो कुछ महात्मा गांधी ने कहा था हमें उसका महत्व समझना चाहिए। उन्होंने कहा था कि स्वराज्य वही है जहां लोगों का अधिकाधिक लाभ हो और जहां कम से कम कानून हों तथा कम से कम सरकार का हस्तक्षेप हो। इसे चाहे आप विकेंद्रीकरण कहें—अथवा प्रगति कहें या जनता द्वारा स्थिति का बुद्धिमत्तापूर्ण समयबोध कहें या पदाधिकारियों द्वारा कम हस्तक्षेप कहें—किसी भी नाम से इसे पुकारा जा सकता है। सारांश यह है कि हमें इन्हीं तरीकों का अनुसरण करना चाहिए। इसका बुनियादी पहलू इस प्रकरण से संगत है और महत्वपूर्ण है, क्योंकि आपको सरकार के विभिन्न विभागों को देखना है और आपको इस बात की समीक्षा करनी है कि उनकी नीतियां कहां तक न्याय्य हैं और उन्हें अच्छा बनाने के लिये, उन्हें बदलने के लिए हमें क्या करना चाहिए। निस्संदेह ये बातें सभा की जांच करने की मदों में नही आतीं, किंतु यदि समिति इन मूलभूत बातों पर सदैव ध्यान रखे तो मुझे विश्वास है कि समिति यदि

प्रत्यक्ष रूप से नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य ही सरकार की नीति पर प्रभाव डाल सकती है। मैं चाहता हूं कि विभिन्न समस्याओं पर विचार करते समय समिति इस मूल सिद्धांत पर अवश्य ही ध्यान रखे।

जहां तक समिति के काम का संबंध है, मैं समझता हूं कि आपने चार मंत्रालयों के प्राक्कलन देखे हैं। आपने उद्योग तथा संभरण, वाणिज्य, निर्माण, खनिज तथा विद्युत मंत्रालयों का काम देखा है और आपने सचिवालय के पुनर्गठन तथा भारत सरकार के विभागों के पुनर्गठन पर भी विचार किया है। मैं समझता हूं कि आपके प्रतिवेदन बड़े लाभदायक हैं। इन प्रतिवेदनों की अपनी अच्छाइयों के अतिरिक्त जिस बात की प्रशंसा मैं करता हूं वह यह है कि संसद सदस्य प्रशासन संबंधी बातों को अच्छी तरह समझने लगे हैं, प्रशासन की गलतियों को समझने लगे हैं। प्रजातंत्रात्मक सरकार की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक संसद सदस्य इस बात को समझे कि एक मंत्री को क्या कुछ करना पड़ता है। केवल आलोचना करना ही पर्याप्त नहीं है और न यह कहना ही पर्याप्त है कि उन्होंने एक विशेष मामले में क्या किया है। हमें पता होना चाहिए कि सरकार के सामने कितने अधिक काम हैं और हमें बहुत-सी समस्याओं के अध्ययन की आवश्यकता को समझना चाहिए। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि एक मंत्री बिना उचित अध्ययन के ठीक-ठीक निष्कर्ष निकाल सकता है। कई समस्याओं पर विचार करना पड़ता है। उसी दृष्टिकोण से मैंने कई बार यह अनुभव किया है कि हमारे विधि बनाने के तथा दूसरे कार्यक्रमों में एक त्रुटि यह है कि उन्हें पूरी तरह समझा नहीं जाता। कई बार माननीय सदस्य शिकायत करते हैं कि अमुक विधेयक का प्रारूप आज अच्छा नहीं है। किंतु क्या आप आशा करते हैं कि सब बातें एक साथ भी हो जायें और पूर्ण रूप से ठीक भी हों। स्थिति की पूरी जानकारी के अतिरिक्त इन बातों को समझने के लिये भी पूरा समय चाहिए। मैं यह अपने अनुभव के आधार पर कह रहा हूं। वास्तविक आवश्यकता शीघ्र कानून बनाने की नहीं है या यह भी आवश्यक नहीं कि बेढंगे तरीके से कुछ परिवर्तन कर दिये जायें, किंतु बीमारी की रोकथाम के लिये गहन अध्ययन तथा अधिक ध्यान देने की जरूरत है।

विधि बनाते समय हम लोग विधियों के आधार-गत सिद्धांतों को स्पष्टतया नहीं समझते। बड़े उद्योगों की तुलना में कुटीर उद्योगों का उदाहरण लीजिये। यह प्रश्न समस्त देश की औद्योगिक प्रगति का प्रश्न है। यदि भारत विकसित होना चाहता है तो हमारा ध्यान ग्राम तथा कुटीर उद्योगों पर जाना चाहिए। हमें उनका प्रसार करना चाहिए तथा विकेंद्रीकरण करना चाहिए। इन विचारों को आसानी से व्यक्त किया जा सकता है। बड़ी कठिनाई यह है कि इन विचारों को कैसे लागू किया जाये। यह काम एक समिति बनाकर या कानून बनाकर नहीं किया

जा सकता। हमें ऐसे व्यक्तियों की जरूरत है, जिन्होंने इन समस्याओं पर विचार किया हो, देश में घूमकर इनका अध्ययन किया हो और इन समस्याओं पर अधिकृत रूप में बोलने की अर्हता रखते हों। इन बातों में समय लगता है। केवल कानून बनाते जाने से काम नहीं चलेगा जब तक कि कम से कम आप यह न देखें कि कानून किस प्रकार चल रहा है। सरकार के प्रशासन का पुनरीक्षण करते समय आपको माननीय दृष्टिकोण नहीं छोड़ना चाहिए, आपने लाल-फीताशाही के बारे में सिफारिशें की हैं। आप लाल-फीताशाही को कैसे दूर कर सकते हैं जब तक आप प्रशासन का विकेंद्रीकरण नहीं करते और अधीनस्थ कर्मचारियों को अधिक शक्तियां नहीं देते। मैं मानता हूं कि शक्तियों के दुष्प्रयोग की संभावना है, किंतु यह तो संतुलन का प्रश्न है।

एक उदाहरण आपके सामने रखूंगा, जिससे आपको स्पष्ट हो जायेगा कि यह रोग हमारे प्रशासन में कहां तक घर कर गया है। मैं कपड़े के नियंत्रण के बारे में बताऊंगा। मैंने अहमदाबाद के एक मामले की ओर माननीय वाणिज्य मंत्री का ध्यान दिलाया था। अहमदाबाद में 'चिट-प्रिंटों' का एक वर्ग है। इस काम में दो हजार लोग लगे हुए हैं और हाथ से काम करके वे अपना पेट भरते हैं। जब प्रथम बार कपड़े का नियंत्रण हुआ तो यह व्यापार किसी तरह चलता रहा। किंतु जब नियंत्रण दोबारा लगा तो कपड़े की तंगी हो गयी और चीजें चोर बाजार में मिलने लगीं। इस कारण इन लोगों ने अपना एक संघ बनाया। 750 परिवार इसके सदस्य थे। कुछ लोग मुझे जानते थे और उन्होंने अपनी कठिनाइयां मुझे बतायीं। उन्होंने कहा कि हमें कम से कम 500 गांठ प्रति माम की जरूरत है। एक गांठ में 1500 गज कपड़ा होता है। आप समझ सकते हैं कि 1500 गज की छपाई से चार या पांच व्यक्तियों के परिवार का क्या बन सकता है। मई, 1950 से वे अपना अभ्यंश न ले सके। इन लोगों ने स्वर्गीय सरदार पटेल को भी अपनी तकलीफें बतायीं थीं जब वह अहमदाबाद में थे। उन्होंने इस मामले में कार्रवाही की, फिर एक पत्र केंद्र से या वस्त्र आयुक्त बंबई से आया कि उन्हें प्रतिमास 200 गांठें मिलेंगी। इन गरीबों को केवल कागजी वायदे मिलते रहे। इस वर्ष जनवरी के अंत तक जब वाणिज्य मंत्री अहमदाबाद गये, तो उन्होंने दोबारा अभ्यावेदन किया। उत्तर में विभाग ने कहा कि उनका अभ्यंश बढ़ाकर 300 गांठें कर दिया गया है। वास्तव में उन्हें दिया कुछ भी नहीं गया। कपड़ा कभी नहीं दिया गया। यही हालत चलती रही और वे लोग 10 अप्रैल को मुझे दोबारा अहमदाबाद में मिले। मैंने उनकी बातें सुनीं और सारे पत्र आदि पढ़े। मैंने यह जाना कि मई, 1950 से 10 अप्रैल तक जो सामान उन्हें दिया गया वह कुल 493 गांठें थीं, उनसे वायदा यह किया गया था कि उन्हें 200 गांठें प्रतिमास दी जाया करेंगी, और इस वर्ष जनवरी से यह कोटा बढ़ाकर 300 गांठें कर दिया गया था। इसके बाद मैंने मंत्री को एक

नोट लिखा। उन्होंने वायदा किया कि जो कुछ वह कर सकेंगे करेंगे। दो दिन हुए मुझे मंत्री ने सूचना दी कि 481 गांठें देने की आज्ञा अभी 24 अप्रैल को जारी की गयी है। किंतु जांच करने पर मुझे मालूम हुआ कि 5 मई तक भी कोई माल वहां नहीं पहुंचा है। इस बीच में क्या कुछ हो रहा था। काम न होने के कारण ये लोग अपनी जायदाद बेच रहे थे और कई लोग तो वास्तव में भूखे मर रहे थे। प्रशासन में यह कैसी लाल-फीताशाही चल रही है?

मेरा आशय है कि आप मानवीय दृष्टिकोण से इन बातों पर विचार करें और प्रशासन करने वालों को जनसाधारण पर अधिकाधिक श्रद्धा रखनी चाहिए।

मनुष्य की यह कमजोरी है कि वह एक दृष्टिकोण के अनुसार ही तथ्य ढूंढ़ने का प्रयास करता है। मैं समझता हूं कि वह तरीका गलत है। जो तथ्य मंत्रालय हमारे सामने रखे, हमें उन सबको देखना चाहिए और फिर कुछ निष्कर्ष निकालने चाहिएं, भले ही वे निष्कर्ष सदैव सत्य न हों। यदि हम गलत हों तो हमें दोबारा गलती ठीक करने के लिये तैयार रहना चाहिए। सबसे अच्छा तरीका यही है और जब तक यह तरीका न हो मैं समझता हूं कि हम प्रशासन को अच्छा नहीं बना सकते। ठीक तथ्यों तथा बातों पर आधारित आलोचना सरकार के अधिक लोगों तक ठीक प्रकार से पहुंचेंगी। यदि गलतियां करना मंत्री चाहें तो करते रहें। उन्हें बहुत काम करना पड़ता है इसी कारण वे गलतियां कर सकते हैं। किंतु जहां तक तथ्यों का संबंध है, आपकी रिपोर्ट में एक भी ऐसी बात नहीं होनी चाहिए जो साक्ष्य से सिद्ध न होती हो। ऐसे प्रतिवेदनों से ही हमारी समिति की प्रतिष्ठा बढ़ेगी। यदि कोई अनियंत्रित बात कही गयी है जिसे समिति को वापस लेना पड़े तो उससे समिति की प्रतिष्ठा घटेगी। जो बात हम कहें वह ठोस तथ्यों पर आधारित होनी चाहिए।

अधिक आवश्यक बात एक यह है कि अध्ययन वर्गों को संगठित किया जाये। मैं इस पर सदैव आग्रह करता रहा हूं और अन्तःसंसदीय संघ में माननीय सदस्यों ने भी इसके बारे में सहमति प्रकट की थी। विभिन्न विषयों के अध्ययनार्थ अध्ययन वर्ग बनाने की बहुत गुंजाइश है—इससे समिति ज्यादा काम कर सकती है। यह कोई विशेष बात नहीं है कि सारे मंत्रालयों को देखा जा सकता है या नहीं। हम एक मंत्रालय को तीन वर्ष में भी देख सकते हैं, क्योंकि मुझे विश्वास है कि जिन बातों का परीक्षण आप एक मंत्रालय में करेंगे, उनका प्रभाव दूसरे मंत्रालयों पर भी पड़ेगा। यदि आप गलतियां करने की संभावना के साथ ज्यादा काम करने की कोशिश करेंगे तो इस समिति का उद्देश्य ही नष्ट हो जायेगा। इस कारण हमें गहन विचार करना चाहिए।

15

वित्तीय नियंत्रण
लोक लेखा समिति*

प्राक्कलन समिति, एक प्रकार से वर्ष के चालू व्यय से ही संबंधित नहीं, उसे चालू प्रशासन को भी देखना होता है। इसमें मेरा यह अभिप्राय नहीं कि समिति का प्रशासन से कोई संबंध ही नहीं और इसका कार्य प्रायः घटना के घटित होने के पश्चात् पुनरीक्षण करना है। चालू प्रशासन पर भी यह काफी प्रभाव डाल सकती है, क्योंकि पुराने अनुभवों से हमेशा लाभ ही होता है। इसलिए समिति के अनुभव और सुझाव प्राक्कलन समिति के लिए काफी लाभदायक होते हैं। उनकी चर्चाएं भी काफी लाभदायक होती हैं, यद्यपि उतनी नहीं जितनी कि आप लोगों की चर्चा प्राक्कलन समिति के लिए लाभदायक होती है। इस प्रकार दोनों समितियां एक-दूसरे पर निर्भर हैं। एक प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि सदन की सभी समितियां परस्पर निर्भर हैं, क्योंकि वे सभी जनता के हितों की रक्षा करने वाले हमारे लोकतंत्र के एक ही निकाय के विभिन्न अंग हैं।

और जब हम भारत सरकार जैसे बड़े प्रशासन-निकाय की ओर आकृष्ट होते हैं, जिसका कि सारे संघ के साथ संबंध है, तो हमें पता चलता है कि वित्त नियंत्रण की सबसे अधिक आवश्यकता है। वित्त नियंत्रण का यह अर्थ नहीं कि हम किसी के सर पर जम कर बैठ जायें। नहीं, बल्कि हमें स्वयं अपने ऊपर जम कर बैठने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि हम भी दूसरे मार्ग से एक ही लक्ष्य के लिए प्रयत्नशील हैं। मंत्रालय कार्य करता है। फिर सारे प्रशासन से संबद्ध विभिन्न मंत्रालय कार्य करते हैं, यद्यपि वे विभागों के रूप में ही होते हैं, परंतु उनका लक्ष्य सामान्य ही होता है। जैसे एक शरीर के सभी रगों में एक ही खून चलता है और

* लोक लेखा समिति के समक्ष भाषण, 9 मई, 1951

शरीर के विभिन्न अंगों के विकास के लिए खून की सफाई आवश्यक है, ताकि शरीर ठीक ढंग से कार्य कर सके। इसी प्रकार प्रशासन में, यद्यपि विभिन्न विभागों को विभिन्न कार्य दिये जाते हैं, परंतु सभी ओर पवित्रता या आदर्श एक जैसे होने चाहिएं। यदि इस बात का ध्यान रखकर कार्य नहीं किया जाता, तो जनता के श्रेष्ठतम हितों और प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण का ध्यान रखने वाला प्रशासन चलाना असंभव है। यह नियम कुछ लोगों के लिए नहीं प्रत्युत सभी लोगों के समग्र लाभ के लिए है। इसी दृष्टि से वित्त नियंत्रण के ढांचे का समुचित ढंग से निर्माण करके उसे बड़े ध्यान से कार्यान्वित किया गया है और मेरे विचार में यह अच्छे प्रशासन के लिए परमावश्यक भी है। प्रशासन कोई एक प्रकार की मशीन तो होती नहीं। इसमें मानवीय अंग और पुट रहता ही है। हमें नियमों का गुलाम नहीं रहना चाहिए, परंतु यह भी नहीं कि हम मनमानी करते रहें। हमें कुछ नियमों और विनियमों के अनुसार ही कार्य करना चाहिए। परंतु वित्त नियंत्रण आवश्यक है, क्योंकि इतना बड़ा विशाल प्रशासन है, एक भाग को यह पता नहीं कि दूसरा भाग क्या कर रहा है। प्रत्येक अंग और भाग का ध्यान अपने ही सीमा-क्षेत्र के भीतर रहता है। यह महंगा रहता है। कई बार एक काम कई विभागों में हो जाने से समय और धन की व्यर्थ हानि होती है। इसलिए आवश्यक है कि सभी खर्चों की पूर्ण पड़ताल की जाय और जब हम देश के प्रत्येक कोने के मानव पर कर लगाने के अधिकार का उपयोग कर रहे हैं, तो हमारी जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती है। क्योंकि हम जिन पर कर लगा रहे हैं, वह मानव अभी इतना सचेत नहीं हुआ और उसे अभी यह पता नहीं कि जो कुछ उससे करों के रूप में लिया जाता है, उसका हिसाब और ब्योरा मांगने का उसे अधिकार प्राप्त है। इस स्थिति में हमारा उत्तर-दायित्व और भी बढ़ जाता है।

इसलिए मेरा यह विश्वास है कि किसी लोकतंत्रीय और संसदीय सरकार में बहुत अधिक वित्त नियंत्रण संभव नहीं और यह भी संभव है कि कई बार हमारी आलोचना गलत या हास्यास्पद धारणाओं से प्रेरित होती है और धारणा भी ऐसी होती हैं कि जिसका वास्तविकता से दूर का भी वास्ता नहीं होता। फिर भी इन सब बातों का ध्यान रखते हुए भी यह शिकायत करना संभव नहीं कि नियंत्रण बहुत अधिक है। पहली बात तो यह है कि आपकी स्वीकृति के बिना सरकार कुछ खर्च नहीं कर सकती। यह नियंत्रण की प्रथम सीढ़ी है। यदि आप सरकार के तरीकों से असंतुष्ट हैं तो हम कह सकते हैं, "कि हम आपको बजट अनुदान की अनुमति नहीं देंगे।" यह हम कहां तक कर सकते हैं यह दूसरी बात है। मैं सिद्धांत की बात कर रहा हूं और हमारा प्रयत्न संसदीय सरकार की प्रणाली द्वारा अपना लक्ष्य प्राप्त करना है। दूसरा नियंत्रण यह है कि सारी राशि पहले संचित निधि में डाली जाती है ताकि केवल मतदान हो जाने पर ही कुछ निकाला जा सके। धन निकालने से

पूर्व विधानमंडल या विभाग का समाधान हो जाना चाहिए कि धन उसी उद्देश्य के लिए लिया जा रहा है जिसके लिए कि उसे स्वीकृत किया गया है।

फिर प्राक्कलन समिति भी है, जो एक प्रकार का नियंत्रण रखती है और इस बात का परीक्षण करती है कि यह प्राक्कलन कहां तक ठीक है और इसमें बचत की कोई गुंजाइश है इत्यादि। इसके बाद लेखा-परीक्षण है जो कि यह देखती है कि धन का खर्च समुचित ढंग से किया गया है और उसका हिसाब ठीक तरह से रखा गया है। हिसाब रखना औपचारिक बात नहीं, प्रत्युत सार की बात है। हम चाहते हैं कि स्वराज्य में लोग इतने शक्तिशाली हो जायें कि वे सरकार को कर के रूप में एक पैसा भी देने से इन्कार करें, जब तक कि सरकार उन्हें संतुष्ट न कर दे कि जो कुछ भी करों के रूप में लिया गया है उसे बहुत अच्छी प्रकार जनता के हित के लिए खर्च किया गया है। वास्तव में यही स्वराज्य का सार है। और यही हमारा भी लक्ष्य है।

जब यहां लेखा-परीक्षक इन लेखाओं की जांच पड़ताल कर लेता है, तो वह आपके समक्ष आती है। यह ठीक है कि लेखा-परीक्षक की जांच खर्चे के मामले में समिति होती है। यह इसलिए होता है कि खर्चों के क्षेत्रों की जांच अलग-अलग होती है और इसमें उत्तरदायित्वों का भी विभाजन होता है। लेखा-परीक्षक जब खर्चे के विषय को लेगा, तो सबसे पूर्व वह इस बात का मिलान करेगा कि बजट में इसकी व्यवस्था की गयी थी अथवा नहीं और क्या इस पर मतदान हो चुका है? और क्या नियमों और विनियमों के अनुसार वित्त मंत्रालय की अपेक्षित स्वीकृति प्राप्त की जा चुकी है? प्रहरी की भांति लेखा-परीक्षक इस बात को देखेगा कि कुछ भी संसद द्वारा आय-व्ययक अनुदान पारित किये गये बिना अनधिकृत रूप से निकाला न जाये। और जो कुछ निकाला जाय उसका उसी उद्देश्य के लिए उपयोग किया जाय, जिसके लिए वह है। उदाहरण के लिए यदि कोई अनाज बीज के लिए दिया गया है, तो लेखा-परीक्षक देखेगा कि वह केक बनाने पर खर्च न किया जाये बल्कि बीज के लिए ही उसका प्रयोग किया जाये। यही लेखा-परीक्षण का उद्देश्य होता है। अंतिम रूप में यदि धन ठीक और समुचित ढंग से खर्च हुआ है, परंतु उसकी अपेक्षित स्वीकृति नहीं थी, तो लेखा-परीक्षक इस दोष को बतायेगा।

इस प्रकार की सारी जानकारी इसलिए महत्वपूर्ण है कि हमें यह देखना है कि हमारे निर्मित नियम कहां तक खर्चे और लेखे की दक्षता को कायम रख पाये हैं। गलत प्रमाणक (वाउचर) और गलत लेखा एकदम दूसरी बात है। सरकार विधानमंडल और लेखा-परीक्षक की पूरी जागरूकता और नियंत्रण के बावजूद जनप्रशासन में गलत लेखा और गलत रिपोर्टें तो प्राप्त होती ही रहती है, परंतु यह अपवाद की बात है, नियम की नहीं। इस प्रकार के मामले लोक लेखा समिति के

समक्ष लेखा-परीक्षक की रिपोर्ट के साथ प्रस्तुत होते हैं। उसमें सभी मामलों की अनियमितताएं तथा ऐसे खर्चे को स्पष्टतया सामने लाया जाता है जिन्हें स्वीकृति के बिना और समुचित प्राधिकार के आदेश के बगैर खर्च किया गया है।

उस समय इससे भी कुछ आगे देखना इस समिति का काम है। चूंकि समिति के सदस्य संसद के सदस्य होते हैं, इसलिए उनका यह कर्तव्य होता है कि वे देखें कि प्रत्येक खर्चा नियमानुकूल किया गया है अथवा नहीं। क्योंकि उन लोगों को बहुत बड़ा उत्तरदायित्व सौंपा गया है। लोक लेखा समिति के सदस्य होने के नाते, आपको यह नहीं देखना कि खर्चे के गुणागुण क्या हैं, प्रत्युत आपको यह देखना है कि जो खर्चा लेखे में दिखाया गया है वह विधिवत् उपलब्ध है या नहीं, और उसको उसी उद्देश्य के लिए खर्च किया गया है जिसके लिए कि उसे निर्धारित किया गया था। संसद के सदस्य होने के नाते, जो कि आय-व्ययक पारित करती है, इस प्रकार का ज्ञान स्वीकृति के समय प्राक्कलनों पर नियंत्रण का काम देता है और यह जानकारी प्राक्कलन समिति और स्थायी समिति के भी काम आती है। इसलिए संसद की समितियां, जो एक न एक समय इस बात पर विचार करती है, इस बात को देखेंगी कि अमुक खर्चा क्यों स्वीकृत किया गया था। यद्यपि वे उसकी नीति को समझने का प्रयत्न करती हैं, परंतु उस पर चर्चा नहीं करतीं। मैं इसको और स्पष्ट किये देता हूं मेरा कहना है कि समिति को यह अधिकार होगा कि वह इस बात पर विचार करे। विशेष प्रकार की नीति के अंतर्गत खर्च किया गया धन ठीक था अथवा नहीं। लेखा-परीक्षक इस मामले में नहीं पड़ सकता। वह तो कहेगा कि अमुक प्रस्ताव के अनुसार यह खर्चा किया गया। उसको प्रमाणित कर देगा। परंतु संसद के सदस्यों की समिति, जो कि देश में अच्छे प्रशासन के लिये उत्तरदायी है, यह देखेगी कि यद्यपि जहां तक लेखे का प्रश्न है खर्चा समुचित ढंग से किया गया और उसकी स्वीकृति भी ठीक है, फिर भी उसे यह भी देखना है कि जिस नीति के अंतर्गत यह काम किया गया वह नीति ठीक और लाभदायक है अथवा नहीं। और क्या उस दृष्टिकोण से धन का समुचित रूप से प्रयोग किया गया है। यह कार्य थोड़ा विस्तृत है, परंतु सार रूप में आपका जो मत बनता है और जो अनुभव आपको प्राप्त होता है, उससे प्रशासन को काफी लाभ पहुंचता है। और मेरे विचार में यही इस समिति का कार्य है। समिति का इतना ही कार्य नहीं कि अनियमितताएं बता दी जायें। आपकी नियुक्ति विधानमंडल द्वारा की गयी है, इसलिए यदि जिस बात पर आप संतुष्ट न हों, वह उसे न बतायें, तो संसदीय समिति बनाने का कोई लाभ नहीं होता।

संसदीय समिति का लाभ इसी में है कि योजनाओं को कार्यान्वित करने से प्राप्त अनुभव के आधार पर परीक्षण किया जाये और फिर संसद को अपना परा-

मर्श तथा रिपोर्ट प्रस्तुत की जाय कि स्वीकृति धन ठीक ढंग से खर्च हुआ है अथवा नहीं, और क्या यह खर्चा राष्ट्र-हित में है। प्राक्कलन समिति इन प्राक्कलनों पर विचार करेगी, वह भी भिन्न रूप में इसी कार्य का अंग है। वह भी इसी समिति की तरह इस पर विचार करेगी जैसे यह समिति आपके अनुभव के आधार पर विचार करती है। क्योंकि आखिर वे प्रयत्न तो यही करते हैं कि आगे के लिए कुछ बचाया जाय। यहां आपके पास अतीत का चित्र होता है, जो वित्त मंत्रालय, सरकार और प्राक्कलन समिति को और अपेक्षतया ठीक स्थिति में रखता है। यही मेरे विचार में समिति का क्षेत्र है। कई बार नियमों का उल्लंघन हो जाता है। मेरे विचार में यदि आप प्रशासन को एक इकाई के रूप में रखना चाहते हैं और विभागों में बांटना नहीं चाहते, तो कोई भी वस्तु स्वतंत्र रूप में पूर्ण नहीं। इस मामले में परस्पर निर्भरता चलती है। जैसे मेरा हाथ मेरी आंखों से भिन्न है, परंतु दोनों ही मेरे एक शरीर का अंग है। सबमें एक ही खून बहता है और एक अंग का दूसरे से संबंध है। वित्त के उद्देश्यों से और अच्छे कामों के लिए हम विभिन्न विभाग और समितियों का निर्माण करते हैं और यदि कोई पूछे कि वे एक दूसरे से अलग है, तो मैं कहूंगा कि सिद्धांत रूप में ऐसा नहीं हो सकता। वे सब स्वतंत्र हैं और बहुत अधिक प्राविधिक न होते हुए विशाल दृष्टिकोण से मामले पर विचार करते हैं। यह वे लक्ष्य हैं जिनका मैं उल्लेख कर चुका हूं।

'लोक लेखा और संसदीय नियंत्रण' के संबंध में 'बासिल चुब' की एक टिप्पणी आपके पास भेजी गयी है। मेरा विचार है कि आपने उसका अध्ययन किया होगा। यह बहुत मनोरंजक है और इस संबंध में मैं केवल तीन बातों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करवाना चाहता हूं। जैसाकि परिभाषित किया गया है कि समिति का काम यह देखना है कि धन संसद की इच्छानुसार खर्च किया है। यह बड़ी महत्वपूर्ण बात है। महा लेखा परीक्षक के मुकाबले में संसद सदस्य, संसद की राय को अधिक समझ सकते हैं और उसकी इच्छा और निर्णय को अच्छी प्रकार कार्यान्वित कर सकते हैं। दूसरी बात मुनासिब बचत करने की है और तीसरी यह कि वित्तीय मामलों में सार्वजनिक नैतिकता के स्तर को बहुत ऊंचा रखा जाय। जहां भी हमें फिजूलखर्ची नजर आये, चाहे वह किसी अधिकारी अथवा संसद सदस्य के हितों के विरुद्ध भी जाती हो, तो भी इस समिति को उसको बताना चाहिए। यदि हम अपने देशवासियों की दृष्टि में ऊपर उठना चाहते हैं, तो हमें ईमानदारी से काम करना चाहिए। यदि कोई गलत बात है तो किसी की नाराजगी की चिंता न करते हुए, हमें उसके विरुद्ध आवाज उठाकर जनमत पैदा करना ही चाहिए। सार्वजनिक नैतिकता के उच्च स्तर को कायम रखने के संबंध में यह सबसे महत्वपूर्ण बात है।

अन्य मामलों को लेने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं। इस टिप्पणी में एक-दो बातें बड़ी लाभदायक हैं जिनकी ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं। जहां तक आय-व्ययक-प्राक्कलनों का संबंध है, जब तक प्रस्ताव स्वीकृति के लिए संसद के समक्ष है तब तक आप अपने दलगत कार्यक्रम के अनुसार उस पर राय प्रकट कर सकते हैं। परंतु जब स्वीकृति हो जाये, चाहे वह भारी बहुमत से हो अथवा थोड़े बहुमत से, यह सारे सदन की स्वीकृति है। देश के प्रत्येक व्यक्ति और संसद के प्रत्येक सदस्य को संसद के इस अंतिम निर्णय का आदर करना चाहिए। हम सभी विधेयक तो सर्वसम्मति से पास करते नहीं। बहुत मतभेद होते हैं। परंतु क्या कोई यह कह सकता है कि मैंने चूंकि किसी कानून विशेष के विरुद्ध मत दिया है, इसलिए वह मुझ पर लागू नहीं होता? ऐसे ही जब भी खर्चा सदन द्वारा स्वीकृत हो जाय, चाहे आप उसे पसन्द करें अथवा न करें, उसके परीक्षण के समय किसी को दलगत राजनीति से प्रभावित नहीं होना चाहिए। क्योंकि किये गये खर्चे पर निर्णय के समय अपनी पसन्द और नापसन्द हमारे समक्ष नहीं होनी चाहिए। यदि खद्दर पर खर्चा किया गया हो और वह अनियमित हो, तो आप इस बात की उपेक्षा नहीं कर सकते। आप आदिम जातियों का उत्थान चाहते हैं, परंतु इस संबंध में यदि कोई ऐसा खर्चा है जो कि अनियमित है तो इसी कारण से आपको उसे 'सब ठीक है' कभी नहीं कहना चाहिए चाहे वह आपके विचार में अच्छे उद्देश्य के लिए खर्च किया गया है। आपको उसके अनुसार चलना है जो कि संसद कह चुकी है। संसदीय आधार की लोकतंत्रीय सरकार का यही सिद्धांत है। चर्चा करते समय विरोध प्रकट किया जाता है और विभाजन भी होते हैं परंतु अंतिम निर्णय होते ही प्रत्येक व्यक्ति का प्रयत्न उसका समर्थन करना ही होना चाहिए। वह अलग बात है कि यह अधिकार सबको प्राप्त है कि किसी निर्णय को बदलवाने के लिए आंदोलन किया जाय। परंतु जब तक वह निर्णय कायम है, हमें उसे कार्यान्वित करने में वफादार रहना चाहिए। जब तक इस प्रकार की मनोवृत्ति का विकास नहीं होता, तब तक संसदीय प्रणाली की सरकार को सफलतापूर्वक चलाना असंभव है। सीधा निष्कर्ष यह है कि इन लेखा-परीक्षकों में दलगत राजनीति का कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए।

अन्य बात जिस पर प्रायः मैंने जोर दिया है इस परीक्षण के प्रति हमारे दृष्टिकोण की है। यह दृष्टिकोण एक विरोधी का नहीं होना चाहिए, जो कि गलतियां निकालने पर ही तुला हो। यद्यपि समिति का कर्तव्य भूलों का पता लगा कर उन्हें ठीक करना है। सरकार, लेखा परीक्षण विभाग तथा संसद सचिवालय के अधिकारी तथा संसद सदस्य, सभी एक विशाल परिवार के अंग हैं, सभी एक सामान्य उद्देश्य के लिए अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। इसलिए विभिन्न सेवाओं के स्थायी अधिकारियों को, चाहे वे कार्यपालिका-सरकार के हों अथवा लेखा परीक्षण विभाग, के और चाहे किसी और सरकारी दफ्तर के, विरोधी समझने का दृष्टिकोण अब समाप्त

हो जाना चाहिए। यह विचार कि उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता और उस पर हमेशा प्रतिप्रश्न होना ही चाहिए और इस प्रतिप्रश्न में भी यह बात पहले ही मान लेना कि वह हमसे कुछ छिपाना चाहता है, गलत दृष्टिकोण है। यह अवसर की बात है कि एक संसद में है और दूसरा सेवाओं में है। सरकारी सेवाओं में काम करने वाले व्यक्ति संसद में आने वाले व्यक्तियों से कम प्रतिष्ठित नहीं होते। प्रश्न पूछते हुए भी मैंने इस दृष्टिकोण को देखा है और इससे मेरा खून खौलता है। मुझे प्रश्न पूछने पर आपत्ति नहीं, परंतु उसके पीछे जो मन की धारणा है, उसे मैं ठीक नहीं समझता। इस प्रकार के विरोधी दृष्टिकोण से हम आगे नहीं बढ़ सकते और इसे मैं अविश्वास का दृष्टिकोण कह सकता हूं। विश्वास से ही विश्वास पैदा होगा और शिष्टाचार से ही शिष्टाचार का निर्माण होगा। जब तक हम यह न समझ लें कि प्रत्येक व्यक्ति का स्वाभिमान होता है और वह विश्वास और शिष्टाचार की सराहना करता ही है, हम लोकतंत्रीय आधारों पर सरकार नहीं चला सकते। विभिन्न सेवाओं में कार्य कर रहे लोगों का सहयोग और वफादारी प्राप्त करने का, मेरे विचार में यही एक ढंग है, नियमों और विनियमों का नहीं। नियम तो जो भी होंगे वे कागज पर ही रहेंगे और मानव बुद्धि उनसे बचने का कोई मार्ग निकाल ही लेगी। इसलिए, उन मामलों में भी जहां कि आप देखते हैं कि धन समुचित ढंग से खर्च नहीं किया गया अथवा अपेक्षित स्वीकृति प्राप्त नहीं की गयी और कार्यपालिका अधिकारियों अथवा लेखा-परीक्षा विभाग द्वारा दिया गया निर्वचन ठीक नहीं है, तब भी जब तक संतोष न हो जाय, हमें उसकी सुननी चाहिए। केवल संदेह के आधार पर ही अपना मत नहीं बना लेना चाहिए कि कहीं न कहीं बेईमानी अवश्य है। हमारा दृष्टिकोण सहानुभूति और पारस्परिक सहयोग का होना चाहिए। यह मेरा विचार है। यदि इसके अनुसार कार्य होगा तो न केवल समिति के कार्य में सुविधा होगी, प्रत्युत दिन-प्रतिदिन के प्रशासन में जानकर लोगों से हमें सहायता मिलती रहेगी। आखिर किस सीमा तक समिति प्रशासन को देखती रहेगी? जो दिन-प्रतिदिन के प्रशासन की जानकारी रखते हैं, वही तो कुछ बता सकते हैं। केवल हमारा रवैया उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण और सहयोगियों वाला होना चाहिए। इस प्रकार हमें परीक्षण में अधिक सफलता होगी, न कि केवल आलोचना करने में।

16

विधायकों की भूमिका*

संविधान सभा द्वारा रचित तथा 26 जनवरी, 1950 से प्रवृत्त हुए संविधान के अंतर्गत सर्वप्रभुत्व संपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य की प्रथम संसद वह नई संसद थी जो पुरानी संसद का (जिसे अस्थायी संसद की संज्ञा दी गयी थी) विघटन हो जाने पर तत्काल हुए आम चुनावों के पश्चात् अस्तित्व में आयी थी। वयस्क मताधिकार पर आधारित यह संरचना लोकतांत्रिक गणराज्यीय सरकार के गठन का एक बहुत साहसपूर्ण प्रयोग है जिसकी इतिहास में कोई तुलना नहीं है। बहुतों को यह संदेह था और अभी भी है कि यह लोकतंत्रात्मक संविधान जनता की सुख शांति और एक ऐसे समाज की ओर उसकी प्रगति के लिए किस तरह कार्य करेगा जिसकी संविधान द्वारा कल्पना की गयी थी, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय मिले, जिसमें विचार, अभिव्यक्ति, आस्था, धर्म और उपासना का अवसर मिले, जिसमें सभी का समान दर्जा हो और सभी को समान अवसर प्राप्त हों और जो भ्रातृत्व के बंधन में बांधे, जिसमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता आश्वस्त की गयी हो। यह संदेह सही है क्योंकि हमें अभी तक जो उपलब्धि हो सकी है वह हमारे द्वारा निर्धारित लक्ष्य का एक अत्यंत तुच्छ अंश है। 30 करोड़ लोगों को संगठित करना, उन्हें निर्धनता, गंदगी और अज्ञानता से, जिनमें वे काफी गहरे धंसे हुए हैं, बाहर निकालना कोई आसान काम नहीं है। विदेशी दासता से मुक्त होना अपने-आपमें सचमुच एक बड़ा काम था। परंतु इससे एक तरह से हमारे कार्य की दूसरी तस्वीर हमारेसामने आयी है। हमने एक बाधा को दूर किया है और अधिकार तथा स्वतंत्रता हासिल की है ताकि हम किसी बाह्य हस्तक्षेप के बिना स्वयं कार्य कर सकें। परंतु

* यह लेख श्री जी. वी. मावलंकर द्वारा 25 अप्रैल, 1952 को 'दि लाइट हाउस' के लिए लिखा गया था।

हमारे लक्ष्य का तात्पर्य तो एक निश्चित मात्रा तक इसकी प्राप्ति है और यह नहीं कहा जा सकता कि इसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाने मात्र से यह प्राप्त कर लिया गया है। अतः लोकतंत्रीय गणराज्य की स्थापना के वास्तविक कार्य का शुभारंभ सचमुच संविधान को अंगीकार करने के साथ ही हुआ है। हम अभी भी अपने लक्ष्य से बहुत दूर हैं। इतना ही नहीं, अपितु मार्ग कठिन है और वह गंतव्य मंदिर इतनी ऊंचाई पर स्थित है जितना कि हिमालय पर गौरीशंकर शिखर।

तथापि हाल के आम चुनावों के दौरान हमारी जनता ने जिस व्यवहार को प्रदर्शित किया है उससे यदि हम संभावनाओं का पता लगा सकें, तो हमें अपनी त्रुटियों और कमियों के बावजूद हर प्रकार से यह विश्वास करना होगा कि हम अपने लक्ष्य तक पहुंचेंगे। इस बात के बावजूद कि देश विशाल है, विचारधाराओं में भिन्नता है, अज्ञानता है, कोई भी समझदार व्यक्ति इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि मतदाता ने यह दिखा दिया है कि उसमें समझने और परखने की क्षमता है और उसने शांतिपूर्ण अनुशासित तरीके से मतदान किया है। यह अपने-आपमें एक बड़ी बात है और यह अच्छे भविष्य का द्योतक है।

संसद (जो लोक सभा और राज्य सभा से मिलकर बनी है) और विभिन्न राज्यों में विधानमंडलों का विधिवत गठन किया गया है और इन्होंने अपने-अपने क्षेत्रीय तथा प्रशासकीय क्षेत्राधिकार में या तो कार्य करना आरंभ कर दिया है या ये कार्य करना आरंभ कर देंगे। उनके समक्ष जो काम है वह कठिन है और भविष्य इस बात पर निर्भर करेगा कि हमारे सांसद न केवल विधानमंडलों की सभाओं में अपितु बाहर भी किस तरह से कार्य करेंगे।

आज हमारे समक्ष जो काम हैं वह पूर्णतया भिन्न प्रकार के हैं। आजादी के लिए एक सैनिक में वीरता, अनुशासन, सर्वस्व बलिदान करने के लिए तैयार रहने के गुण होने चाहिए। यही पर्याप्त था कि उसने अपने कमांडर, जिसके हाथ में संग्राम की कार्यवाही का कार्य-भार था, के आदेशों का पालन किया। कम-से-कम आवश्यकता तो सैनिक गुणों के होने की थी। अब हमारे समक्ष जीते हुए क्षेत्रों को संघटित करने का काम है और यद्यपि कुछ सैनिक गुणों का होना निःसंदेह अभी भी सहायक और आवश्यक होगा, तथापि अब राजनीतिक बुद्धिमत्ता और प्रशासन के गुणों का होना भी आवश्यक है जिनसे हम इन्हें संघटित कर पायेंगे और अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकेंगे। वीरता और बलिदान के गुणों, जिन्हें अब भिन्न-भिन्न तरीकों से विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग में लाना है, के अलावा हमें अध्ययन, यथार्थता आदि की आदतों का संवर्धन करना होगा। कुशल प्रशासन किसी की वाक्पटुतापूर्ण बातचीत की योग्यता पर नहीं चलाया जा सकता। जब तक हम राजनीतिक जीवन की तड़क-भड़क और इसके प्रचार का त्याग नहीं करेंगे और

सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में राष्ट्रीय पुनर्गठन का बुनियादी कार्य करना आरंभ नहीं करेंगे, तब तक अपने स्वप्न को साकार करने की आशा करना बेकार होगा। अतः हमें ऐसे कार्य को बड़े जोश के साथ आरंभ करना चाहिए जिसे गांधी जी 'रचनात्मक कार्यकलाप' कहा करते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि एक भ्रांति यह है कि केवल वही लोग देश की सेवा करते हैं जिनके हाथ में शासन की बागडोर है या जिन्हें विधानमंडल के सदस्य होने का गौरव प्राप्त है। यह तो भ्रांति का एक पहलू है। इससे भी बड़ी भ्रांति का दूसरा पहलू यह है कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अथवा अपने ही लोगों के बीच एक राजनैतिक दर्जा और इस तरह राजनीतिक कार्य का ही महत्व है जिससे भारत को एक सुदृढ़ लोकतांत्रिक देश बनाया जा सकता है। इसके अलावा हमारी राजनीतिक स्वतंत्रता या आजादी का चाहे जो रूप हो यह तब तक न तो स्थायी रह सकती है और न ही संपूर्णता प्राप्त कर सकती है जब तक कि समूचा समाज लोकतंत्र की भावना और कार्य से ओत-प्रोत न हो। कुछेक बुद्धिमान लोगों द्वारा करोड़ों लोगों पर शासन करने से अज्ञानता बढ़ी है और निर्धनता विश्वशांति के लिए पर्याप्त रूप से सहायक नहीं हो सकती और इसलिए सर्वोत्तम राजनीतिक कार्य, बुनियादी राजनीतिक कार्य तो यह है कि समूचे समाज को संघटित किया जाये। अतः प्रत्येक विधायक को यह चिंता होनी चाहिए और उसका यह प्रयास होना चाहिए कि वह देश की सामान्य दशाओं तथा अंतर्राष्ट्रीय स्थिति की तुलना में अपने निर्वाचन क्षेत्र में व्याप्त दशाओं का पता लगाये और उस पर विचार करे तथा अपने निर्वाचन क्षेत्र के सामाजिक और आर्थिक उत्थान तथा प्रगति के लिए कार्य करे। उसका यह मुख्य उद्देश्य होना चाहिए और उसे यह याद रखना चाहिए कि वह विधानमंडल में आये ताकि वह विधान बनाये और ऐसे विधान के लिए सरकार का मार्गदर्शन करे जो कि सामाजिक और आर्थिक प्रगति लाने के लिए आवश्यक हो और हमेशा इस बात को ध्यान में रखे कि पुरानी आदतें आसानी से जाती नहीं हैं और केवल कानून बनाने से तब तक कोई उपलब्धि नहीं होगी जब तक कि लोगों के बीच में जाकर कार्य न किया जाये। शायद विचारधाराओं को ध्यान में रखकर बनाये जाने वाले कानूनों का उल्लंघन अधिक किया जायेगा और इससे नैतिक ह्रास होगा जो दो रूपों में होगा अर्थात् कानूनों का उल्लंघन होगा या लोग दोहरा स्तर अपनायेंगे और यह दोनों बातें ही समाज में शांति के लिए हानिकर हैं। यह गलत न समझा जाये कि यद्यपि विधान आवश्यक हो सकता है तथापि यह अपने-आप में लक्ष्य नहीं है। वास्तविक कार्य तो एक स्वस्थ लोकमत तैयार करना है जिसका सभी सम्मान करेंगे और जो सभी नागरिकों के आचरण में परिवर्तन लायेगा। अतः वर्तमान व्यवस्था में हमें अध्ययन, विचारणा और आयोजना को अत्यधिक महत्व देना चाहिए, क्योंकि स्वयं विधायक अपने कार्यों में इन सभी बातों को अपनाता है। इस प्रयोजन से उसे अपने मतदाताओं

के साथ निरंतर संपर्क रखना पड़ता है और वह न केवल उनका प्रतिनिधित्व करता है अपितु उनका मार्गदर्शन करता है और उनकी कठिनाइयों तथा विचारों को सरकार के समक्ष प्रस्तुत करता है।

यह कहा जाता है कि संसदीय शासन प्रणाली एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें बातचीत की व्यवस्था होती है। यह सत्य है परंतु केवल आंशिक रूप में। बातचीत तभी सहायक है यदि अध्ययन करने और समझने के बाद यह चर्चा का रूप ले लेती है, यदि यह रचनात्मक होती है और यदि इसके साथ रचनात्मक कार्य किया जाता है। इसके विपरीत यदि कोई कार्य न हो और दूसरों द्वारा जो कुछ किया जाये उसकी केवल आलोचना हो, तो उस बातचीत का कोई लाभ नहीं निकलेगा। अतः हरेक विधायक को यह याद रखना है कि उसे एक जिम्मेदार मंत्री के रूप में कार्य करना है और उसका क्षेत्र छिद्रान्वेषण तथा आलोचना तक ही सीमित न रहकर रचनात्मक सुझावों, कार्य तक फैला हुआ है।

अब मैं एक अत्यधिक महत्वपूर्ण पहलू पर कुछ कहना चाहूंगा, अर्थात् विधायक के व्यक्तिगत आचरण के क्या मानक हों। अच्छे लोकतंत्र का अर्थ यह है कि इसमें नागरिक अच्छे हों और सार्वजनिक जीवन का स्तर ऊंचा हो। विधायक की जिम्मेदारी बड़ी होती है, क्योंकि वह सार्वजनिक कार्यकर्त्ता का एक आदर्श माना जा सकता है। अतः उसे सदा सत्यनिष्ठ, ईमानदार बनना होगा, उसे आलोचनाओं को सहन करना होगा। ऐसे मुद्दों, जिन पर मतभेद हो, को समझने के लिए तैयार रहना होगा, सार्वजनिक हित के लिए समझौता करने को तैयार रहना होगा और इससे भी बढ़कर उसे निस्वार्थ सेवा भाव से अपने कर्त्तव्य का निर्वहन करना होगा। एक विधायक या मंत्री के पद को एक ऐसे स्थान के रूप में नहीं समझना है जो शक्ति और प्रतिष्ठा प्रदान करता है। यह एक ऐसा पद है जो सेवा के अवसर प्रदान करता है और यदि विधायक इसी भावना से अपने कर्त्तव्य का निर्वहन करते हैं, तो मुझे तनिक भी संदेह नहीं कि हमारा लोकतंत्र और हमारा संसदीय जीवन विश्व में सर्वोच्च स्थान ग्रहण करेगा।

17

संसदीय सरकार
ब्रिटिश पम्पराओं की प्रासंगिकता*

यह बात स्पष्ट है कि यह सभा पहली सभाओं से भिन्न है। अब तक लोक-कल्याण के बारे में तथा सरकार के कामों के बारे में चाहे हमारी विचारधारा कुछ भी रही हो, किंतु हम सब विदेशी सरकार को उखाड़ने में प्रयत्नशील थे। हमें स्वतंत्रता प्राप्त करने में सफलता मिली है और अब हम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हैं। विदेशी सत्ता का अंत होते ही विचारधाराओं की विभिन्नताएं सामने आ गयी हैं; और यद्यपि हम सबका एक ही उद्देश्य है, जैसा कि हमारे संविधान में लिखा हुआ है, किंतु उसे प्राप्त करने के तरीकों के संबंध में हम लोग एक-दूसरे से पृथक विचार रखते हैं। यह बात स्वाभाविक है और एक प्रकार से आवश्यक भी—क्योंकि संसदीय सरकार ठीक ढंग से लोगों की भलाई के काम ऐसा होने पर ही कर सकती है। साथ ही हम में से प्रत्येक को यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चाहे हमारे दृष्टिकोणों में कितना भी अन्तर क्यों न हो, हम यहां राष्ट्र के प्रतिनिधियों के रूप में आते हैं और एक ही उद्देश्य के लिए आते हैं, जिसे संविधान की प्रस्तावना में इस प्रकार लिखा गया है अर्थात् "भारत के समस्त नागरिकों के लिए न्याय, स्वतंत्रता प्रथा समानता और बंधुता प्राप्त करना"। हम यहां पर जो भी बोलें और जो कुछ भी करें, उस सबको इस सामान्य आदर्श पर परखना होगा और हममें से प्रत्येक को यह देखना है कि हम भारत के नागरिकों को कहां तक वे वस्तुएं प्राप्त कराते हैं जिनके बारे में संविधान में लिखा हुआ है। मैं समझता हूं कि इस बात को ध्यान में रखने से हमें वह आवश्यक वातावरण प्राप्त हो जायेगा जो कि एक लोकतंत्रात्मक प्रणाली को अच्छे तरीके से चलाने के लिए आवश्यक होता है।

* लोक सभा का अध्यक्ष निर्वाचित होने पर, 15 मई, 1952

संसदीय ढंग की सरकार प्रत्येक विषय पर चर्चा करके निर्णय करती है। प्रत्येक सदस्य को अपने विचार व्यक्त करने की पूरी स्वतन्त्रता है, किंतु उसे यह स्मरण रखना चाहिए कि सभी सदस्यों को बराबर की आजादी है। इस कारण यह आवश्यक हो जाता है कि चर्चा के विस्तार, स्वरूप और साथ ही उसकी भाषा के बारे में संयम से काम लिया जाये। वाद-विवाद को लाभदायक तथा प्रभावपूर्ण बनाने के लिए सौहार्दता तथा पारस्परिक सहानुभूति के एक वातावरण का निर्माण अत्यावश्यक है। इसके लिए अनुशासित ढंग से काम करना आवश्यक है—केवल नियमों तथा विनियमों का पालन करना ही पर्याप्त नहीं—अपितु संसदीय वाद-विवादों की अनेकों प्रथाओं के अनुसार भी रहना पड़ता है, क्योंकि स्पष्टतया प्रत्येक विषय पर नियम या विनिमय नहीं बनाया जा सकता।

केवल उसी सीमा तक संसदीय सरकार के सफल होने की गुंजाइश है, जहां तक विभिन्न विचारधाराएं रखनेवाले लोग सहनशील रहें और एक-दूसरे की बात को समझने की कोशिश करें। विधियों अथवा विनियमों से ही वांछित परिणाम नहीं निकलेंगे, बल्कि अच्छे परिणाम तभी निकल सकते हैं जब उत्तरदायित्व संभालनेवाले लोग एक उच्च भावना से प्रेरित होकर काम करें।

हमारे संविधान में हमारी संसद को मुख्यतया अंग्रेजी नमूने पर रखा गया है। सुस्पष्ट ऐतिहासिक कारणों से भारत में आरंभ से जो भी विधान सभाएं बनीं, वे उसी ढंग पर बनायी गयीं। ब्रिटिश हाउस ऑफ कामन्स के बहुत-से प्रक्रिया नियम तथा आचार के मान सुदीर्घ काल के अनुभवों का परिणाम हैं। जहां तक उनका संबंध सामान्य मानव प्रकृति से है, वहां तक वे हमारे लिए उत्तम पूर्वदृष्टांत हैं और हम उनसे लाभान्वित हो सकते हैं। किंतु ऐसी अंग्रेजी प्रथाएं, जो उनके स्वतंत्रता संघर्ष के इतिहास के परिणामस्वरूप अपनायी गयी हैं, उन्हें हमें दूसरे दृष्टिकोण से देखना चाहिए। हमें भी अपने राष्ट्रीय चरित्र, प्रतिभा, इतिहास और संस्कृति की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए ऐसी प्रथाएं कायम करनी हैं। संसदीय जीवन हमारे यहां हाल ही में शुरू हुआ है और अभी यह पौधा बहुत छोटा तथा सुकोमल है। अतः इसके पोषण में पर्याप्त ध्यान की जरूरत है। इस संसद का विशेष रूप से यह कर्तव्य है कि स्वस्थ तथा लाभदायक प्रथाएं स्थापित की जायें, क्योंकि इस समय हम जो कुछ करेंगे, वह संभव है भविष्य के लिए उदाहरण बन जायें। इसलिए जब तक हम इस काम को लगातार नहीं करेंगे और संसदीय प्रथाओं का सम्मान नहीं करेंगे, हमारे देश में ऐसी स्थायी सरकार बननी कठिन हो जायेगी जो हमारे द्वारा वांछित रूप में लोगों की सेवा कर सकें।

मैं अध्यक्ष के दलहीन स्वरूप के बारे में इंग्लैंड की प्रथा को ध्यान में रखते हुए

कुछ कह देना आवश्यक समझता हूं। ब्रिटिश संसद के अध्यक्ष की यह स्थिति ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है और शताब्दियों तक चलनेवाले प्रयत्नों के परिणामस्वरूप यह स्थिति बनी है। कामन्स की पूरी सत्ता स्थापित हो जाने पर इस प्रकार की प्रथा का विकास हुआ है। निस्संदेह यदि लोकतंत्र की आवश्यक बातें इसके साथ हों, तो यह स्थिति आदर्श स्थिति है। उसी आदर्श को स्थापित करने के लिए मैं सदैव प्रयत्न करूंगा किंतु हमारे संसदीय जीवन की वर्तमान परिस्थिति में राजनीतिक जीवन में इतना पृथक रहना सम्भव नहीं है, जितना ब्रिटिश अध्यक्ष रह सकता है। किंतु काम करते समय भारतीय अध्यक्ष किसी दल से संबंध नहीं रखेगा अर्थात् वह दलों के कामों तथा उनके झगड़ों से परे रहेगा, किंतु केवल इसी बात के कारण कि वह अध्यक्ष है, वह राजनीतिज्ञ न रहे, यह संभव नही है। हमें अभी देश में राजनैतिक दलों का विकास करना है और अध्यक्षत्व के बारे में ऐसी स्वस्थ परंपराएं स्थापित करनी हैं जिनके पीछे यह सिद्धांत हैं कि अध्यक्ष के विरुद्ध कोई दल चुनावों में अपने सदस्य नहीं खड़े करेगा, न उसका विरोध सभा में होगा अर्थात् जब तक अध्यक्ष चाहे वह अध्यक्ष के रूप में काम कर सकता है। इन प्रथाओं की अनुपस्थिति में यह आशा करना कि अध्यक्ष पूर्णतया राजनीति से अलग रहे, ठीक नहीं है। इस दृष्टिकोण से तथा अपने भूतकाल के संबंधों के कारण मैं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसी महान् संस्था से बाहर नहीं जा सकता, क्योंकि इसी संस्था के झंडे के नीचे मैंने चालीस वर्ष तक किसी-न-किसी रूप में जनता की सेवा की है। इस कारण मैं कांग्रेसी बना रहूंगा, ठीक उसी प्रकार से जैसे कोई भारतीय हिंदू, मुसलमान या पारसी रह सकता है और साथ ही जहां तक राष्ट्रीयता का संबंध है, वह भारतीय भी रहता है। यद्यपि मैं कांग्रेसी हूं, तथापि मेरा यह कर्तव्य होगा कि सभा के सभी सदस्यों तथा सभी दलों के साथ न्याय तथा बराबरी का बर्ताव करूं और मैं सभी दलगत या राजनैतिक बातों से ऊपर तथा निष्पक्ष रहने की कोशिश करूंगा।

18

लोकतंत्र का भविष्य तथा अध्यक्ष की स्थिति*

इस समय हम अपने नये लोकतंत्र के लिए एक ऐतिहासिक तथा एक अत्यंत संकट-कालीन समय से गुजर रहे हैं। ऐसा कहते समय मैं संसार की विभिन्न सरकारों को आंदोलित करनेवाले तथा हमारे देश की विभिन्न सरकारों को भी आंदोलित करने वाले विभिन्न राजनीतिक प्रश्नों की ओर संकेत नहीं कर रहा हूं। मैं तो केवल संसदीय लोकतंत्र की स्थापना और विकास के प्रश्न पर ही प्रकाश डालूंगा।

वयस्क मताधिकार के आधार पर किये गये हमारे चुनाव एक बड़े भारी पैमाने पर किया गया एक अद्वितीय कार्य था, और मैं समझता हूं कि आप सभी लोग मेरे इस कथन से सहमत होंगे कि शांतिपूर्ण ढंग से हुए इन चुनावों से भविष्य में स्थापित होनेवाले एक महान लोकतंत्र की आशा झलकती है। देश के विभिन्न राज्यों के विधानमंडलों में जो व्यक्ति अथवा दल सत्तारूढ़ हैं और काम चला रहे हैं, उनका वर्तमान रूप भले ही कुछ भी हो, परंतु ये चुनाव जैसे किये गये हैं और इनका काम जैसे चलाया गया है, उनसे तो मैं यही समझता हूं कि अब इस देश की जनता ने लोकतंत्र के आधारभूत सिद्धांतों को समझ लिया है, और वे सिद्धांत यह हैं कि समस्त परिवर्तन तर्कों, युक्तियों और चर्चाओं के द्वारा किये जायें न कि शारीरिक बल अथवा हिंसा के द्वारा। जब तक वह आधारभूत सिद्धांत हमारे सामने हैं, हमें पूर्ण आशा है, भले ही कुछेक त्रुटियां हों, हम लोकतंत्र की भावना को सुदृढ़ करते जायेंगे। इस समय तो मैं यही अनुभव करता हूं कि हम लोकतंत्र के एक सुदृढ़ आधार पर खड़े हैं और यहां पर समवेत होने का हमारा मुख्य उद्देश्य यही है

* विधायी निकायों के पीठासीन अधिकारियों का सम्मेलन, ग्वालियर, 24 अक्तूबर, 1953

कि हम एक ऐसा ढांचा बनायें जो कि सुदृढ़ भी हो और हमारी प्राचीन संस्कृति तथा देश की महानता के अनुकूल भी हो ।

मैंने पहले भी कहा है कि मैं संविधान में अथवा किसी अन्य प्रकार से लिखित विशेष उपबंधों के स्थान पर स्वस्थ प्रथाओं के द्वारा हुए परिवर्तनों को अधिमान देता हूं । इसका यह अर्थ नहीं कि मैं लिखित बातों के महत्व को घटा रहा हूं । लिखित बातें होनी तो चाहिए, परंतु इससे उन बातों के अपरिवर्तनीय रूप में कठोर हो जाने का डर है, और संभवतः व बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल प्रगतिशील न हो सकेंगी । मैं ये बातें इसलिए कह रहा हूं कि हमारा संविधान लिखित है, और इस बात की भी संभावना है कि यदि हम संविधान की भावना और समय-समय पर बदलती हुई परिस्थितियों की ओर ध्यान दिये बिना ही संविधान के उपबंधों की एक वकील के समान कठोर व्याख्या करते जायेंगे, तो उससे हम कहीं गतिहीन न बन जायें । यद्यपि प्रत्येक लोकतंत्र का कोई न कोई रूप अवश्य होना चाहिए, परंतु उस लोकतंत्र के लिए तैयार किया गया वह बाहरी ढांचा अथवा रूप ही उस लोकतंत्र का वास्तविक सार नहीं होता । लोकतंत्र का काम चलाने के लिए विधानमंडलों के चुनावों और नियमों तथा विनियमों आदि सभी बातों की निस्संदेह परमावश्यकता है । परंतु यह बात सदा याद रखी जानी चाहिए कि ये सभी बातें किसी अन्य लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए केवल साधन मात्र है और उसका मुख्य लक्ष्य यही है कि लोगों की भलाई की जाये और एक ऐसी सरकार की स्थापना की जाये जो कि जनता की इच्छा के अनुसार और उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से कार्य करे ।

विधानमंडल वास्तव में इसीलिए होते हैं कि समाज और सरकार में एक शांतिपूर्ण ढंग से तथा धीरे-धीरे विकास अथवा क्रांति लायी जा सके । ध्येय यही है कि सभी प्रकार के हिंसापूर्ण आंदोलनों को रोका जा सके । अतः वास्तविक लोकतंत्र के लिये हमें केवल संविधान के उपबंधों अथवा विधानमंडलों के कार्य को चलाने के लिए बने हुए नियमों तथा अधिनियमों को ही ध्यान में नहीं रखना है, अपितु उन लोगों में लोकतंत्र की भावना भी सुदृढ़ करनी है जो कि विधानमंडलों के सदस्यों को चुनते हैं । यदि इस मौलिक सिद्धांत को ध्यान में रखा जाये, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि यद्यपि समस्याओं का निर्णय तो बहुमत द्वारा किया जायेगा, तथापि यदि इस प्रक्रिया को केवल हाथ गिनने तक ही सीमित कर दिया गया, तो संसदीय सरकार की स्थापना संभव न हो सकेगी । यदि हम केवल बहुमत के अनुसार ही चलते रहे, तो उससे हम फासिस्टवाद, हिंसावाद तथा विद्रोह के बीज बो देंगे । परंतु यदि हम जनता में सहनशीलता, विचारों के आदान-प्रदान करने तथा पारस्परिक समयबोध की भावना को फैलाने में सहायता कर सकें, तो उससे हम देश में लोकतंत्र की भावना को फैलाने में सफल हो सकेंगे । व्यक्तिगत रूप से मैं यह समझता

हूं कि विधानमंडलों के माध्यम से इस भावना को फैलाने के लिए पर्याप्त गुंजायश है, परंतु शर्त यह है कि पीठासीन अधिकारी स्वयं साहसी, स्पष्टवादी तथा उदार-हृदय हों और उनमें दूसरों के विचारों को समझने के लिए सदा तैयार रहने की भावना हो। वे पीठासीन अधिकारी केवल तभी सरकारी पक्ष या विपक्ष दोनों की असहनशीलता, पार्टीबाजी आदि पर एक प्रभावकारी नियंत्रण रख सकेंगे। इसलिए हमारे सामने ये समस्याएं अधिक महत्व की नहीं हैं कि कौन-कौन से नियम या विनियम हैं अथवा संविधान के कौन-कौन से उपबन्ध हैं, जितना महत्वपूर्ण उनकी उदारतापूर्वक व्याख्या करना है क्योंकि उससे विधानमंडलों के सदस्यों में लोकतंत्र की भावना फैलेगी।

इस प्रश्न पर कि अध्यक्षों का अपने राजनीतिक दलों से कैसा संबंध रहे और वे राजनीति में कितना भाग लें, विचार यह सम्मेलन 1937 से करता रहा है और इस संबंध में कई तरह के मत अभिव्यक्त किये गये हैं। अब स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात और विधानमंडलों में विभिन्न राजनीतिक दलों के सम्मिलित हो जाने पर इस प्रश्न का एक नया महत्व हो गया है। उपाध्यक्षों की स्थिति के प्रसंग में इसी प्रकार का एक प्रश्न पूछा गया था। यद्यपि अध्यक्षों के व्यापक प्रश्न को कार्यावलि में सम्मिलित तो नहीं किया गया है, तो भी मेरा निवेदन है कि इसकी महत्ता को, वर्तमान राजनीतिक स्थितियों को और समस्त दलों को दे दिये गये एक समान रूप को ध्यान में रखते हुए इस प्रश्न पर भी विचार किया जाये।

अब मैं आपका ध्यान कार्यावलि में दी गयी विभिन्न बातों की ओर आकृष्ट करना चाहता हूं। मैं यह समझता हूं कि विधानमंडल के एक स्वतंत्र सचिवालय की स्थापना की आवश्यकता तथा वित्तीय समितियों की स्थापना और कार्यों से संबंध रखनेवाली बातें वास्तव में मौलिक महत्व की बातें हैं। वे बातें संसदीय सरकार के कार्य कौशल के मूल तक पहुंचती हैं। जब तक संसद कार्यपालिका के संबंध में अपनी स्वतंत्र स्थिति नहीं रखती, तब तक वास्तविक लोकतंत्र अथवा संसदीय सरकार की कोई आशा नहीं की जा सकती; और जहां सदस्य दलों के रूप में विभाजित हों, वहां तो इसकी और भी कम आशा है। आज की शासन व्यवस्था में, जबकि देश में राजनीतिक जीवन अव्यक्तिगत नहीं है, कार्यक्रमों के आधार पर पूर्णरूपेण संघटित नहीं है, और लगभग सभी विधानमंडलों में केवल एक ही दल का अच्छा बहुमत है और विपक्ष भी बहुत-सी विचारधाराओं, पार्टियों और व्यक्तियों में विभक्त है, यह प्रश्न आवश्यक भी है और नाजुक भी। निस्संदेह, बहु-संख्यक दल के कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने की दृष्टि से बहुसंख्यक होना श्रेयस्कर है, परंतु उसमें कई खतरनाक बातें भी हैं, जिनसे उस दल विशेष और देश के लोकतंत्र की प्रगति को हानि पहुंच सकती है। अत्यधिक बहुमत का यह परि-

णाम होता है कि प्रशासन कठोर तथा समझौता न करनेवाला होने लगता है, और कभी-कभी उचित आलोचना के प्रति उपेक्षा करने लगता है और उससे फासिस्ट प्रवृत्तियां फैलने लगती हैं। राजनीतिक जीवन को मुख्य रूप से कार्यक्रमों के आधार पर अभी संघटित तथा आधारित करना है और स्थितियों के सुधरने में और यहां के राजनीतिक जीवन को इंग्लैंड तथा अन्य पाश्चात्य देशों के स्तर तक लाने में पर्याप्त समय लगेगा। इसलिए अध्यक्षों तथा विधानमंडल सचिवालयों की स्वतंत्रता केवल उचित चर्चा, वाक्-स्वातंत्र्य तथा अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के ही लिए अधिक महत्वपूर्ण तथा आवश्यक नहीं है, अपितु विधानमंडलों के वास्तव में लोकतांत्रिक निकायों के रूप में काम करने और कार्यपालिका के आश्रित मात्र न होकर स्वतंत्र अस्तित्व रखने के लिए भी आवश्यक है।

प्रत्येक सरकार को कराधान संबंधी शक्ति प्राप्त होनी चाहिए। परंतु चूंकि सारे संसार में कार्यपालिका सरकारों की यह प्रवृत्ति होती है कि वे करों से प्राप्त हुए धन का जैसा चाहें उपयोग करें, अतः यह आवश्यक है कि विधानमंडलों के सदस्यों द्वारा इस पर प्रभावी नियंत्रण रखा जाये और उन्हें आलोचना करने के पर्याप्त अवसर दिये जायें। सरकार द्वारा चलायी जानेवाली योजनायें उचित भी हो सकती हैं और अनुचित भी, वे अच्छी हो सकती हैं और बुरी भी, तो भी, चूंकि उन्हें उस प्रशासन व्यवस्था के माध्यम से ही कार्यान्वित किया जाता है जो कि इस समय अत्यधिक उलझी हुई तथा विशाल हैं, स्वभावतः यह संदेह सा होने लगता है कि क्या करों द्वारा एकत्रित किये गये धन का उसी प्रयोजन के लिए प्रयोग किया जा रहा है जिसके लिये वह लिया गया था, और क्या उसे अच्छी प्रकार से सोच-विचार करने के बाद ही खर्च किया जा रहा है। लोक लेखा समितियों अथवा प्राक्कलन समितियों द्वारा विभिन्न विधानमंडलों को दिये गये प्रतिवेदनों का उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इनमें इस बात के स्पष्ट उदाहरण दिये गये हैं कि देश के वित्त का किस प्रकार से सदुपयोग किया जा सकता है। इसलिए मैं व्यक्तिगत रूप से यह अनुभव करता हूं कि जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा सरकारी कार्यों पर लगाया गया कोई भी नियंत्रण अनुचित न होगा। और मैं यह कहूंगा कि यह आवश्यक है कि सरकार के, जो कि जनता की प्रतिनिधि हैं, कार्य-कलाप पर जनता के हित को देखते हुए और जनता के हितों के लिए कराधान शक्ति का उपयोग करने की बात को ध्यान में रखते हुए विधानमंडल द्वारा यथासंभव अधिक-से-अधिक नियंत्रण रखा जाये।

एक और विषय की ओर भी मैं निर्देश करूंगा। यद्यपि यह प्रस्तुत बात से विशेष संगत नहीं है, तथापि मैं समझता हूं कि वह वर्तमान मामले से इतना अधिक संबद्ध है कि नियंत्रण की आवश्यकता को उदाहरण के रूप में समझने के लिए

उसका निर्देश करना आवश्यक है।

भारत में विभिन्न कराधान प्राधिकार है। नगरपालिकायें, राज्य सरकारें तथा केंद्रीय सरकार तीन मुख्य प्राधिकार हैं। उनसे इस बात की आशा की जाती है कि वे नागरिकों के भले के लिए लोगों पर कर लगायें। कराधान के क्षेत्राधिकार का विभाजन मुख्य रूप से कार्य को सुविधापूर्वक चलाने के लिए और उसे बांटने के लिए ही किया जाता है। परंतु समस्त करों का मूल उद्देश्य तो नागरिकों का भला करना है। परंतु दुर्भाग्यवश न केवल विभिन्न राज्य सरकारों के प्रशासन में अपितु देश के सारे-के-सारे सरकारी ढांचे में ही एक प्रकार की विभागीयकरण की एक प्रणाली-सी चल पड़ी है, प्रत्येक कराधान प्राधिकार बिना इस बात की ओर कोई ध्यान दिये कि नागरिकों की सेवा करने का दावा करनेवाले विभिन्न अभिकरण नागरिकों का कितना भला कर रहे हैं और नागरिक करों के इस सारे बोझ को कहां तक सहन कर सकते हैं, अपनी आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न अंगों की दृष्टि से ही सोचता है। न तो इन करों के लगाने में कोई समन्वय ही दीखता है और न विभिन्न प्राधिकारों द्वारा उन्हें खर्च करने में ही कोई समन्वय दीखता है। प्रत्येक प्राधिकार अपनी विशेष प्रथा का ही अनुसरण कर रहा है और करदाता बेचारा करों के बोझ से लद गया है।

मेरे विचारानुसार, यह एक दुर्भाग्य की बात है; परंतु मेरा संबंध तो विभिन्न प्रशासनों द्वारा उचित प्रकार से खर्च करने और बचत करने की आवश्यकता को उदाहरणस्वरूप समझाने से है, और इसीलिए सरकारों द्वारा किये जानेवाले खर्च पर और कर लगाने पर विधानमंडलों द्वारा कठोर नियंत्रण रखने की आवश्यकता है।

कार्यावलि में निहित अन्य बातें भी निस्संदेह अत्यंत आवश्यक हैं और मुझे विश्वास है कि आप प्रत्येक बात की ओर उचित ध्यान देंगे। तो भी लोकतंत्र के उचित कार्य संचालन के लिए दो अत्यंत आवश्यक बातें हैं जिनकी ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं।

हममें से प्रत्येक व्यक्ति का प्रतिदिन का यह अनुभव है कि छोटी-छोटी बातों के संबंध में भी लगनेवाली प्रशासनीय देरी अब सहनशीलता की सीमा तक पहुंच रही है। यदि काम को जल्दी से निपटाने हेतु कोई उचित उपाय न सोचे गये, तो संभवतः लोकतंत्र इस बाढ़ में बह जायेगा।

इसका एक अन्य पहलू विधानमंडलों के कार्यक्रम के संबंध में है। ऐसा प्रतीत होता है कि कई राज्य विधानमंडलों में सदस्यों द्वारा प्रश्न पूछने के अधिकार को लगभग समाप्त कर दिया गया है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि सदस्यों को

प्रश्न पूछने की अनुमति ही नहीं दी जाती, अपितु प्रश्नों के उत्तर इतनी देरी से दिये जाते हैं अथवा इतने अनिश्चित रूप से अथवा इतने भिन्न रूप से दिये जाते हैं कि प्रश्नों का वास्तविक उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। प्रश्न पूछने का अधिकार एक अत्यंत महत्वपूर्ण अधिकार है जो कि सदस्यों की, प्रतिदिन के प्रशासन को जनता के समक्ष रखने में, सहायता करता है, जो कि कार्य-कौशल और ईमानदार प्रशासन के लिये अत्यंत आवश्यक है। मेरे विचारानुसार तो प्रत्येक पीठासीन पदाधिकारी का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि पूछे गये प्रश्नों के उत्तर जल्दी से दिये जायें और वे पूरे-पूरे तथा यथार्थ हों। विधानमंडल एक प्रकार से मस्तिष्क के समान है जो कि सरकार के मध्यम से काम करता है और इसलिए सरकार को विधानमंडल के प्रति उचित उदारता दिखानी चाहिए और उसका समुचित ध्यान रखना चाहिए। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि विधानमंडलों तथा कार्यपालिका सरकारों के बीच पारस्परिक संबंध स्थापित करने के लिए कोई विशेष उत्साह ही नहीं है। हमें, पीठासीन व्यक्तियों के रूप में, इस बात का पूर्णरूपेण प्रयत्न करना है कि सरकारें विधानमंडलों के प्रति उत्तरदायी रहते हुए अपना कार्य चलायें।

मैं यद्यपि हाउस ऑफ कामन्स के ब्रिटिश पूर्व-दृष्टांतों का आदर करता हूं, तो भी मैं अनुभव करता हूं कि हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि हम किसी बात को केवल इसीलिए ठीक समझ लेने के लिए बाध्य हैं कि वह इंग्लैण्ड में स्वीकार की गयी है। इंगलिश पूर्व दृष्टांतों की कई बार ऐतिहासिक पृष्ठभूमि होती है, और इसलिए उनकी कई विशेषताएं होती हैं। परंतु जहां तक हमारे संविधान तथा विधानमंडलों का संबंध है उनकी ऐसी कोई भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि नहीं है। इसलिए यद्यपि हम इंगलिश पूर्व दृष्टांतों का आदर करते हैं और उन्हीं से बल प्राप्त करते हैं, तो भी हमें अपने ही पूर्व दृष्टांत तथा अपनी ही परंपराएं बनानी हैं। मानवीय अनुभवों के रूप में तो वे परंपराएं विशेष महत्व की हैं, परंतु वे हमारी अपनी परिस्थितियों के बारे में पथ-प्रदर्शन करने की दृष्टि से विशेष पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकतीं।

19

विधानमंडलों की समस्याएं*

उस अत्यंत महत्वपूर्ण संकल्प में, जो एक दृष्टि से लोकतंत्र की उचित आधार पर प्रगति के लिए महत्वपूर्ण है—जिसे हमने गत वर्ष पारित किया था—यह विचार व्यक्त किया गया था कि विभिन्न विधानमंडल सचिवालयों के लिए स्वतंत्र व्यवस्था की जानी चाहिए और उन्हें कार्यपालिका सरकार के नियंत्रण से मुक्त रखना चाहिए।

इस संबंध में मैंने बताया था कि मैं सतर्कता से आगे बढ़ूंगा और जब तक मुझे निश्चित रूप से अनुकूल वातावरण का अनुभव नहीं होगा, मैं इस विषय पर और कार्यवाही नहीं करूंगा। विभिन्न राज्यों की वर्तमान व्यवस्था और सात मास के इतने छोटे काल में विचारधारा संबंधी एक क्रांति लाने के कार्य की महानता को ध्यान में रखते हुए मैंने सोचा है कि इस प्रश्न को बाद में लूं, जब कुछ अन्य प्रश्नों अर्थात् अध्यक्ष की स्थिति का, जिस पर गत वर्ष एक अन्य संकल्प में विचार किया गया था, निबटारा हो जाये। जब हम विधानमंडलों संबंधी अन्य विषयों में लोकतंत्रात्मक व्यवस्था रखेंगे, तो स्वतंत्र सचिवालय के मामले में सुधार होगा। मुझे इसमें थोड़ा भी संदेह नहीं कि समय बीतने पर विधान मंडल सचिवालय कार्यपालिका के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त हो जायेंगे। प्रशासन के वर्तमान व्यवस्था संबंधी विचारों में परिवर्तन हो रहा है और संभव है उनके कार्यान्वित होने में कुछ समय लगे, परंतु विधानमंडल सचिवालयों की व्यवस्था में आशा के विरुद्ध शीघ्र परिवर्तन होगा क्योंकि विधानमंडलों ने कार्यपालिका सरकार को अपना प्रभाव अनुभव कराना आरंभ कर दिया है। प्रत्येक राज्य में विधानमंडलों के स्वतंत्र सचिवालय के विषय

* विधायी निकायों के पीठासीन अधिकारियों का सम्मेलन, श्रीनगर, 14 जून, 1954।

में कुछ छोटे-बड़े प्रशासनिक प्रश्न हैं और पहले उन्हें हल करना है। यह प्रक्रिया अवश्य धीमी और लंबी होगी।

तो भी मैंने भारत के प्रधान मंत्री को भाग 'ग' राज्यों में पृथक सचिवालय खोलने के विषय में लिखा था। मेरा यह पत्र गृह मंत्री को उनकी टिप्पणी के लिए भेजते हुए प्रधान मंत्री ने मुझे यह बताया कि :

> "यद्यपि निस्संदेह ऐसे सचिवालयों को बनाने से कुछ लाभ होगा तथापि भाग 'ग' राज्यों के ऊपर कुछ अधिक भार डालने के रूप में हानि भी होगी।"

प्रधान मंत्री ने यह भी बताया कि संभवतः राज्य पुनर्गठन आयोग इन राज्यो के भविष्य के बारे में विचार करेगा। परंतु ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रधान मंत्री के समक्ष प्रमुख विचार वित्त के संबंध में था। विधानमंडलों के लिए पृथक सचिवालयों के लाभ के विषय में उन्हें कोई संदेह हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

हमने निश्चय किया था कि यह प्रथा स्थापित की जाये कि समय-समय पर होने वाले चुनाव में जहां से अध्यक्ष अथवा सभापति निर्वाचन के लिए खड़े हों, उनका मुकाबला नहीं होना चाहिए, और इस दिशा में पहल करने के लिए सरकार को, जो बहुमत वाले दल के रूप में कार्य करती है, बाध्य करना चाहिए। क्योंकि कांग्रेस को इस समय प्रायः सभी विधानमंडलों में बहुमत प्राप्त है, अतः यह प्रथा बनाने में आरंभ करने के लिए सर्वप्रथम इसी दल को कहना उचित है। मैं दूसरे दलों से भी यह बात कहना चाहता हूं। मैं कांग्रेस सभापति के नाम अपने 10 फरवरी, 1954 के पत्र की प्रति के साथ कांग्रेस के महासचिव द्वारा जारी किये गये परिपत्र की प्रति आप लोगों के पास परिचालित कर रहा हूं। मुझे महासचिव के पत्र से ज्ञात हुआ कि कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने स्पष्ट शब्दों में कोई संकल्प पारित नहीं किया था वरन् उन्होंने सामान्यतः इस स्थिति पर चर्चा की थी और सचिव ने अपने शब्दों में उन चर्चाओं के निष्कर्ष का सार मुझे भेजा था। निस्संदेह वे इस प्रथा को विस्तृत रूप में स्थापित करने की वांछनीयता को स्वीकार करते हैं कि अध्यक्ष के स्थान के लिए मुकाबला नहीं होना चाहिए, परंतु उसके लिए अन्य राजनैतिक दलों की सहमति की आवश्यकता होगी जिसे प्राप्त करना उन्होंने असंभव समझा। परंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने यह स्वीकार कर लिया है कि यह ठीक प्रथा है और उन्होंने मेरे पत्र में बतायी स्थिति को भी स्वीकार किया है कि यथासंभव सामान्य निर्वाचन के लिए अध्यक्ष के नामनिर्देशन पर विचार करते समय अध्यक्ष के स्थान पर किसी अन्य को नामनिर्दिष्ट और फिर निर्वाचित नहीं करेंगे। यथा-संभव यह प्रथा होनी चाहिए कि उसे दल का टिकट दिया जाये ताकि वह भविष्य

में निश्चित रूप से सामान्य निर्वाचन का उम्मीदवार बना रहे। मैं समझता हूं कि जहां तक इस निर्णय का संबंध है यह अपेक्षित दिशा की ओर अच्छी प्रगति है। सभी प्रथाएं धीरे-धीरे विकसित होती हैं और उनका निर्माण धीरे-धीरे ही होता है। मेरे विचार से हमने प्रथम ईंट बहुत दृढ़ रूप में रख दी है और हमें अब और आगे प्रयास करना है।

मैं यहां इस प्रथा के आवश्यक अंग का उल्लेख करना चाहता हूं और वह यह है कि अध्यक्ष को सभी विवादास्पद विषयों और राजनीति में सक्रिय भाग नहीं लेना चाहिए। इसका मूल अभिप्राय यह है कि अध्यक्ष को अपने-आपको निर्णायक के रूप में रखना चाहिए। उसे पक्षपात नहीं करना चाहिए ताकि वह अनजाने किसी मत विशेष के पक्ष में अथवा विरुद्ध न हो और इस प्रकार उसे चाहिए कि वह अपनी सत्यता और निष्पक्षता के विषय में सभा के सभी दलों में विश्वास पैदा कर सके। जब हम अपनी ओर से इस प्रथा का निर्माण कर सकेंगे, तभी कुछ समय बाद हम इस बात को न्यायसंगत सिद्ध करने में सफल होंगे कि निर्वाचन में अध्यक्ष का मुकाबला न किया जाये।

अब मैं सब विधानमंडलों की कुछ सामान्य समस्याओं को लेता हूं जिन्हें हल करने की आवश्यकता है ताकि यह आशा की जा सके कि विधानमंडलों का कार्य कुशलतापूर्ण और प्रभावी हो। इन समस्याओं में से अत्यंत महत्वपूर्ण उस कार्य के लिए समय ढूंढना है, जिसे नित्यप्रति का कार्य कहा जा सकता है और जिसे विधान-मंडलों को करना पड़ता है। सरकार के स्वरूप के पुलिस राज्य से कल्याण राज्य में परिवर्तित होने पर विधान-संबंधी कार्य, नीति निर्देशन और सरकार के प्रशासन और अन्य विभिन्न कार्यों पर संसदीय पर्यवेक्षण और नियंत्रण के स्वरूप, आवश्यकता और मात्रा में भी आवश्यक परिवर्तन हुआ है। जब तक लोकप्रिय दृष्टि से उचित और पर्याप्त नियंत्रण न किया जाये, प्रशासन निम्न कोटि का और व्यर्थ हो जाता है और वह करदाता के लिए सेवा का साधन बनने की बजाय भारस्वरूप और कष्टदायक बन जाता है। इसके साथ ही अत्यधिक नियंत्रण से भय है कि प्रशासन कार्यारंभ करने की भावना खो देगा और विधानमंडल का जो उद्देश्य है वह विफल हो जायेगा। अतः एक ओर कार्य में स्वतंत्रता और दूसरी ओर नियंत्रण, उसके ढंग और मात्रा—इनके बीच उचित संतुलन रखने की समस्या है। निर्वाचकों के सामान्य स्तर को ऊंचा करने और उसके परिणामस्वरूप विधानमंडलों के स्तर को ऊंचा करने से सराहनीय मात्रा में सहायता मिल सकती है। परंतु चूंकि उसमें अधिक समय लगेगा, अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस संतुलन को रखने के लिए आरंभ में ही कुछ सतर्कतापूर्ण प्रयास की आवश्यकता है।

चूंकि अब सरकारी कार्यवाहियां जीवन के सभी पहलुओं में व्याप्त होती जा

रही हैं, अतः विधान कार्य में बहुत वृद्धि हो रही है और स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि विधान संबंधी तथा अन्य कार्य निबटाने के लिए विधानमंडल को एक वर्ष में कितने समय बैठकें करनी होंगी। विधान के विषयों में चर्चाएं किस प्रकार की हों और उनके लिए कितना समय दिया जाये? अब तक यह प्रथा रही है कि वित्तीय विषयों और कुछ अन्य विषयों को छोड़कर विधेयकों आदि पर चर्चा करते समय कोई भी समय-सीमा नहीं होनी चाहिए। तो भी अनुभव से पता चला है कि जब तक समय बचाने का कोई ढंग न निकाला जाए, विधानमंडल के लिए अपना कार्य उचित समय में करना संभव नहीं है। इन उपचारों में समय की सीमा निश्चित करना भी एक है।

कठिनाई मुख्यतः इस कारण पैदा होती है कि हमारे विचार अभी परिवर्तन और सरकारी कार्य के बदलते स्वरूप के अनुकूल नहीं हुए हैं। हमारे ऊपर अब भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के पुराने विचारों का प्रभुत्व है और यद्यपि हम आयोजित समाज, आयोजित अर्थव्यवस्था आदि की बातें करते हैं, तथापि हम अभी विधान-मंडल के कार्य को आयोजित करने के लिए कुछ भी नहीं कर रहे हैं। परंतु यह स्पष्ट है कि जब तक हम विधान-संबंधी कार्य संचालन को आयोजित न करें, तब तक विधान-मंडलों से जिस सेवा की अपेक्षा की जाती है, वे उसे नहीं कर सकेंगे। जहां तक संसद का संबंध है, कई ढंगों से प्रयत्न किया जा रहा है, जिसका एक महत्वपूर्ण पहलू कार्य मंत्रणा समिति की रचना है। इस समय समिति सारे सरकारी कार्य पर, जो किसी विशेष सत्र में रखे जाने को है, विचार करती है और सारे कार्य को दृष्टिगत रखते हुए और किसी विधेयक की विवादास्पद प्रकृति और महत्व को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक विधेयक के लिए समय नियत करती है। परंतु इस सिद्धांत पर आगे भी विचार करना पड़ता है। सारे विधेयक के लिए समय नियत करना पर्याप्त नहीं, विधेयकों के विभिन्न प्रक्रमों के लिए भी समय नियत करना पड़ता है। परंतु अभी तक भाषणों के लिए समय-सीमा रखने के लिए कोई निश्चित प्रयत्न नहीं किया गया। क्योंकि यह प्रयास अभी प्रयोगात्मक और रचनात्मक अवस्था में ही है, अतः समय नियत करते समय सभा के विभिन्न दलों की सहमति ली जाती है। कभी-कभी समय नियत करने में गलती होती है और अतिरिक्त समय दे दिया जाता है। परंतु अतिरिक्त समय दिये जाने पर भी परिणाम उत्साहजनक रहता है।

फिर प्रतियोजित विधान का प्रश्न उत्पन्न होता है, जो कि अधिनियमन द्वारा सरकार को सौंपी गयी शक्ति के अनुसरण में विधि के समान शक्ति रखने वाले नियम और विनियम बनाने का अधिकार कार्यपालिका को सौंप कर सभा का समय बचाने के लिए अपनाया जाता है। यहां पर भी सतर्क रहने की आवश्यकता है। यदि नियम बनाने की शक्ति विधान-मंडल की जांच के बिना सरकार पर छोड़ दी

जाए, तो संभव है कि उसका अधिक विस्तृत प्रयोग किया जायेगा और कभी-कभी उस प्रयोजन अथवा ढंग से भिन्न रूप में प्रयोग किया जायेगा जो कि विधान-मंडल का उद्देश्य था। अतएव सरकार अपनी नियम-निर्माण की शक्ति के अनुसरण में समय-समय पर जो नियम और विनियम बनाए, उनकी सख्त जांच की आवश्यकता है। इस प्रयोजन के लिए हमने संसद में एक समिति बनाई है, जिसका नाम प्रत्यायोजित विधान समिति है। यह सरकार द्वारा बनाये गये नियमों और विनियमों की जांच करती है और सभा को प्रतिवेदन देती है। मुझे इसमें संदेह नहीं कि यदि सदस्यों ने अपने कर्तव्यों को समझा और उनका ध्यानपूर्वक पालन किया, तो कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग करते समय उचित सीमा में रहेगी। परंतु इसके लिए सदस्यों को अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक रहना होगा और ध्यानपूर्वक उनका पालन करना होगा।

परंतु केवल समय कम करने से मुख्य समस्या हल नहीं हो जाती। यह आवश्यक है कि विधान अथवा अन्य विषयों पर होने वाली चर्चा में भाग लेने के इच्छुक अधिकतम विधायकों को अपने भाव व्यक्त करने का अवसर दिया जाना चाहिए। यदि सदस्यों को विषय-संगति और पुनरावृत्ति के परिहार के नियमों का ज्ञान हो, तो समय की काफी बचत हो सकती है। परंतु इस प्रारंभिक काल में इतनी अधिक आशा नहीं की जा सकती। सदस्यों में उन अन्य सदस्यों का ध्यान रखने का भाव भी पैदा करना होगा, जिन्हें बोलने का अवसर मिलना चाहिए और इस प्रकार भाषणों पर समय संबंधी प्रतिबंध अध्यक्ष द्वारा लगाया जाने की अपेक्षा प्रायः स्वयं लग जाया करेगा। एक और उपचार का प्रयोग किया जा रहा है कि प्रायः प्रत्येक महत्व-पूर्ण विधेयक पर तुलनात्मक दृष्टि से अधिक सदस्यों की एक प्रवर समिति बनायी जाती है और यह प्रथा है कि जिनका नाम प्रवर समिति के सदस्यों में हो, वे फिर बोलने के लिए अध्यक्ष की दृष्टि में पड़ने का प्रयत्न न करें। अभिप्राय यह है कि चूंकि प्रवर समिति के सदस्यों को विधेयक की आलोचना करने का पूर्ण अवसर मिल जाता है, अतः यह आवश्यक है कि वे सभा में प्रवर समिति से बाहर के सदस्यों को अपने विचार व्यक्त करने का अवसर दें जिनकी ओर वे प्रवर समिति का ध्यान दिलाना चाहते हैं। मुझे यह कहते हुए हर्ष होता है कि लोक सभा ने इस प्रथा का स्वागत किया है और आशा है कि इसका परिणाम अच्छा होगा।

अनौपचारिक बातों से, जैसा मुझे पता लगा है, कुछ माननीय सदस्यों के मन में संभवतः एक शंका उठा करती है, जिसकी ओर मैं निर्देश करना चाहता हूं। प्रवर समिति के सदस्य को न बोलने देने की प्रथा उस समय होती है जब प्रवर समिति को निर्देशन के प्रस्ताव पर चर्चा की जा रही हो। जब प्रतिवेदन सभा को प्रस्तुत कर दिया जाये, तो प्रत्येक व्यक्ति जो बोलना चाहे और सौभाग्यवश अध्यक्ष की

दृष्टि उस पर पड़ जाये, वह बोल सकता है।

विधान के अतिरिक्त अन्य बहुत से ऐसे विषय हैं जो चर्चा के लिए सभा के समक्ष आते हैं। वार्षिक आय-व्ययक एक सामान्य बात है। इसके अतिरिक्त बहुत से और विषय भी हैं जो किसी न किसी रूप में सभा के समक्ष आते हैं और उनके लिए समय निकालना होता है। मैं उन विभिन्न रीतियों के ब्योरों को नहीं लेना चाहता जिनसे चर्चा को कुछ विशेष बातों तक सीमित किया जा सकता है। सभा का समय विभिन्न समितियों अथवा दलों द्वारा औपचारिक अथवा अनौपचारिक चर्चाओं द्वारा भी बचाया जा सकता है।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न सरकार की विभिन्न व्यापारिक-कार्यवाहियों पर संसदीय नियंत्रण का है। इस नियंत्रण का प्रयोग प्रश्नों और संकल्पों आदि के अधिकार के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में किया जाता है। इन व्यापारिक-कार्यवाहियों की नीतियों और वित्त-व्यवस्था पर कुछ प्रभावी नियंत्रण होना चाहिए। यह नियंत्रण प्राक्कलन और लोक लेखा समितियों द्वारा किया जाता है। मेरे विचार में मंत्रियों के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष नियंत्रण अथवा प्रभाव से दूर रहकर केवल सदस्यों में से ही ये समितियां बनानी चाहिएं। मुझे हर्ष है कि कुछ विधानमंडलों में प्राक्कलन समितियां बनायी गयी हैं, यद्यपि मुझे बताया गया है कि कुछ मामलों में उन समितियों की अध्यक्षता प्रभारी मंत्री करते हैं। मुझे यह शंका है कि यह प्रथा लाभदायक नहीं है। सरकार के अधिकारी और विशेषज्ञ तो सदा संदेह और कठिनाई की बातों को स्पष्ट करने के लिए प्राक्कलन समिति की सेवा में तत्पर होने ही चाहिएं, परंतु समितियां अपने ढंग से चर्चा करने और जो जानकारी वे चाहती हैं, उसे मंगाने के लिये स्वतंत्र होनी चाहिएं। इस ढंग से कोई हानि नहीं होगी, वरन् उसकी अपेक्षा दोहरा लाभ होगा। पहले तो सदस्य स्वतंत्रता से और बिना प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सरकारी प्रभाव के कार्य कर सकेंगे और विचार कर सकेंगे और दूसरी ओर सरकार को अपने प्रशासन का स्वतंत्र पुनर्विलोकन और आलोचना जानने का अवसर मिल जायेगा। स्वतंत्र सदस्य प्रतिष्ठा की भावनाओं से मुक्त रहकर निष्पक्ष भाव से प्रश्न पर विचार करेगा।

व्यापारिक सिद्धांतों पर सेवाओं अथवा व्यवसायों को चलाने के लिए 'संविहित स्वायत्तशासी निगम' कहलाने वाले निगमों को बनाने की हाल की बढ़ती हुई प्रथा को ध्यान में रखते हुए संसदीय नियंत्रण के प्रश्न का विशेष महत्व हो गया है। जब तक ऐसे निगम क्षमता और ईमानदारी के लिए विख्यात अनुभवी व्यापारियों के नियंत्रण के अधीन न हों, केवल स्वायत्तशासी निगम बनाने से अपेक्षित उद्देश्य पूर्ण नहीं होगा। यदि इन निकायों अथवा निगमों को स्थायी सेवा के कर्मचारी चलायेंगे, तो स्वायत्तशासी और पृथक् निगम बनाने का कोई व्यावहारिक लाभ नहीं होगा।

एक व्यक्ति नित्य प्रति के सरकारी कार्य में चाहे जितना दक्ष हो, उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि उसमें इतना व्यापारिक अनुभव और सतर्कता होगी जिससे समवाय की सफलता में सहायता मिल सकती है। अतः इस बात की बहुत संभावना है कि ये तथाकथित स्वायत्तशासी निगम केवल सरकारी विभागों के विस्तार मात्र हों, जिन पर वे विभिन्न नियंत्रण नहीं होंगे जो उस समवाय पर होते हैं जो संविहित निगम के अधीन नहीं होता। इस पृष्ठभूमि पर संसदीय नियंत्रण का अत्यधिक महत्व हो जाता है, क्योंकि विधानमंडल ऐसे सब निगमों को चलाने के लिए धन देता है। उसके फलस्वरूप विधानमंडल को अधिकार है कि वह उपक्रम के पथ-प्रदर्शन के लिए और उसकी नीति की रूपरेखा बनाने के लिए आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकता है। स्वायत्तशासन केवल यही होगा कि विधानमंडल द्वारा उपबन्धित सीमाओं में नीति का पालन किया जाये। अतएव यह स्पष्ट है कि यद्यपि दिन-प्रतिदिन के प्रशासन में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए परंतु जांच अवश्य होनी चाहिए और विधानमंडल को ऐसी जानकारी अवश्य दी जानी चाहिए जिससे वह जान सके कि निगम चलाने का उद्देश्य कहां तक पूरा हो रहा है। यह प्रश्न नया है परंतु व्यापारिक सिद्धांतों पर काम चलाने के लिए स्वायत्तशासी समवाय चलाने की नीतियों को ध्यान में रखते हुए भविष्य में इसका महत्व बढ़ने की संभावना है।

20

अधीनस्थ विधान*

हमारे देश में संसदीय लोकतंत्र का जन्म कुछ समय पूर्व ही हुआ है तथा यदि हम यह चाहते हैं कि इसकी इतनी उन्नति हो जाये जिससे जनता को लाभ होने लगे, तो इसके लिए हमें इसकी बड़ी सावधानी से देखभाल करनी होगी।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि संसद जनता का प्रतिनिधित्व करती है तथा इस पर जनता के लाभ के काम करने का भार है। इससे जनता तथा उसके प्रतिनिधियों के निकट सम्पर्क का पता लगता है। हमारे देश में इन प्रतिनिधियों को कई काम करने पड़ते हैं। इसलिए एक विधायक के दो प्रकार के काम होते हैं : उसे केवल विधानमंडलों में जनता के विचार ही नहीं बताने पड़ते हैं अपितु उसको संसद के द्वारा समय-समय पर किये गये वैधानिक तथा दूसरी प्रकार के भिन्न कार्यों में निहित उद्देश्यों तथा संसद के विचार निर्वाचकों को बताकर, उनको शिक्षित भी करना होता है। ऐसा करने में विधायक को किसी विशेष प्रश्न के एक पहलू का अध्ययन ही नहीं करना चाहिए तथा उसके बारे में जानकारी ही नहीं रखनी चाहिए, अपितु सबसे महत्वपूर्ण बात जिसका उसे ध्यान रखना चाहिए वह यह है कि संसद की नीतियों तथा विधियों को लागू करने के लिए बनाये गये प्रशासन ने किस सीमा तक जनता के लाभार्थ काम किया है तथा किस सीमा तक उसने जनता को असुविधायें दी हैं अथवा उसको पीड़ित किया है और इसलिए क्या उसमें परिवर्तन की आवश्यकता है। प्रशासन सचिवालय में बैठकर अपना काम करता है तथा यद्यपि इसमें सद्भावना वाले बुद्धिमान तथा विद्वान् व्यक्ति होते हैं, परंतु फिर भी जनता की प्रतिक्रिया, असुविधाओं तथा कठिनाइयों की, जो जनता विधियों के लागू

* अधीनस्थ विधान सम्बन्धी समिति के समक्ष भाषण, 7 दिसम्बर, 1954

करते समय उठाती है, पूर्ण जानकारी उनको नहीं होती है। इसलिए विधायक को बीच की कड़ी के रूप में काम करना होता है तथा प्रशासन को जनता के लाभ, सुविधा तथा भलाई के लिए परिवर्तित करना पड़ता है।

इन दिनों जब कि सरकार का स्वरूप बदल चुका है और यह तेजी से बदलता जा रहा है, संसद कर्तव्य भी अनेकविध एवं कष्ट-साध्य होते जा रहे हैं। अपने राज्य की एक कल्याणकारी राज्य के रूप में हमारी कल्पना में प्रशासन नागरिक के जीवन के प्रत्येक अंग और पहलू पर छा जाता है, और इसलिये स्वाभाविक रूप से ही विधान कार्य का क्षेत्र अत्यन्त ही व्यापक हो जाता है और उन कानूनों की, जिनका बनाया जाना आवश्यक हो जाता है, संख्या भी बहुत अधिक हो जाती है।

ऐसी स्थिति में, विधायकों के किसी निकाय के लिए उन सभी छोटे-छोटे नियमों अथवा विनियमों पर, जो सरकार द्वारा प्रस्तावित विभिन्न विधियों, योजनाओं आदि के कार्यकरण के लिए अनिवार्य हों, विचार करना, चर्चा करना और उनका अनुमोदन करना असंभव हो जाता है। संसद के विभिन्न कर्तव्यों तथा कार्यों के लिए अवधि भी निर्धारित होती है। उसे कार्यपालिका पर अधीक्षण तथा ध्यान रखना पड़ता है; उसे वित्त पर नियंत्रण रखना पड़ता है। उसे कार्यपालिका के मार्गदर्शन के लिए दर्शन सामान्य नीति निर्धारित करनी पड़ती है तथा और बहुत से काम करने पड़ते हैं। इसलिए संसद विधान कार्य के मामले में भी केवल यही कर सकती है कि वह किसी विधान से संबंधित मोटी-मोटी बातें निर्धारित कर दे और उसकी ब्यौरे की बातें कार्यपालिका द्वारा, विधान सभा के अधिनियम के रूप में प्रकट की गयी इच्छाओं को वांछनीय ढंग से कार्यान्वित करने हेतु, निश्चित किये जाने के लिए छोड़ दे।

इससे विधान द्वारा लगायी गयी सीमाओं और व्याप्ति में कार्यपालिका को विधान की संसदीय शक्तियों के प्रत्यायोजन की आवश्यकता हुई। अब तक के अनुभव से यह पता लगा कि सरकार का कार्य कार्यपालिका के द्वारा बनाये गये नियमों से अधिक चलाया जाता है तथा संसद द्वारा सरकार के लिए निर्धारित सिद्धांतों से नहीं चलाया जाता है। इस प्रकार, ब्रिटेन के अनुभवी सांसदों के शब्दों में, नियम-निर्माण के अधिकार को विधान द्वारा कार्यपालिका में निहित कर दिये जाने के कारण इसने एक प्रकार की 'नयी निरंकुशता' को जन्म दिया है। इस नयी निरंकुशता को नियंत्रण में उचित सीमाओं पर और सही मार्ग पर रखने के अभिप्राय से ही संसद इस समिति के माध्यम से कार्य करती है।

यह समझना चाहिए कि शक्ति का प्रत्यायोजन आवश्यक भी है तथा खतरनाक भी। इसलिये हमें वे सभी कार्य करने हैं जिससे नियम बनाने की शक्ति के गलत प्रयोग के खतरे कम किये जा सकें।

आपकी समिति के कर्तव्यों का उल्लेख मेरे लिये आवश्यक नहीं है। वे प्रक्रिया नियमों में खुलासा तौर पर बताये गये हैं, परन्तु मैं इस समय यह कहना चाहता हूं कि प्रक्रिया नियमों को ही अन्तिम रूप से नहीं मान लेना चाहिए। क्योंकि समिति अभी नयी बनी है, इसलिए हम अपने कार्यों की सूची बना रहे हैं तथा अनुभव से ही हमारा मार्ग-दर्शन होगा और अत्युत्तम संसदीय लोकतंत्र के उद्देश्य को पूरा करने के लिए प्रक्रिया नियमों में समय-समय पर आवश्यक परिवर्तन करने होंगे। दूसरे शब्दों में, मैं यह कहना चाहता हूं कि यद्यपि नियमों से हमारा मार्ग-दर्शन होता है तथापि वे केवल हमारे अनुभवों के विवरण हैं और उसी दृष्टिकोण से हमारे नियमों में सर्वदा सुधार हो सकता है। इसलिये आपके कर्त्तव्य नियमों तक ही सीमित नहीं हैं। यद्यपि नियमों से पर्याप्त मार्ग-दर्शन हो सकता है, तथापि हमें अपने उद्देश्य को सामने रखना है और अपने उसी उद्देश्य के अनुसार हमारे सम्मुख प्रस्तुत मामले पर हमें विचार करना है। समय पर हम आपकी इस समिति के क्षेत्र तथा कर्त्तव्यों को स्थायी रूप देने में समर्थ होंगे। हमें सावधानी से, धीरे-धीरे, आगे बढ़ना है।

इसलिए यह स्पष्ट है कि इस समिति की कल्पना किसी भी प्रकार से कार्य-पालिका शासन अथवा प्रशासन के विरोधी के रूप में नहीं की गयी है। इसकी कल्पना ऐसे व्यक्तियों के एक निकाय के रूप में की गयी है जिसका जनता से सम्पर्क है, और जो वास्तविक प्रशासन से कोई सम्बन्ध न रखने के कारण स्वतन्त्र और पृथक् दृष्टिकोण अपनाने में सक्षम है। वह प्रशासन के भागीदार, सहयोगी और मित्र हैं और इसी भावना से वह नियमों और विनियमों की जांच करते हैं। समिति को प्रस्तुत प्रश्नों की निष्पक्ष रूप से जांच करनी चाहिए, क्योंकि वे समूची सभा के स्थान पर अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, किसी दल-विशेष के स्थान पर नहीं। एक बार निर्णय किये जाने के बाद, चाहे वह बहुमत का ही निर्णय क्यों न हो, वह सभा का निर्णय बन जाता है, और समिति का प्रत्येक सदस्य इसी आधार पर कार्य करने के लिए बाध्य होता है कि अधिनियमित विधियों और निर्धारित नीतियों का उद्भव सम्पूर्ण सभा से ही हुआ है और इसीलिए नियमों द्वारा उन विधियों के कार्यान्विति की जांच करने में किसी प्रकार के दलगत पक्षपात की सम्भावना नहीं है।

21

भारत में संसदीय लोकतंत्र*

लोकतंत्र की आधुनिक प्रणाली और उसमें सन्निहित निर्वाचनों की व्यवस्था, चर्चाओं के तरीके, वाद-विवाद और तदनुसार निर्णय की व्यवस्था, कार्यपालिका सरकार की कार्य-विधि और किये गये निर्णयों को लागू करने के लिए प्रशासन की व्यवस्था, ये बातें हमारे लिए अपेक्षतया नयी हैं, तथापि स्वशासन का अंकुर इस देश में प्राचीनकाल से विद्यमान रहा है, और यह अंकुर गांवों की जनता में लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक पनपता रहा है किन्तु वह स्वशासन जनता की स्थानीय आवश्यकता तक ही सीमित रहता था, और यह प्रणाली किसी भी अर्थ में राजनीतिक लोकतन्त्र नहीं थी जिसका सम्बन्ध देश की सुरक्षा, उसके वैदेशिक सम्बन्धों, मुद्रा प्रणाली तथा सीमा शुल्कों इत्यादि से हो।

ब्रिटिश काल में प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए निर्वाचन करने के सिद्धांत पर आधारित आधुनिक प्रकार का लोकतन्त्र धीरे-धीरे सबसे पहले स्थानीय संस्थाओं में लागू किया गया और फिर प्रान्तीय और केन्द्रीय प्रशासनों में। आरंभ में इन प्रतिनिधि संस्थाओं के अधिकारों और कृत्यों का क्षेत्र बहुत ही सीमित था, पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, यह भी बढ़ता गया। इसका परिणाम यह हुआ है कि हम लोग ब्रिटिश पद्धति के लोकतन्त्र से खूब अभ्यस्त हो गये, और इसलिए हम संसदों की जननी (ब्रिटिश संसद्) को अपना आदर्श मानते रहे हैं। यद्यपि स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले के विधानमंडलों का कार्य क्षेत्र बहुत सीमित था, तथापि उनमें लोकतन्त्रात्मक और प्रतिनिध्यात्मक विधान मंडलों के विकास के अंकुर निहित थे।

इसी कारण से, यह स्वाभाविक ही था कि हमारी संविधान सभा ने संसदीय

* संसदीय पत्रिका, खंड 1, अंक 1 (अप्रैल 1955) का प्राक्कथन

लोकतन्त्रात्मक आदर्श को, जिसका अर्थ मुख्य रूप से ब्रिटिश संसदीय पद्धति ही है, जनता के हितों की सर्वोत्तम सेवा करने के लिए एक आदर्श सरकार के रूप में पसन्द किया। जहां तहां ब्रिटिश पद्धति की अपेक्षा कुछ भेद हो गया है, किन्तु मुख्य रूप में हमारे संविधान द्वारा स्वीकृत तरीका ब्रिटिश तरीका ही है।

हमने अब वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचनों के लिए अपेक्षित व्यवस्था कर ली है और विधानमंडलों में कार्य संचालन सम्बन्धी कुछ नियम भी बनाये हैं। इस तरह हमने अपने लोकतन्त्र को बाहरी रूप तो दे दिया है, किन्तु हमें अभी उस लोकतन्त्र तक पहुंचना है जो हमारा ध्येय है और जिसको प्राप्त करने की हम आकांक्षा करते हैं। यद्यपि लोकतन्त्र को जीवित रहने के लिए एक संस्था की आवश्यकता होती है, यद्यपि लोकतन्त्र की वास्तविक आत्मा लोकतन्त्रात्मक भावना तथा लोकतन्त्रात्मक विचार ही होते हैं। सारांश यह है कि लोकतन्त्र की विशेषता केवल निर्वाचनों सम्बन्धी नियमों तथा कार्य संचालन सम्बन्धी नियमों पर निर्भर नहीं होती, बल्कि उन लोगों की भावना तथा विचारों पर निर्भर होती है जिनको लोकतन्त्रात्मक विधानमंडलों के सदस्यों के रूप में कार्य करने का भार सौंपा जाता है।

यह मानना होगा कि ब्रिटिश लोकतन्त्र कुशलता से कार्य करता है और सदस्यों द्वारा प्रत्येक समस्या पर निरपेक्ष रूप से विचार किये जाने, देश के हित का सामान्य लक्ष्य अपने सामने रखने, सहनशीलता की भावना और पारस्परिक सहयोग तथा समझौते के कारण संसार में इसे एक आदर्श संसदीय लोकतन्त्र समझा जाता है। यह प्रणाली केवल संसद् की सभाओं में उठे हाथों की संख्या को गिनकर अथवा किसी भी ओर से उठायी गयी आवाज के परिणाम के आधार पर ही नहीं चलायी जाती है। इसलिए हमारे लिए भी यह आवश्यक है कि इस देश में ऐसी ही 'संसदीय भावना' का विकास करें, किन्तु हमें अपने विधानमंडलों की कार्य प्रणाली को ध्यान में रखना है और हमें एक वास्तविक लोकतन्त्रात्मक प्रणाली के लिए अपेक्षित ऐसी भावना तथा प्रक्रिया को विकसित करना है जो हमारे देश की भूमि, प्रतिभा तथा संस्कृति के अनुकूल हो।

संसदीय लोकतन्त्र की स्थापना की दिशा में हमारी प्रगति स्वभावतः मन्द और श्रम-साध्य होगी। किन्तु हमें कठोर परिश्रम करना चाहिए और धैर्य रखना चाहिए। यदि हम अपने देश में संसदीय लोकतन्त्र को इस अर्थ में सफल बनाना चाहते हैं कि वह जनता की अधिक से अधिक सेवा कर सके और उसे शान्ति, प्रगति एवं समृद्धि प्राप्त करा सके, तो जो कुछ मैंने कहा है उसका उत्तरार्द्ध यह हो सकता है कि यद्यपि संसदीय जीवन में ब्रिटिश पूर्वोदाहरण हमारे लिए अत्यन्त मूल्यवान मार्ग-दर्शक हैं, क्योंकि वह मानव के शताब्दियों के अनुभवों का सार हैं,

तथापि हमारे लिए उन पूर्वोदाहरणों में से प्रत्येक का अनुसरण करना न तो सम्भव होगा और न वांछनीय ही क्योंकि हमारी विचारधारा तथा स्वभाव, हमारी संस्कृति तथा सभ्यता, हमारा सामाजिक ढांचा तथा इतिहास ब्रिटिश प्रतिरूपों से पूरी तरह भिन्न है। उनकी कुछ परिपाटियां तथा रीतियां ऐतिहासिक विकास का परिणाम हैं और उनका संविधान, यद्यपि सुनिश्चित है, तथापि अभी तक अलिखित ही है। इसलिए, हमें अभी प्रयोग तथा प्रयत्न करते रहना चाहिए ताकि अन्ततोगत्वा हम अपने विधानमंडलों में अपने स्वतन्त्र राष्ट्रीय अस्तित्व तथा जीवन की निर्माणोन्मुख अवस्था में प्राप्त हुए अनुभव के आधार पर कार्य संचालन सम्बन्धी तरीकों में स्थिरता ला सकें।

अतः इस देश के सभी विधानमंडलों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे एक दूसरे की कार्यवाहियों, समस्याओं और हलों—काम में लाये गये या सुझाये गये—के सम्बन्ध में निरन्तर जानकारी प्राप्त करते रहें ताकि प्रत्येक विधानमंडल अनुभव तथा ज्ञान के एक सर्वसामान्य संचय का लाभ प्राप्त कर सके तथा इस प्रकार जनहित में और अच्छी तरह काम करने के योग्य बन सके। मैं आशा करता हूं कि संसदीय पत्रिका इस आवश्यकता की पूर्ति करेगी। अतः मैं इसका स्वागत करता हूं और इसकी मंगल कामना करता हूं।

मुझे विश्वास है कि संसदीय पत्रिका केवल भारत के विधानमंडलों की महत्वपूर्ण घटनाओं का एक लाभदायक अभिलेख ही नहीं रहेगी, बल्कि भारत में एक आदर्श लोकतन्त्र के विकास के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों तथा समितियों की अभिव्यक्ति का एक माध्यम भी बन सकेगी।

22

प्रशासन पर निगरानी*

लोकप्रिय प्रतिनिधित्व तथा राष्ट्रीय कल्याण की वृद्धि के लिए किये जाने वाले कार्यों के प्रत्येक क्षत्र में सरकार के काम के लिए जो कार्य व्यवस्था बनायी गयी है, वह बहुत ही विशद है, और इस व्यवस्था के प्रत्येक भाग को अलग-अलग अपने-अपने काम दिये जाते हैं, पर हर एक भाग दूसरे प्रत्येक भाग से प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध रहता है और इसीलिए प्रत्येक भाग को अपना कर्तव्य पूरा करते समय एक पूर्ण संस्था के एक अंग के रूप में काम करना पड़ता है और हमेशा उस सम्मिलित उद्देश्य तथा आदर्श को याद रखना पड़ता है। अतः यद्यपि लोक लेखा समिति का काम एक विशेष क्षेत्र अर्थात् लेखाओं के परीक्षण तक ही सीमित है, पर परीक्षण का ढंग ऊपर बताये गये मूल आदर्श तथा उद्देश्य के अनुसार ही होना चाहिए।

आरम्भ में ही मैंने इस बात का उल्लेख करना इसलिए उचित समझा कि काम को अधिक अच्छी तरह तथा शीघ्रता से करने की सुविधा के लिए काम का जो बंटवारा कर दिया जाता है, उससे इस बात का बहुत डर रहता है कि लोगों में कहीं विभागीयता की भावना न पैदा हो जाये और परिणामस्वरूप कर्मचारियों का दृष्टिकोण संकुचित हो जाय। इससे इस बात का डर रहता है कि हम मुख्य उद्देश्य को तो भूल जायें और विभिन्न नियमों तथा विनियमों के, जो कि समाज के सामान्य हित के लिए होते हैं, चक्कर में पड़ जायें। अतः यद्यपि हो सकता है कि समिति में हम जिन विषयों पर चर्चा करें, उनकी व्याप्ति बहुत सीमित हो जाय पर हमें चर्चा करते समय उन मूल सिद्धांतों का और उस प्रयोजन का हमेशा ध्यान

* संसद तथा राज्य विधानमंडलों की लोक लेखा समितियों के सभापतियों के सम्मेलन के समक्ष भाषण, 30 अप्रैल, 1955।

रखना चाहिए जिनके लिए विभिन्न नियम, विनियम, रूढ़ियां आदि या तो सीधे संविधान द्वारा या विधानमंडलों द्वारा या अप्रत्यक्ष रूप से काफी समय से स्थापित परिपाटियों तथा रूढ़ियों द्वारा बनाये गये हैं।

वित्त के विषय के महत्व और लोक प्रशासन के मामलों में ठीक लेखा रखने के महत्व के सम्बन्ध में इस समय कुछ कहना आवश्यक है। ठीक लेखा रखने से मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि रुपयों, आनों और पाइयों में आय तथा व्यय का लेखा-जोखा रखना। यह लेखा-जोखा तो रखा ही जाता है पर इस बात का बहुत अधिक महत्व है कि व्यय के औचित्य, उसमें बचत तथा उसकी दिशा को ध्यान में रखा जाये। विधानमंडल नीतियों तथा कार्यक्रमों को लागू करने के लिए उन पर चर्चा करते हैं तथा उनकी छान-बीन करते हैं। उसके बाद सरकार द्वारा उन नीतियों और कार्यक्रमों को कार्यान्वित कराने के लिए वे अपेक्षित वित्त स्वीकृत करते हैं। चूंकि विधानमंडल वित्त स्वीकृत करते हैं, अतः जनता पर कर लगाने का अधिकार उन्हें अनिवार्य रूप से प्राप्त होता है और इसीलिए कर देने वालों के लिए आवश्यक है कि वे व्यय तथा आय के लेखे-जोखे का ही परीक्षण तथा उसकी छानबीन न करें, और उचित अधिकारियों की स्वीकृति को ही न देखें, बल्कि यह भी देखें कि नीतियों को किस प्रकार कार्यान्वित किया गया है और क्या शासन जनता द्वारा कर के रूप में दी गयी राशि के अनुपात में ही जनता की सेवा कर रहा है। जब तक इन बातों को ध्यान में नहीं रखा जायेगा, तब तक लेखाओं का परीक्षण कर-दाताओं पर एक और बोझ के रूप में होगा और इन समितियों पर किये जाने वाले व्यय का कोई औचित्य नहीं होगा। मैंने लोक लेखा समिति के कृत्यों की व्याप्ति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसका सुझाव देना मेरा अभिप्राय नहीं है। उसके वास्तविक कार्य की व्याप्ति तो सीमित रहेगी, पर उसकी चर्चा तथा निर्णय उस भावना से प्रेरित होंगे जिसमें उसे सौंपे गये कृत्यों का निर्वहन किया जाना है।

यद्यपि जनता की सरकार का सम्पूर्ण स्वरूप जनता के लाभ के लिए एक पूर्ण संस्था के रूप में रखा गया है और यद्यपि उसी प्रयोजन के लिए काम को कई भागों में बांट दिया गया है, फिर भी, दुर्भाग्यवश, यह बात पूर्ण रूप में सत्य है कि प्रशासकीय व्यवस्था के कुछ भागों को अभी एकरूप में संगठित होने में बहुत समय लगेगा। उसके बाद ही दृष्टिकोण, भावना तथा कृत्यों की दृष्टि से उसके सभी भाग एक अविभाज्य पूर्ण के रूप में बन पायेंगे। यह मानव स्वभाव है कि जब वह अन्य लोगों के साथ एक ही प्रयोजन और एक ही उद्देश्य की पूर्ति के कार्य करता है तो वह मुख्य प्रयोजन को भूल जाता है और व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण अपना लेता है।

इसी कारण प्रशासन के कई विभागों में हम दृष्टिकोण का ही संघर्ष नहीं

पाते, बल्कि कृत्यों में भी संघर्ष पाते हैं। विधान मंडल महसूस करते हैं कि कार्य-पालिका सरकार उनकी इच्छाओं का उचित सम्मान नहीं करती। कार्यपालिका महसूस करती है कि विधानमंडल बहुत अधिक हस्तक्षेप करते हैं और विभिन्न मामलों, बातों तथा सन्देहों को पैदा करके उसके काम में रुकावट डालते हैं। कार्य-पालिका तथा विधानमंडल दोनों महसूस करते हैं कि न्यायपालिका उनके आगे बढ़ने में रुकावट डालती है। और यह तीनों समझते हैं कि लेखा परीक्षा उनके लिए परेशानी पैदा करती है, क्योंकि वह कई प्रकार के व्ययों की सक्षमता तथा उनके औचित्य पर आपत्ति उठाती है। साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि ये सब विचारधारायें सद्भावनापूर्ण तथा सच्ची हैं।

कितनी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि पूर्ण प्रशासन के विभिन्न विभागों में एक दूसरे के प्रति असुविधा पैदा करने या नाराजगी प्रकट करने की भावना है। यदि हम इस स्थिति की उपेक्षा करें तो इससे कोई लाभ नहीं होगा। अतः हमें संपूर्ण सरकारी व्यवस्था को एक मानकर उसे ठीक प्रकार से समझकर और सद्भावना पैदा करके इस स्थिति को संभालने का प्रयत्न करना चाहिए और यही भावना संपूर्ण व्यवस्था में ओत-प्रोत होनी चाहिए और एक सहयोगपूर्ण व्यवस्था के लिए सभी विभागों को सहयोग के साथ काम करना चाहिए। यह लक्ष्य तभी पूरा हो सकता है जब सभी विभाग एक दूसरे की कठिनाइयों को समझते हुए परस्पर सहयोग करें और ये कठिनाइयां एक दूसरे की सहायता तथा सहयोग से ही दूर की जा सकती हैं। किसी भी विभाग को यह नहीं चाहिए कि वह केवल दूसरे विभाग की गलतियों को ढूंढे और यह सिद्ध करे कि प्रशासन में जो त्रुटि है, वह इसी कारण है कि अमुक विभाग ने अमुक काम किया है या नहीं किया है। अपराध चाहे किसी का हो, पर साधारण नागरिक को उससे होने वाली हानि उठानी ही पड़ती है और वह विभिन्न विभागों या शाखाओं को अलग-अलग नहीं मानता, बल्कि संपूर्ण सरकार पर दोष लगाता है। लेखा-परीक्षा पदाधिकारियों तथा लेखापालन-पदाधिकारियों और विधान-मंडलों की संसदीय समितियों को इन बातों को ध्यान में रखकर काम करना पड़ता है। नियमों का पालन यद्यपि परमावश्यक है, फिर भी यदि नियमों का शाब्दिक पालन किया जाय तो उससे कभी-कभी लोगों को कष्ट होने का डर रहता है। नियमों का पालन तो अवश्य होना चाहिए, पर उदार तथा मानवीय दृष्टिकोण से उन नियमों की व्याख्या तथा उनको लागू करने में हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उससे साधारण जनता का हित हो। नियम की व्याख्या में नियम की भावना लेनी चाहिए न कि उसके शब्दों का अर्थ।

आज की सरकार चाहे उसका जो भी स्वरूप हो, नागरिकों के कल्याण के लिए है। यही वह धुरी है जिस पर सभी नियमों तथा कानूनों की व्याख्या आधारित है।

पुराने मूल नियमों के पालन में बहुत ही अधिक विलम्ब और परेशानी होती थी और कई बार, इसके परिणामस्वरूप, प्रशासन के मामलों में निराशा भी पैदा होती थी। मैं समझता हूं कि अब वह समय आ गया है जब इन नियमों में शीघ्र से शीघ्र संशोधन होना चाहिए। यद्यपि इतने बड़े प्रशासन के लिए नियमों का होना आवश्यक है पर उनकी संख्या इतनी अधिक नहीं होनी चाहिए कि उसके लिए विशेषज्ञ रखने पड़ें। उनकी संख्या में कमी की जानी चाहिए और उनमें मूल सिद्धांतों के निदेश होने चाहिएं। प्रत्येक आकस्मिकता या स्थिति के लिए नियम होते हुए भी बड़े-बड़े पदाधिकारियों को स्वविवेक से काम करने का अधिकार मिलना चाहिए। यदि इतने विस्तृत नियम रखने हैं, तो उच्च श्रेणी के इतने अधिक पदाधिकारियों की क्या आवश्यकता है? मूल उद्देश्य यह है कि सरकारी व्यय में ईमानदारी बरती जाये और काम को जल्दी से निबटाया जाय और आन्तरिक झगड़ों को समाप्त कर दिया जाये।

वित्तीय समितियों को, जो सरकारी वित्त के परीक्षण के लिए प्रभारी होती हैं, व्यय करने, लेखा रखने तथा लेखा परीक्षा के इन वित्तीय नियमों के काम के बारे में काफी व्यावहारिक अनुभव प्राप्त होता है। वे इस बात को भी देख सकती हैं कि विभिन्न प्रकार की स्वीकृतियों को प्राप्त करने में और उन स्वीकृतियों को एक पदाधिकारी से दूसरे पदाधिकारी तक आने जाने में कितना विलम्ब होता है। समितियां चाहे तो वर्तमान स्वरूप में परिवर्तन करने के लिए सुझाव दे सकती हैं। इन नियमों का अध्ययन किये बिना भी कोई भी व्यक्ति कह सकता है कि इन नियमों में अब संशोधन किया जाना चाहिए, क्योंकि अब सरकारी काम का उद्देश्य उस समय के सरकारी काम के उद्देश्य से बिल्कुल भिन्न है जब ये नियम बने थे। इसके अलावा एक कारण यह भी है कि अब जो सरकार है वह विदेशी नहीं है, बल्कि राष्ट्रीय है।

कभी-कभी लोक लेखा समिति को शव परीक्षा करने वाली समिति समझा जाता है। यह बात अंशतः ही ठीक है ऐसा समझना गलत है कि समिति का उद्देश्य केवल यह है कि वित्तीय स्वीकृतियों, आय-व्ययक उपबन्धों आदि संबंधी विविध नियमों का पालन हुआ है या नहीं। समिति को यह भी देखना पड़ता है कि क्या कार्यपालिका ने विधानमंडल द्वारा निश्चित की गयी नीतियों का पालन विधान-मंडल द्वारा निश्चित सीमा तथा निर्धारित ढंग से किया है कि नहीं। एक और भी उद्देश्य है कि इस प्रकार जो तथ्य या जो त्रुटियां मिलेंगी वे महत्वपूर्ण होंगी तथा अनुभव से प्राप्त होंगी और भविष्य में बननेवाली योजनाओं को तथा वार्षिक आय-व्ययक को उन त्रुटियों से बचा कर अच्छी प्रकार से बनाने और शासन को कम खर्चीला बनाने की व्यवस्था की जा सके। अतः लोक लेखा समिति का काम कोई

यांत्रिक काम नहीं है कि वह प्रमाणकों (वाउचरों) के साथ खर्च और आमदनी का मिलान करे, बल्कि उसे आगे बढ़कर यह देखना चाहिए कि क्या धन का उपयोग उसी प्रकार हुआ है जैसे कि विधानमंडल की इच्छा थी और क्या उसे काफी मितव्ययता से खर्च किया गया है और अन्त में, क्या सभी वित्तीय मामलों में एक और उच्च नैतिक स्तर स्थापित किया जा सकता है।

अब मैं एक या दो महत्वपूर्ण पहलुओं का उल्लेख करूंगा। मैंने जो कुछ बताया उससे स्पष्ट हो गया होगा कि समिति का उद्देश्य यह नहीं होता कि वह कार्य-पालिका के अधिकारियों और मंत्रियों की गलतियां ढूंढ निकाले। उसका कर्तव्य यह है कि उसके सामने जो लेखे रखे जायें, उन पर वह स्वतन्त्र, सहयोगपूर्ण तथा रचनात्मक भावना से विचार करके उनकी परीक्षा करे। अतः उसका मुख्य कर्तव्य यह होगा कि वह इस संबंध में अपना दृष्टिकोण पेश करे कि विधानमंडल द्वारा निर्धारित नीतियों का किस प्रकार दिये गये अनुदेशों तथा तरीकों के अनुसार और कम व्यय में पालन किया गया। उसे आलोचना भी करनी पड़ती है पर मित्र की भांति, विरोधी की भांति नहीं। यह भी रचनात्मक होनी चाहिए। उसे मंत्रालय या प्रशासन के विरोधी के रूप में काम नहीं करना है। उसे इस भावना से काम करना है जैसे वह काम सबका संयुक्त कार्य है और वह प्रशासन की कार्यपटुता में वृद्धि के लिए है।

दूसरी बात मैं यह कहना चाहता हूं कि समस्त संसदीय समितियों से यह आशा की जाती है कि वे समष्टिगत रूप में विधानमंडल की इच्छाओं तथा आदेशों का प्रतिनिधित्व करें। आय-व्ययक पर चर्चा के दौरान चाहे कितने दलीय मतभेद रहे हों किन्तु जब सभा ने एक निर्णय कर लिया, तो समिति के लिए एक ही रास्ता रह जाता है कि वह सभा के निर्णय का अनुसरण करे। दूसरे शब्दों में इससे यह अभिप्राय है कि लेखाओं की परीक्षा तथा समस्त कार्य का लाभ तथा सरकार के खर्च की नियमितता की जांच दलबन्दी से ऊपर उठ कर करनी चाहिए। सभा के निर्णय का ध्यान सदैव रखना चाहिए। समिति इसी आधार पर जांच का काम करे।

इस समय मैं यह भी कहना चाहता हूं कि संसदीय समिति के लिए अपने क्षेत्राधिकार के अधीन मामलों की जांच करना और उन पर सभा में प्रतिवेदन प्रस्तुत कर देना ही पर्याप्त नहीं है। समिति को आगे भी जाना पड़ता है। इसे प्रशासन पर नजर रखनी पड़ती है और देखना पड़ता है कि उनकी सिफारिशें कहां तक क्रियान्वित की गयी हैं और यदि वे क्रियान्वित नहीं की गयीं तो किन कारणों से वह पृथक विचार रखती है। सरकार की बात सुनकर इस मामले पर दोबारा विचार करना पड़ता है और पुनः निर्णय करना पड़ता है। पारस्परिक मतभेद समाप्त करने

की कोशिश होनी चाहिए और आपस में मिलकर और एक दूसरे का दृष्टिकोण समझकर इन बातों को हल करना चाहिए। समिति को मामले का अनुसरण आगे तक करना पड़ता है। केवल इसी बात से समिति को संतुष्ट नहीं होना चाहिए कि सरकार ने उन समस्त बातों पर सहमति दे दी है जिनका उन्होंने सुझाव दिया था या जिन बातों पर बातचीत के परिणामस्वरूप कोई सहमति हो गयी हो। समिति को यह भी देखना होगा कि उसकी सिफारिशों को क्या सरकार वास्तव में क्रियान्वित करती है। जब तक यह कार्य नहीं होता, तब तक समिति बनाने पर सारा परिश्रम व्यर्थ है।

मैं एक गलत धारणा के बारे में कुछ कहना चाहता हूं जो कुछ लोगों के मन में है। चूंकि वित्तीय समिति को वर्ष के बाद चुना जाता है और यह केवल एक वर्ष का लेखा ही देखती है, इसलिए कई बार यह विचार किया जाता है कि समिति इस अवधि के पूर्व लेखों तथा आगे के लेखों की जांच नहीं कर सकती। अपनी पदावधि की समाप्ति पर यह समिति कार्य समाप्त कर चुकती है और चूंकि इसे एक वर्ष के लिए चुना जाता है, इस कारण यह पिछले वर्षों या आगे आनेवाले वर्षों का लेखा नहीं देख सकती। यह गलत बात है और इस गलत विचारधारा का आधार यही है कि वित्तीय समिति के प्रकार, गठन तथा कामों को ठीक-ठीक नहीं समझा जाता। एक संसदीय समिति होने के नाते यह एक निरंतर रहने वाली समिति है, उसके सदस्य भले ही बदलते रहें, फिर भी समिति तो रहती ही है। यह शाश्वत उत्तराधिकार है। जिस प्रकार संसद कानून बनाती है तो वह इस कारण न्यायगत नहीं होते कि विधानमंडल का नया निर्वाचन हुआ है। इसी प्रकार निर्वाचन एक वित्तीय समिति की निरंतर और सर्वकालीन अस्तित्व पर प्रभाव नहीं डालता।

मुझे विश्वास है कि यदि समिति के उद्देश्यों तथा प्रयोजनों को पर्याप्त रूप में समझा जाये, तो सरकार, मंत्री तथा प्रशासन और साथ ही वह समिति सभी एक दूसरे को अपना साथी समझेंगे, जो संविधान द्वारा निर्धारित एक समान लक्ष्य की ओर प्रगतिशील हैं, और इसलिए सदैव पारस्परिक समादर और सौहार्द की भावना रहनी चाहिए। समिति को काम करते समय पदाधिकारियों से उच्चतर होने की कोई भावना नहीं रखनी चाहिए।

23

अध्यक्ष की स्थिति अविश्वास प्रस्ताव तथा संसदीय समितियां*

यद्यपि मैं समझता हूं कि अध्यक्ष की स्थिति और उसके निर्विरोध निर्वाचन के औचित्य, उसके पुनर्निर्वाचन आदि के बारे में इस सम्मेलन द्वारा भूतकाल में किये गये निश्चयों को ध्यान में रखते हुए कुछ कहना या कुछ सुझाव देना अनावश्यक है फिर भी यह आवश्यक है कि मैं अपने निवेदन को फिर से दोहरा दूं, कि यद्यपि राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों और उनको कार्यान्वित करने में बहुत ही गंभीर और महत्वपूर्ण विषय अन्तर्ग्रस्त हैं, तथापि सभी पीठासीन पदाधिकारियों को निश्चय कर लेना चाहिए कि उन्हें आयोग की सिफारिशों तथा उनकी कार्यान्विति के बारे में उठने वाले और चलने वाले विवादों में प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेना चाहिए। मैं इस बात से इन्कार नहीं करता कि इस संबंध में हममें से प्रत्येक के अपने अलग-अलग विचार हैं और हममें से प्रत्येक यह भी समझता है कि उन विचारों को व्यक्त करना संघ तथा समुदाय के हितों के लिए बहुत महत्वपूर्ण और आवश्यक है। फिर भी यह उचित ही नहीं बल्कि आवश्यक भी है कि हम निष्पक्ष दृष्टिकोण अपनायें और विवादों में भाग न लें, क्योंकि हम दलगत राजनीति तथा दल-विवादों से परे होने के कारण अध्यक्ष की स्थिति के बारे में स्वस्थ परंपराओं की स्थापना करने तथा उनको बनाये रखने को बहुत महत्व देते हैं। आयोग की सिफारिशों तथा उनको कार्यान्वित करने का चाहे जो भी महत्व हो पर यह बात सर्वमान्य है कि यह हमारे राष्ट्र के चरमोत्कर्ष पर पहुंचने के मार्ग में

* विधायी निकायों के पीठासीन अधिकारियों का सम्मेलन, शिलांग, 2 नवम्बर, 1955।

एक अस्थायी स्थिति है। दूसरी ओर अध्यक्ष के पद के संबंध में जो परंपरायें हैं, उनका मामला ऐसा है कि उनको उसी प्रकार आगे चालू रखना चाहिए और ये परंपरायें उस लोकतंत्रात्मक व्यवस्था के विकास में स्थायी महत्व की हैं जिसे हम चाहते हैं। मैं यह भी बता देना चाहता हूं कि सक्रिय विवादों में खुले आम भाग न लेने का मतलब यह नहीं है कि हममें से किसी को भी यह अधिकार नहीं है कि हम इन सिफारिशों पर विचार करने तथा उनको लागू करने के प्रश्न से संबंधित प्राधिकारियों से अपने विचार गोपनीय रीति से या एकांत में प्रकट न करें। यदि हम इस विषय संबंधी विवाद में भाग न लेने की आवश्यकता को नहीं मानते, तो हम उस परंपरा की उन्नति को एक गंभीर तथा महान ठेस पहुंचायेंगे जिसका हम विकास करना चाहते हैं। परंपरायें धीरे-धीरे स्थापित की जाती हैं और उनकी रक्षा तथा उनके विकास के लिए त्याग तथा निरंतर प्रयत्न करना पड़ता है। लोकतंत्र के विस्तृत हित को ध्यान में रखकर व्यक्तिगत विचारों को प्रकट करने पर रोक लगानी पड़ती है।

इस समय चर्चा के लिए जो बातें हैं उनमें से दो बातें विशेष महत्व की हैं जिनकी ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करूंगा। एक बात यह है कि विरोधी दल के सदस्यों द्वारा मंत्रियों के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव बार-बार आते रहते हैं। इस बात को सभी लोग मानते हैं कि विधानमंडल में अविश्वास प्रस्ताव पेश करने का अधिकार एक महत्वपूर्ण अधिकार है और उसमें कुछ भी कमी करना ठीक नहीं है। साथ-ही-साथ, एक व्यक्ति को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे प्रस्तावों को साधारण आधारों पर और बार-बार पेश करने की अनुमति दी जानी चाहिए या नहीं। पहली बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि जो दल अविश्वास प्रस्ताव पेश करते हैं उनकी संख्या इतनी नहीं होती कि वे प्रस्ताव को सफल बनाकर सरकार के स्थान पर अपनी नयी सरकार बना लें। मुझे यकीन है कि अविश्वास प्रस्ताव का मुख्य सार यह है कि जो लोग ऐसा प्रस्ताव पेश करते हैं केवल उनकी संख्या ही विधानमंडल में काफी नहीं होनी चाहिए, बल्कि उन्हें निर्वाचकों का पर्याप्त समर्थन भी प्राप्त होना चाहिए। यदि इसका प्रयोजन केवल सरकार की आलोचना करना और सरकार पर दोषारोपण करना है, जैसा कि आज दिखलायी पड़ता है, तो तब तक प्रस्ताव को पेश करने की अनुमति न दी जानी चाहिए और न उसे गृहीत किया जाना चाहिए जब तक कि उसे काफी संख्या में विधायकों का समर्थन प्राप्त न हो। व्यावहारिक दृष्टि में, ऐसा मालूम होता है कि अविश्वास प्रस्ताव सरकार द्वारा दिये गये वचनों तथा किये गये कामों या सरकार के स्वरूप की त्रुटियों या मंत्रिमंडल अथवा मंत्रिमंडल के किसी सदस्य पर आरोपित भाई-भतीजावाद या भ्रष्टाचार आदि को प्रकाश में लाने के सिवाय और कुछ भी नहीं है। यद्यपि लोकतंत्र तथा अच्छी सरकार के लिए यह आवश्यक है कि ऐसी आलोचना करने की अनुमति दी

जानी चाहिए। पर मैं समझता हूं कि ऐसे प्रस्तावों को अविश्वास प्रस्ताव कहने के बजाय निंदा प्रस्ताव कहा जाना चाहिए। मैं केवल शब्दों में अंतर करने का इच्छुक नहीं हूं। सरकार की आलोचना करने की अनुमति अवश्य दी जानी चाहिए—चाहे आलोचना कितनी ही कटु और तीव्र हो—ताकि जनता स्वयं यह पता लगा सके कि मंत्रिमंडल में चुने गये उसके प्रतिनिधि किस प्रकार अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं।

पर अविश्वास प्रस्तावों का प्रयोजन ऐसे प्रस्तावों के प्रयोजनों से कुछ अधिक होता है जो केवल आलोचना करने के लिए या छिद्रान्वेषण के लिए होते हैं। इसका प्रयोजन सरकार को बदलना होता है और प्रस्ताव पेश करने का परिणाम यह होता है कि अशांति और अनिश्चय का वातावरण पैदा हो जाता है। इसका प्रभाव प्रशासन पर भी पड़ता है और प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान दूसरी ओर चला जाता है। यह बात आप पर निर्भर है कि आप ऐसे प्रस्ताव को किस रूप में समझते हैं और इसको कैसे निबटाया जाये ताकि हम विरोधी दल के इस अधिकार की रक्षा कर सकें कि वह सरकार के साथ जैसा उचित समझे वैसा व्यवहार कर सके। साथ ही हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि बार-बार ऐसे प्रस्तावों के पेश होने से सरकार के कृत्यों में जो गड़बड़ी पैदा होती है, उससे सरकार की रक्षा की जाये। हमें एक प्रथा स्थापित करनी है कि तथ्यपूर्ण आधारों को छोड़कर ऐसे प्रस्तावों पर रोक लगायी जाय और उन्हे बार-बार पेश न होने दिया जाय।

संयुक्त समितियों के संबंध में दूसरा प्रश्न, जैसाकि कार्यावलि में दिया गया है, इस बात पर आधारित है कि संविधान में विधानमंडल की दोनों सभाओं की संयुक्त बैठक का उपबंध नहीं है; पर मैं समझता हूं कि इस बात पर विस्तृत दृष्टि-कोण से विचार किया जाना चाहिए। जहां संविधान में दोनों सभाओं की संयुक्त बैठक का उपबंध है, वहां भी संयुक्त समिति को एक नियम के बजाय एक अपवाद के रूप में ही अधिक माना जाना चाहिए। संसद् में विधेयकों के संबंध में संयुक्त समितियां बनायी जाती हैं और जिस प्रकार उनको संगठित किया जाता है और जिस प्रकार उनका काम चलता है, उससे हमें ऐसा लगता है कि समय की बचत या काम की विशेषता इन दोनों दृष्टियों से संयुक्त समितियों से कोई लाभ नहीं होता था।

मैं संक्षेप में बताना चाहता हूं, कि मैं ऐसा क्यों महसूस करता हूं। पहली बात यह है कि दोनों सभाओं के सभी दलों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने के लिए समिति के सदस्यों की संख्या काफी होना आवश्यक है; इस प्रकार प्रवर समितियां एक छोटी सभा के रूप में हो जाती हैं और समितियों में जो विचार-विमर्श होते हैं, उनका अनौपचारिक स्वरूप नष्ट हो जाता है और सदस्य उस पर अच्छी प्रकार विचार

नहीं कर पाते और ये बातें प्रवर समितियों के समुचित संचालन के लिए आवश्यक हैं और बहुत महत्व की हैं। संयुक्त समितियां इसलिए बनायी जाती हैं कि दोनों सभाओं में अलग-अलग चर्चा होने में समय की बचत हो। पर यह आशा व्यावहारिक रूप में पूरी नहीं हो पायी है।

सबसे बड़ी त्रुटि तो यह है कि संयुक्त समितियों के बनने से द्वितीय सदन का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। जब विधेयक द्वितीय सदन में आता है तो उसके सदस्य उस प्रश्न पर खुले मस्तिष्क पर विचार करने की स्थिति में नहीं होते और इस प्रकार वे एक सदन द्वारा पारित विधेयक पर, जब वह उनके पास आता है, खुले मस्तिष्क से तथा नये सिरे से विचार नहीं कर पाते। दूसरा सदन उस हद तक पुनरीक्षक सभा के रूप में काम नहीं कर पाता जिस हद तक उसे करना चाहिए या उससे आशा की जाती है।

दूसरी आपत्ति यह है कि जब कोई विधेयक किसी सभा में पुरःस्थापित किया जाता है और दूसरी सभा को संयुक्त समिति में भाग लेने को आमंत्रित किया जाता है, तो दूसरी सभा को, विधेयक उसके समक्ष न होते हुए, समिति में भाग लेने के प्रश्न पर विचार करना पड़ता है और समिति में भाग लेने का जो निश्चय किया जाता है वह दूसरे सदन को इस बात से वंचित नहीं करता कि वह विधेयक के सिद्धांतों पर, जब विधेयक संयुक्त समिति से वापस आता है, वाद-विवाद न करे। इस प्रकार कुछ दोहरी चर्चा होती है। अतः वर्तमान स्थिति में जबकि संसदीय प्रथा का विकास हो रहा है, संयुक्त समितियों की इस प्रथा पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

जब सरकार किसी ऐसे प्रश्न पर, जिस पर कोई संसदीय समिति जैसे लोक लेखा समिति या प्राक्कलन समिति या कोई अन्य समिति सक्रिय रूप से विचार कर रही हो, स्वयं प्रतिवेदन प्राप्त करने के लिए कोई समिति नियुक्त करती है, तो उसकी प्रक्रिया तथा उसके औचित्य के प्रश्न से संबंधित एक और महत्वपूर्ण बात उठती है। स्पष्ट है कि सरकार तथा संसदीय समिति के बीच उद्देश्य में कोई मत-भेद नहीं हो सकता है। दोनों का उद्देश्य एक तथा वही है। सरकार और समिति दोनों किसी मामले के बारे में ऐसे सत्य का पता लगाते हैं जिसकी छानबीन करनी होती है। अतः यह आवश्यक है कि परस्पर विरोधी निष्कर्षों की प्रत्येक संभावना को दूर रखा जाये। न तो सरकार किसी बात या हर एक बात के दोषों को छिपाना चाहती है और न संसदीय समिति ही किसी बात या हर एक बात की निंदा करना चाहती है। दोनों का आधार एक ही है कि वे प्रशासन की ठीक व्यवस्था करने के उद्देश्य से मामलों की छानबीन करते हैं ताकि प्रशासन में व्यय की बचत हो, ईमानदारी पैदा हो और वह देश के सर्वाधिक हित में कार्य करे। अतः ऐसी परि-

स्थितियों में सरकार को समितियों की नियुक्ति नहीं करनी चाहिए और परस्पर परामर्श तथा विचारों के आदान प्रदान द्वारा ही मामलों का समझौता कर लेना चाहिए ताकि केवल ठीक निष्कर्ष ही न निकले बल्कि सरकार तथा संसदीय समितियों के बीच संघर्ष भी न हो। समिति और सरकार दोनों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे एक-दूसरे से संबंध बनाये रखें, एक-दूसरे के विचारों को समझें और एक मिले-जुले निश्चय पर पहुंचे, चाहे इसमें विचारों का कुछ आदान-प्रदान भी करना पड़े। लोकतंत्र में कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि वह जो कुछ कहता है, केवल वही ठीक है और लोकतंत्र का सार इसी बात में है कि हम विचारों की विभिन्नता को बरदाश्त करें और उनको आपस के विचारों के आदान-प्रदान द्वारा तय करें। लोकतंत्र तभी सफल हो सकता है जबकि उसके सभी अंग एक ही दिशा की ओर बढ़ें और विपरीत दिशाओं की ओर बढ़कर आपसी विरोधों में अपना समय तथा अपनी शक्ति नष्ट न करें। मुझे यह बताते हुए प्रसन्नता है कि लोक सभा में सरकार तथा समिति दोनों ने एक-दूसरे के प्रति सम्मान तथा सद्भावना प्रकट की है और मामलों को उसी प्रकार निबटाया गया है जैसे घरों में मिल-जुलकर निबटाया जाता है। इस तरह से किया गया निबटारा दोनों की गरिमा तथा सभा की प्रतिष्ठा बढ़ाता है।

सभा में सरकारी कार्य की कुशल व्यवस्था के लिए एक नया प्रयोग किया गया है; मैं समझता हूं कि वह सफल रहा है। एक समिति बनायी जाती है, जिसे कार्य मंत्रणा समिति कहते हैं, जिसमें सभी दलों के प्रतिनिधि सदस्य होते हैं तथा अनेक बार सभा के विशेष प्रश्नों में दिलचस्पी रखने वाले सदस्यों को भी समिति की सहायता करने के लिए सभा की बैठक में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जाता है। सरकार ऐसे कार्य की एक सूची देती है जिसे वह किसी विशेष सत्र में रखना चाहती है। समिति प्रत्येक मद पर, उसके महत्व को ध्यान में रखकर, विचार करती है और उसके लिए विधान के महत्व, उसके विवादग्रस्त स्वरूप, उसके उपबन्धों तथा ऐसी ही अन्य बातों को ध्यान में रखकर समय नियत करती है। इस समिति की कार्यकुशलता तथा प्रभावशाली ढंग से इसके कार्य संचालन का मुख्य कारण यह है कि ऐसा कोई भी निश्चय नहीं किया जाता जिसमें सभी लोग सहमत न हों। इसके कार्य की सफलता का मुख्य कारण तथा सार यही बात है। समिति के प्रतिवेदन द्वारा, जो सदस्यों के पास भेजा जाता है, सदस्यों को समय-नियतन की सूचना दी जाती है और उसके दूसरे दिन सभा के समक्ष संसद-कार्य मंत्री द्वारा एक प्रस्ताव पेश किया जाता है कि समिति का प्रतिवेदन स्वीकार किया जाये। प्रतिवेदन स्वीकृत हो जाने पर समिति द्वारा नियत किया गया समय सभा का समय नियतन आदेश बन जाता है और सभा के सभी सदस्यों को उसे मानना पड़ता है। इस संबंध में भी

प्रथा यह है कि प्रतिवेदन को स्वीकार करने के लिए पेश किये गये प्रस्ताव को एक औपचारिक प्रस्ताव समझा जाता है और उसे, बिना किसी चर्चा के, स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार सभा के पास एक ऐसा संगठन है जो घड़ी की तरह काम करता है, और प्रत्येक सदस्य को पहले से पता लग जाता है कि कौन सा कार्य आगे लिया जायेगा और कब लिया जायेगा और सत्र को कब समाप्त करने का कार्यक्रम बनाया गया है।

विभिन्न विधान मंडलों के पीठासीन अधिकारियों को विचार करना चाहिए कि कार्य को कुशलतापूर्वक निबटाने और समय को नष्ट होने से बचाने के लिए इस उपाय को उनके विधानमंडलों में किस हद तक अपनाया जा सकता है।

मैं सम्मेलन का ध्यान एक महत्वपूर्ण मामले की ओर, अर्थात् पीठासीन अधिकारियों को विश्वास तथा साहस के साथ अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखने की आवश्यकता है, आकर्षित करना चाहता हूं। संसदीय लोकतंत्र की सफलता केवल पीठासीन अधिकारी—अध्यक्ष—की निष्पक्षता पर ही निर्भर नहीं है बल्कि उसके साहस और कार्यपालिका सरकार के खुश या नाराज होने के प्रति उसके उदासीन रहने पर भी निर्भर है। विश्वस्त सूत्र से मुझे पता लगा है कि विरोधी दल के सदस्यों द्वारा पूछे गये कुछ प्रश्नों के उत्तर एक वर्ष से अधिक समय तक नहीं दिये गये, जिसमें उन्होंने कुछ ऐसी संस्थाओं को दी गयी वित्तीय अनुदानों के बारे में जानकारी मांगी थी जो कि, ऐसा कहा जाता है, एक मंत्री के संबंधियों द्वारा या उसके कुछ मित्रों द्वारा चलायी जाती थीं और इस संबंध में सदस्य द्वारा की गयी शिकायत पर भी ध्यान नहीं दिया गया है। हो सकता है कि जान-बूझकर ऐसा न किया गया हो पर इससे गलतफहमी पैदा हो सकती है। मुझे आगे यह भी बताया गया है कि इसके विरोध के रूप में विरोधी दल के सदस्यों ने लोक लेखा समिति की सदस्यता से अपना नाम वापस ले लिया है। संभव है राशियों के अनुदान में कोई भी गड़बड़ी न हो, पर सरकार तथा लोकतंत्र के संचालन दोनों के हित के लिए यह आवश्यक है कि सरकारी वित्त संबंधी मामलों के सभी प्रश्नों का उत्तर शीघ्र दिया जाना चाहिए और अध्यक्ष को सरकार तथा लोकतंत्र के विशालतर हित को ध्यान में रखते हुए इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि ऐसे प्रश्नों का उत्तर सच्चाई-पूर्वक और जल्दी दिया जाये। यह तभी संभव है जब पीठासीन अधिकारी अपने सामने आने वाले सभी मामलों को निबटाने में, निष्पक्ष रीति से, तथा दल या व्यक्तिगत संबंधों को न महत्व देते हुए, व्यवहार करें।

24

संसद की महत्वपूर्ण भूमिका*

अमृतसर में होने वाले भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर निकलने वाले स्मृति-ग्रंथ के लिये एक लेख लिखने के लिये स्वागत समिति द्वारा सुझाया गया यह विषय बड़ा ही रोचक है। साथ ही मैं समझता हूं कि संसद की सफलताओं का निर्धारण करना अभी समय से बहुत पूर्व है। विशेषतया मेरे जैसे व्यक्ति के लिये, जो लोक-सभा के पद पर आसीन है, यह कार्य और भी कठिन हो जाता है। फिर भी मैं कुछ चेष्टा कर रहा हूं। मैं इस कार्य को कुछ हिचकिचाहट से कर रहा हूं। क्योंकि मैं समझता हूं कि वर्तमान संक्रमणकालीन और निर्णायात्मक युग में जब हम लोक-तंत्र की नींव को गहरे और सुदृढ़ रूप में रखने की चेष्टा कर रहे हैं, तो हमें अपनी ओर भी देखना चाहिए और कुछ आत्म-निरीक्षण भी करना चाहिए।

इस देश के सार्वजनिक जीवन में इस समय कांग्रेस सबसे आगे है और कम से कम कुछ आगामी वर्षों तक आगे बनी रहेगी। जनता कांग्रेस में विश्वास रखती है। इसका कारण उसकी भूतकाल की सफलताएं, उसके नेताओं का बलिदान और राष्ट्र का पथ-प्रदर्शन करने की उसकी क्षमता है। यह भी ध्यान में रखना होगा कि कांग्रेस जैसी कोई अन्य ऐसी संगठित और अनुशासित संस्था अब तक देश में न थी और आज भी नहीं है, जिसका देशव्यापी संगठन हो, प्रतिष्ठा हो और जिसका नेतृत्व विश्वस्त नेतागण कर रहे हों।

फिर भी चाहे कोई इसे अच्छा समझे या न समझे, हमें वास्तविकताओं की ओर ध्यान देना होगा और यह मानना ही होगा कि स्वाधीनता की प्राप्ति के पश्चात् भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस संपूर्ण राष्ट्र की एकमात्र प्रतिनिधि नहीं रह गयी है। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि उसका दृष्टिकोण राष्ट्रीय नहीं रहा है अथवा उसका

* भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का स्मृति ग्रंथ, 61वां अधिवेशन (फरवरी 1959)।

आदर्श या स्वराज्य की उसकी धारणा बदल गयी है। परंतु सभी विचारधाराओं और प्रवृत्तियों वाले और जीवन के तरीकों, आर्थिक विकास और विभिन्न ऐसी चीजों के प्रति, जो राष्ट्रीय हितों पर प्रभाव डालती हैं, विभिन्न मत रखने वाले व्यक्ति अब उसमें नहीं रह गये हैं, जैसे कि स्वाधीनता से पहले थे। कांग्रेस का कार्यक्रम हाल के वर्षों में वस्तुतः या सारतः राजनीतिक स्वरूप का रहा है, क्योंकि इसका मुख्य कार्य विधानमंडलों के लिये चुनाव लड़ना और अपने आदर्शों को विभिन्न क्षेत्रों में कार्यान्वित करने के लिये सरकार बनाना रह गया है। व्यवहारतः कांग्रेस देश की सरकार बन गयी है। उसे विधि और व्यवस्था बनाये रखने के लिये भारी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है और प्रशासन की समस्याओं तथा सब प्रकार के सांप्रदायिक, प्रांतीय और विचारधारा संबंधी संघर्षों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है।

इसका परिणाम यह हुआ है कि कांग्रेस गैर-सरकारी साधनों द्वारा राजनीतिक और राष्ट्र निर्माण के कार्यक्रम नहीं चला पा रही है। राष्ट्रीय सरकार बनने के बाद एक विचारधारा यह भी चल पड़ी है कि जनता द्वारा किसी भी रचनात्मक कार्यक्रम के बनाये जाने का कोई क्षेत्र या आवश्यकता वस्तुतः अब नहीं रह गयी है। राज्य एक कल्याणकारी राज्य है और उत्तरदायित्व उसे सौंप दिये गये हैं। इसलिये कांग्रेस का यही कार्य रह जाता है कि विधानमंडलों में अनुशासित बहुमत बना रहे और इस प्रकार सरकारी संस्था द्वारा कल्याण राज्य का वांछित लक्ष्य पूरा हो सके। यह सच है लेकिन अंशतः ही सच है। परिणाम यह हुआ है कि कांग्रेस जो स्वतंत्रता से पहले जनता की सब प्रकार की सेवा की प्रतीक थी अब शासक राजनीतिक दल—एक शक्तिशाली राजनीतिक दल ही रह गयी है। यहां पर मैं एक प्रतिष्ठित अंग्रेज की एक बात का उद्धरण देना चाहता हूं। यह बात उसने स्वशासन की प्राप्ति के बाद होने वाली स्थिति के संबंध में कही थी। विद्वान लेखक का कहना है, "स्वशासन सब कठिनाइयों का समापन नहीं करता है। जब तक स्वातंत्र्य संग्राम चलता रहता है, प्रत्येक व्यक्ति इस एकमात्र लक्ष्य की ओर केंद्रित रहता है। जब स्वाधीनता प्राप्त हो जाती है या दिखायी पड़ने लगती है, तो राष्ट्रीय आंदोलन विभिन्न मतों और व्यक्तियों वाले वर्गों में विभक्त होने लगता है।"

यही बात हमारे देश में भी हुई है। जैसा कि चुनाव लड़ने के लिये पैदा हुए दलों की संख्या से देखा जा सकता है और ऐसे दलों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। यदि कोई व्यक्ति देश के विभिन्न विधानमंडलों और संसद में दलों की स्थिति को देखे, तो वह इस कथन की सत्यता को और अच्छी तरह समझ सकेगा।

मेरे विचार से देश के शासन के विषय में और प्रजातंत्र को रूप देने के विषय में कांग्रेस को जो कुछ सफलता मिली है वह अधिकांश कुछ प्रमुख कांग्रेसजनों

के व्यक्तित्व के ही कारण है। वे लोग ही नीतियां बनाते हैं और विधानमंडलों के सामने विधान बनाकर लाते हैं और विधानमंडलों में जो अनुशासित बहुमत है, उसके सहारे वे उनको विधानमंडलों से स्वीकृत करा लेते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि दल के सदस्यों से परामर्श नहीं किया जाता है। किंतु सारतः मुख्य कार्य कुछ प्रमुख कांग्रेसजनों द्वारा ही किया जाता है। विरोधी-पक्ष अभी हाल में ही 1952 के चुनावों के बाद सामने आया है। किंतु वह दुर्बल है और विभक्त है। फिर भी मैं यह समझता हूं कि वे लोग भी विधानमंडलों के सामने आने वाली समस्याओं को विशुद्धतः व्यक्ति-निरपेक्ष राष्ट्रीय दृष्टिकोण से नहीं देखते, बल्कि अपने निजी दलों के दृष्टिकोण से ही देखते हैं। इसीलिए उनकी आलोचना में प्रायः वह बल या शक्ति नहीं होती जो राष्ट्रीय विरोधी-पक्ष में होती है।

उक्त पृष्ठभूमि में भारत के विधानमंडल, मेरे विचार से, अभी तथाकथित संसदीय सरकार के पूर्ण प्रतिनिधि नहीं हैं और यह प्रारंभिक अवस्था में स्वाभाविक भी है, जब कि हमें सार्वजनिक जीवन के मानदंड स्थापित करने हैं। कभी-कभी हम यह अनुभव करते हैं कि हमारे देश का सार्वजनिक जीवन बहुत कुछ व्यक्ति-सापेक्ष है और ऐसे बहुत थोड़े व्यक्ति हैं जो विधानमंडलों के समक्ष आने वाले प्रश्नों के बारे में विषय-निष्ठ और व्यक्ति-निरपेक्ष दृष्टिकोण अपनायें। या तो ये व्यक्तिगत विचार होते हैं या व्यक्तिगत विचारधारा से अनुप्राणित दलीय मत होते हैं या दल के हितों के अनुसार उसे पसंद या नापसंद किया जाता है। इसलिए मैं समझता हूं कि संसदीय लोकतंत्र के समुचित कार्यकरण के लिये आवश्यक सार्वजनिक जीवन के मानदंड के लिये जो एक अनिवार्य शर्त होती है, वह अभी पूरी नहीं हुई है। यद्यपि इस मानदंड के बनाने के लिये प्रयत्न हो रहा है।

यदि संसदीय प्रणाली को सफल बनाना है, तो विभिन्न दलों और वर्गों को सरकार और प्रभावी विरोधी पक्ष के रूप में अपने-आपको बदल लेना चाहिए। स्वाधीनता से पूर्व सभी नेता स्वशासन के लिये किये जाने वाले संघर्ष में प्रायः एक दूसरे के साथी थे और जब कोई मतभेद पैदा हो जाता है तो व्यक्तिगत कुभावना को दूर करने के लिये बड़े भारी संयम की आवश्यकता होती है। सफल संसदीय लोकतंत्र पारस्परिक समादर, सहिष्णुता की भावना और विभिन्न दृष्टिकोणों के समबोध पर निर्भर है।

उक्त पृष्ठभूमि में अब हमें यह देखना है कि देश में संसद या विधानमंडलों ने क्या योगदान दिया है। हमारे विधानमंडल निःसंदिग्ध रूप से लोकतंत्रीय आधार पर बनाये गये हैं। हमारे यहां वयस्क मताधिकार द्वारा चुनाव की एक विशद प्रणाली है और यह अत्यन्त संतोष की बात है कि 1952 में हुए हमारे राष्ट्रव्यापी चुनावों ने यह सिद्ध कर दिया कि सामान्य भारतीय मतदाता, यद्यपि वह निरक्षर

है और इसलिए उसे गलती में अशिक्षित भी कहा जाता है, तथापि वह बड़ी समझदारी वाला व्यक्ति है, जो यह सोच सकता है कि किस दल को चुन कर सरकार बनाने के लिये भेजा जाये। विधानमंडलों के कृत्य भी उसी रूप में चलाये जा रहे हैं जिस रूप में पश्चिम के लोकतंत्रीय देशों के विधानमंडलों में। फिर भी मैं यह कहने का दुःसाहस करूंगा कि एक राष्ट्र या जनता के रूप में लोकतंत्र की आत्मा हमें अभी खोजनी होगी। हमारे पास उसके लिये सभी सुविधाएं हैं और वह सशरीर हमारे यहां है, किंतु उसकी आत्मा अभी प्रकट नहीं हुई है। लोकतंत्र केवल रूप का ही विषय नहीं है, बल्कि यह जीवन का एक तरीका भी है।

लोक सभा के अध्यक्ष के नाते देश के विभिन्न विधानमंडलों के पीठासीन अधिकारियों के साथ संपर्क में आने के और यह जानने के कि देश के विधानमंडल किस रूप में कार्य कर रहे हैं, मुझे अनेक अवसर मिले हैं। 1950 से लेकर सभी पीठसीन अधिकारी लोकतंत्र की विभिन्न समस्याओं पर चर्चा करने के लिये, पारस्परिक अनुभवों और विचारों का आदान-प्रदान करने के लिये और भारत में लोकतंत्र विकसित करने के लिये सर्वोत्तम रूप से उपयुक्त प्रथाओं का विकास करने के लिये एक सम्मेलन में प्रतिवर्ष सम्मिलित होते रहे हैं। हमारी प्रगति धीमी है। इसका मुख्य कारण सभी बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक दलों या वर्गों के बीच पारस्परिक असहिष्णुता है, जिसके फलस्वरूप भय की भावना उत्पन्न होती है और अभिमत को व्यक्त करने की स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है। कुछ ऐसी प्रवृत्ति है कि जो व्यक्ति हमसे सहमत नहीं है, उसे हम अपना विरोधी समझ लें और इसका परिणाम यह होता है कि लोगों की भावना दब जाती है और भय की भावना का प्रादुर्भाव हो जाता है। समाज में निर्भीकता और एकता की भावनाओं का सामान्य विकास होने से यह दूर हो जायेगी और लोग सार्वजनिक भलाई और राष्ट्रीय हितों की दिशा में विचार करने लगेंगे।

ये प्रयत्न हमारे विधानमंडलों द्वारा एक समान विचार, चर्चा और विधान-निर्माण द्वारा किये जा रहे हैं।

यद्यपि संस्कृति और दर्शन के विषय में समग्र भारत संघ में पर्याप्त एकता है तथापि विगत कुछ शताब्दियों में साम्राज्यवाद, जातिवाद और प्रांतीयतावाद का संकुचित दृष्टिकोण हमारे ऊपर हावी हो गया है। अंग्रेजी शासन ने बहुत कुछ राजनीतिक एकता तो पैदा की थी पर उससे सामाजिक एकता का उद्भव नहीं हुआ था, दूसरी ओर वर्गीय, सांप्रदायिक और प्रांतीयता विचारधाराओं को प्रोत्साहन दिया गया था और आज भी हमारे मस्तिष्क उन्हीं संकुचित विचारों और दृष्टिकोणों की ओर झुके हुए हैं। अतएव एक सुदृढ़ और न्याय लोकतंत्र की नींव रखने के लिये सामाजिक एकता की बहुत ही आवश्यकता है। चरित्र की

महानता और सेवा-भावना के एक उच्च स्तर की भी अनिवार्य आवश्यकता है। संसदीय लोकतंत्र की सफलता ऐसे सामाजिक सुधारों से विशेषतः संबद्ध है जिसमें कर्तव्य भावना, न्याय भावना, समानता की भावना और उससे ऊपर समान हित और एकता की भावना विद्यमान हों।

परिवर्तन धीमी गति से और अदृश्य रूप में हो रहा है। हमने अपने विधान-मंडलों के द्वारा कुछ अच्छी प्रथाएं स्थापित की हैं, जो मुझे विश्वास है कि कुछ समय में संसदीय लोकतंत्र के विकास में बड़ी सहायक सिद्ध होंगी। इस विषय में संसद जो योगदान दे रही है वह सभी विधानमंडलों के लिये एक पथ-प्रदर्शक और आदर्श प्रतीक के रूप में है और यह सामान्यतः लोकतंत्र के लिये बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान है।

25

अध्यक्ष का पद*

संसदीय लोकतंत्र में अध्यक्ष का पद अत्यन्त गौरवान्वित तथा आदरणीय समझा जाता है। इसके बहुत से कारण हैं। उनमें से कुछ ऐतिहासिक हैं तथा कुछ संसदीय लोकतंत्र की अवधारणा और अध्यक्ष के कर्तव्यों तथा अधिकारों में अन्तर्विष्ट हैं। एक व्यक्ति के एक बार अध्यक्ष निर्वाचित हो जाने पर उससे दलों तथा राजनीति से परे रहने की आशा की जाती है। दूसरे शब्दों में, वह सभी सदस्यों का है अथवा किसी का भी नहीं है। वह समान भाव से, किसी दल अथवा व्यक्ति का पक्ष न लेकर, न्याय करता है यद्यपि यह आशा कोई नहीं करता कि वह सभी मामलों में पूर्ण न्याय करेगा क्योंकि मानव के रूप में उसमें भी मानवोचित अभाव तथा अवगुण होते हैं। परंतु फिर भी यह सभी जानते हैं कि वह जानबूझ कर कोई अन्याय अथवा पक्षपात नहीं करेगा। स्वाभाविक ही है कि ऐसे व्यक्ति का सभी आदर करें।

साथ ही साथ, उसकी स्थिति विशिष्ट होती है। एक प्रकार से यह स्वाभाविक ही है। सभा में उसका प्राधिकार सर्वोच्च है तथा उसके निर्णयों और आदेशों पर कोई आपत्ति नहीं उठायी जा सकती। संसदीय लोकतंत्र में अध्यक्ष ही निरंकुश है जिसका यह अर्थ है कि उसे अपने प्राधिकार को प्रयोग में लाने के लिये किसी के पूर्व परामर्श अथवा सहमति की अपेक्षा नहीं होती तथा उसके प्राधिकार पर कोई आपत्ति नहीं उठायी जाती। इससे भी उसके प्राधिकार के प्रति एक भय-मिश्रित आदरभाव उत्पन्न होता है। सभी सदस्य जानते हैं कि सभा में उनके बोलने के अवसर, अध्यक्ष की दृष्टि में उनकी योग्यता पर आधारित है। इसीलिए स्वभावतः

* "पार्लियामेंटरी डेमोक्रेसी इन इंडिया : ए सिमपोजियम" (फरवरी, 1956), हेराल्ड लास्की इन्स्टीट्यूट ऑफ पालीटिकल साइंस, अहमदाबाद।

ही सभी उनसे अच्छा व्यवहार करने का प्रयत्न करते हैं।

भारत में अध्यक्ष का पद अंग्रेजी पद्धति के समान ही है। परंतु हम भारत में ब्रिटिश संसदीय लोकतंत्र के मूल तत्वों को ही व्यवहार में लाते हैं, उसके स्वरूपों को नहीं।

सामान्य रूप से, अध्यक्ष के कर्तव्यों के दो क्षेत्र हैं—एक विधान सभा के सभापति प्राधिकारी के रूप में और दूसरा विधान सभा सचिवालय के प्रधान के रूप में।

विधान सभा भवन में अथवा भारतीय संसद की लोक सभा में उसके कार्य सामान्यतः ब्रिटिश हाउस ऑफ कामन्स के अध्यक्ष के समान ही होते हैं। वह वाद-विवाद तथा सभा की सामान्य कार्यवाही का विनियमन करता है। ब्रिटिश प्रक्रिया तथा भारत में प्रयोग में लायी जाने वाली प्रक्रिया में कुछ अंतर है। हमारे यहां समस्त सभा समिति कभी नहीं बनती है। जिन विधेयकों पर अधिक विस्तार से चर्चा की आवश्यकता होती है वह प्रवर समितियों को निर्दिष्ट कर दिये जाते हैं। प्राक्कलनों अथवा आय-व्ययकों पर सभा में चर्चा होती है तथा इन वाद-विवादों का सभापतित्व, अध्यक्ष चाहे तो करे अथवा न करे।

अध्यक्ष से सभा की समस्त चर्चा पर सभापतित्व करने की आशा नहीं की जाती। तथ्य यह है कि किसी व्यक्ति की शारीरिक क्षमता ऐसी नहीं होती कि वह लगातार छः अथवा कभी-कभी आठ घंटों तक कुर्सी पर बैठा रहे। इसलिए एक और पदाधिकारी, उपाध्यक्ष, होता है जो जब अध्यक्ष की इच्छा हो, उसका स्थान ग्रहण करता है। उपाध्यक्ष के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यक्तियों की भी आवश्यकता रहती है जो कभी-कभी अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष दोनों की अनुपस्थिति में सभापतित्व करें, क्योंकि स्वास्थ्य के कारण अथवा सभा के बाहर किसी अन्य कार्य के कारण दोनों को ही कुछ अवकाश की आवश्यकता हो सकती है। इसलिए एक सभापति-तालिका होती है। लोक सभा में इस तालिका में छः सदस्य होते हैं। तालिका का चुनाव अध्यक्ष करता है तथा सदस्यों का नामनिर्देशन करने में सभा के विभिन्न दलों तथा पुरुष और स्त्रियों का ख्याल रखा जाता है। मैं सभापति तालिका में कुछ महिलाओं तथा कुछ विरोधी पक्ष के सदस्यों को नाम-निर्देशित करता रहा हूं। मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता होती है कि इस पद में कुछ ऐसी चीज अन्तर्विष्ट है कि जैसे ही कोई व्यक्ति इस कुर्सी पर बैठता है वह पूर्ण रूप से औचित्य, न्याय, स्वतंत्रता आदि गुणों का प्रदर्शन करता है। सभापति पद पर बैठकर विरोधी दल का सदस्य भूल जाता है कि वह एक सदस्य है तथा वह उसी प्रकार कार्य करता है जैसा कि अध्यक्ष को इस कुर्सी पर बैठकर करना चाहिए। यह सभा का वातावरण है तथा सभापति पद की प्रथा है जिसके कारण यह अच्छा परिणाम होता है।

वाद-विवाद के समय बहुतेरे ऐसे प्रश्न होते हैं जिनका शीघ्र निर्णय करना होता है तथा सभापति को सदैव सतर्क रहना पड़ता है। यह ध्यान रखना अपेक्षाकृत आसान है कि कोई सदस्य विशेष विषय के अंतर्गत बोल रहा है अथवा ठीक बोल रहा है अथवा दोहरा रहा है। परंतु कभी-कभी किसी सदस्य के द्वारा किसी दल अथवा किसी व्यक्ति के विरुद्ध कुछ कटु व्यंग अथवा अवांछित आक्षेप के परिणामस्वरूप कुछ विषम स्थिति उत्पन्न हो जाती है, और तब सभ -भवन अथवा सदस्यों के वर्गों को नियंत्रित करने का प्रश्न पैदा हो जाता है। सबसे अच्छा तरीका तो यह है कि इस प्रकार के मामलों को उत्पन्न न होने दिया जाये; तथा एक हल यह है कि जब भी कोई सदस्य अवांछित अथवा मानहानि का आक्षेप करे, सभापति को शीघ्र हस्तक्षेप करना चाहिये तथा सदस्य से उस आक्षेप को वापस लेने अथवा खेद प्रगट करने को कहना चाहिये। सभापति के हस्तक्षेप से सदस्यों को शांत होने का समय मिल जाता है तथा अशांति वहीं समाप्त हो जाती है। परंतु यदि सभापति सावधान नहीं है और ऐसा कोई आक्षेप हो जाता है तथा सभापति हस्तक्षेप नहीं करता है, तो इसके परिणामस्वरूप सभा में छोटा-सा तूफान-सा उठेगा, गर्मागर्मी होगी और एक दूसरे पर आक्षेप होंगे। सामान्यतः अनुभव यह है कि वातावरण कैसा भी हो, सदा ही एक विनोद प्रवृत्ति भी रहती है तथा तूफानी स्थितियां क्षणभंगुर ही होती हैं यद्यपि संभावना ऐसी रहती है कि वह इतने गंभीर न हो जायें कि बैठक को समाप्त करना पड़े। सौभाग्यवश, भारतीय संसद में ऐसा अवसर अभी तक नहीं आया है।

सभा के अतिरिक्त अध्यक्ष को प्रशासनिक कार्य भी करने पड़ते हैं। इनमें से कुछ सीधे उस कार्य से संबंधित हैं जो सभा के समक्ष जानेवाला होता है, उदाहरणतः प्रश्नों, संकल्पों, संशोधनों आदि की ग्राह्यता। कुछ कार्य संसदीय सचिवालय के प्रबंध से संबन्धित हैं, जिसका अध्यक्ष ही अपने पद के कारण प्रधान होता है। इसमें प्रशासनिक कार्य करना होता है।

नवीन संसद 1952 में बनी थी तथा उसी समय से कार्यपालिका के कार्य तथा प्रशासन पर विभिन्न समितियों द्वारा, जिनको विभिन्न मंत्रालयों के कार्यों की तथा निरीक्षण का कार्य सौंपा जाता है, संसद का नियंत्रण बढ़ाने तथा उसे प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न किया गया है। इन सभी समितियों के संबंध में अध्यक्ष के कर्तव्यों का महत्वपूर्ण पहलू है। तुलनात्मक रूप से इनमें कम समय तथा परिश्रम लगता है, परंतु इससे अध्यक्ष की जिम्मेदारियां बहुत बढ़ जाती हैं तथा अधिकारों में भी वृद्धि हो जाती है। इन समितियों के सभापतियों की नियुक्ति वही करता है तथा ये समितियां संसदीय समितियां होने के कारण, अध्यक्ष के अधीक्षण तथा नियंत्रण में कार्य करती हैं। यद्यपि इन समितियों के कार्य में हस्तक्षेप अथवा नियंत्रण का कभी

अवसर नहीं आता है, तथापि यह तथ्य है कि उसको इन समितियों पर अधीक्षण और नियंत्रण का प्राधिकार है, यह अध्यक्ष के प्राधिकार की एक अद्वितीय स्थिति प्रदान करता है। जब भी तथा जहां भी आवश्यकता होती है, अध्यक्ष इन समितियों को निर्देश देता है। इसके अतिरिक्त जहां तक प्रक्रिया का संबंध है, अध्यक्ष के नियंत्रण से स्वतः ही विभिन्न समितियों के कार्य का समन्वय होता रहता है तथा स्वस्थ संसदीय लोकतंत्र के विकास में सहायता मिलती है।

अध्यक्ष का एक और बड़ा ही महत्वपूर्ण अधिकार होता है जो उसको संसद के विभिन्न वर्गों तथा दलों को मान्यता देने के अधिकार के द्वारा देश के राजनीतिक जीवन के निर्माण में परोक्ष रूप से सहायता देने की अद्वितीय स्थिति प्रदान करता है।

अध्यक्ष का सदस्यों पर, जब वह सभा में होते हैं, एक शक्तिशाली, यद्यपि परोक्ष, अधिकार होता है। मैं पहले ही बता चुका हूं कि उसके किसी भी निर्णय को चुनौती नहीं दी जा सकती है चाहे वह गलत ही क्यों न हो। परंतु इसके अतिरिक्त, इस नियम के कारण उसका बहुत अधिक नियंत्रण रहता है कि केवल वही सदस्य प्रश्न रख सकता है अथवा बोल सकता है जिसको अध्यक्ष ऐसा करने को पुकारे। इसका परिणाम यह हुआ है कि अध्यक्षों ने सदस्यों को प्रश्न पूछने अथवा बोलने के लिये नहीं पुकारा है, जब तक सदस्यों ने उचित व्यवहार नहीं किया तथा ऐसे मामले में खेद-प्रदर्शन नहीं किया जिसमें उन्होंने कोई ऐसा काम किया है जिससे सभा के सभापति पद की मर्यादा भंग हुई हो। एक मामले में स्वर्गीय श्री विट्ठलभाई पटेल ने एक विशेष सदस्य को लगभग एक मास की अवधि तक प्रश्न करने अथवा भाषण देने की अनुमति नहीं दी थी। परिणाम इच्छानुसार हुआ। सदस्य को समर्पण करना पड़ा तथा उसने उनसे क्षमा-प्रार्थना की और तब फिर उसके साथ सामान्य व्यवहार होने लगा।

अध्यक्ष, भारतीय संसदीय दल के सभापति के नाते, अप्रत्यक्ष रूप से, भारत के विदेशी संबंधों को प्रभावित करता है। यह दल सभी संसदीय समस्याओं तथा प्रक्रिया का और ऐसी समस्याओं का अध्ययन करने के लिये बनाया गया है जिनका कि संसद सदस्यों को, संसद-सदस्यता का कर्तव्य निभाते समय, सामना करना पड़ता है। संसदीय दल कई अध्ययन गोष्ठियों में बंटा हुआ है। अतः स्वभावतः ही वह सदस्य, जो किन्हीं विशेष विषयों का अध्ययन करते हैं, अन्य सदस्यों की अपेक्षा उस विषय के अधिक जानकर हो जाते हैं। अध्यक्ष ही विदेशों में जानेवाले भिन्न-भिन्न संसदीय प्रतिनिधिमंडलों के लिये सदस्यों का चुनाव करता है। हाल ही में हमने रूस और टर्की आदि में अपने शिष्टमंडल भेजे हैं। यह संसदीय दल अंतर-संसदीय संघ (इंटर-पार्लियामेंटरी यूनियन) से, जोकि एक विश्व संस्था है, तथा राष्ट्रमंडलीय

संसदीय संस्था से, जो कि केवल राष्ट्रमंडलीय देशों तक ही सीमित है, संबद्ध है। अध्यक्ष, इन संस्थाओं की परिषदों के सदस्य अथवा सभापति के नाते तथा इन संस्थाओं द्वारा आयोजित सम्मेलनों के लिये अपने देश से जाने वाले शिष्टमंडल के सदस्यों का संचरणकर्ता होने के नाते, अप्रत्यक्ष रूप से विदेशी संबंधों तथा शिष्ट-मंडलों पर अपना प्रभाव डालता रहता है। मुझे कई विदेशी देशों को देखने तथा कई सम्मेलनों में भाग लेने का अवसर मिला है। केवल व्यक्तिगत रूप से मैंने ही नहीं अपितु हमारे संसदीय जीवन ने भी जो कुछ हमने विदेशों में देखा तथा सीखा है उससे बहुत कुछ लाभ उठाया है। इस प्रकार के भ्रमणों से आप दूसरे देशों के साथ अपनी अच्छाइयों तथा बुराइयों की तुलना कर सकते हैं। आप अपने आपको सुधारने के बारे में सोच सकते हैं। दृष्टिकोण व्यापक हो जाता है, और अन्य लोगों के साथ संपर्क में आने पर संसार के लोगों की एक-दूसरे के प्रति समझ-बूझ बढ़ती है। हम उनके बारे में अधिक बातें जानने लगते हैं और वे हमारे बारे में।

इस प्रकार अध्यक्ष की एक अद्वितीय स्थिति है, यद्यपि प्रकट रूप में यह दिखाई न दे कि वह देश का प्रशासन अथवा विदेश नीति तथा विदेशी संबंधों में कोई अधिकार रखता है, तथापि अप्रत्यक्ष तथा अपरोक्ष रूप से वह इन दोनों पर पर्याप्त प्रभाव रखता है। स्वभावतः देश के लोग ऐसे व्यक्ति की बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं। ऐसा व्यक्ति देशभक्ति, सच्चरित्रता और लोगों तथा सभा की सेवा की भावना से ही अपनी स्थिति तथा गौरव बढ़ा सकता है, यद्यपि एक माने में वह सभा का स्वामी होता है। इसके अतिरिक्त उसे मेधावी एवं सहृदय भी होना चाहिए। विवादास्पद प्रश्नों को तुरंत समझ लेना, एकाग्रता, अपार धैर्य तथा हास्य आदि के गुण एक अध्यक्ष को महान तथा लोकप्रिय बना देते हैं। यदि उसमें असीम सीमा तक धैर्य बना रहे और उसमें परिहास-भावना बनी रहे, तो वह न केवल अपना कर्तव्य निभाने में सब लोगों को संतुष्ट कर सकेगा, वरन् उसको अपने कार्य में भी एक सच्चे आनंद की अनुभूति होगी।

भाग तीन

महत्वपूर्ण विनिर्णय

26

अध्यक्ष मावलंकर द्वारा दिये गये कुछ महत्वपूर्ण विनिर्णय

श्री जी० वी० मावलंकर बड़े दूरदर्शी अध्यक्ष थे। उन्होंने हमारी जनता के स्वभाव के अनुकूल संसदीय नियम, प्रथाएं तथा परिपाटियां विकसित करने में सहायता की और भारत में संसदीय संस्थाओं की जड़ों को मजबूत किया। उनका यह कहना था कि पीठासीन अधिकारी को केवल प्रक्रिया संबंधी औपचारिकताओं में ही न उलझे रहकर प्रक्रियाओं की तह में जाकर ही कोई निर्णय लेना चाहिए तथा परिपाटी विकसित करनी चाहिए। स्वतंत्र भारत के प्रथम अध्यक्ष के रूप में वह अपने दायित्वों के बारे में अच्छी तरह जानते थे। वह जानते थे कि उनके विनिर्णय आगे जाकर प्रामाणिक पूर्वोदाहरण बनने वाले हैं जो आने वाली लोक सभाओं की कार्य-वाहियों के स्वरूप के विषय में मार्गदर्शन करेंगे। अतः सभा में कोई विनिर्णय देने अथवा कोई टिप्पणी करने से पूर्व वह अंतर्ग्रस्त मसलों के हर पहलू पर सावधानी से विचार करने के बाद ही कोई निर्णय लेते थे।

अध्यक्ष श्री मावलंकर के विनिर्णयों का अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि उनको संसदीय नियमों तथा प्रक्रियाओं और संवैधानिक उपबंधों की अच्छी समझ तथा ज्ञान था। कुछ प्रक्रिया संबंधी मामलों के विषय में उनके कुछ महत्वपूर्ण विनिर्णय तथा टिप्पणियां नीचे दी गयी हैं :

1. स्थगन प्रस्ताव

1.1 स्थगन प्रस्ताव की सूचना देने वाले सदस्य का प्रस्ताव प्रस्तुत करने की अनुमति मांगने के लिए सभा में उपस्थित होना आवश्यक है :

इस आशय के व्यवस्था के प्रश्न उठाये जाने पर कि क्या किसी स्थगन प्रस्ताव

पर, प्रस्ताव करने की सूचना देने वाले सदस्य की अनुपस्थिति की स्थिति में, अनुमति देने की कार्यवाही की जा सकती है, अध्यक्ष ने यह विनिर्णय दिया :

"30 जनवरी, 1946 को जब सरदार मंगल सिंह के स्थगन प्रस्ताव के सिलसिले में उनका नाम पुकारा गया तो पाया गया कि माननीय सदस्य उपस्थित नहीं हैं । उस समय व्यवस्था का एक यह प्रश्न उठाया गया कि क्या इस बात के बावजूद कि स्थगन प्रस्ताव को रखने वाला माननीय सदस्य अनुपस्थित है, प्रस्ताव को पेश करने हेतु सभा की अनुमति के लिए लिया जा सकता है ? उस समय मैंने यह कहा था कि मैं इस पर विचार करूंगा और उसके बाद अपना विनिर्णय दूंगा। यही मुद्दा फरवरी, 1946 को पंडित गोविंद मालवीय के इसी तरह के स्थगन आदेश के संबंध में दुबारा उठाया गया।

स्थायी आदेश 21 और 23 की शब्दावली के आधार पर यह तर्क दिया गया कि स्थगन प्रस्ताव की अनुमति देने की अवस्था में प्रस्ताव की सूचना देने वाले सदस्य की उपस्थिति आवश्यक नहीं है लेकिन स्थगन प्रस्ताव वास्तव में सभा में पेश करने के समय उसकी उपस्थिति आवश्यक है। उक्त स्थायी आदेशों को स्थायी आदेश 22 के साथ पढ़ते हुए, उनके आधार पर इसके विपरीत दृष्टिकोण भी रखा गया।

अब निर्णय स्थायी आदेश 21, 22 तथा 23 की सही व्याख्या पर आ जाता है। स्थायी आदेश 21 में स्थगन प्रस्ताव की अनुमति मांगने के समय का उल्लेख है। इसमें इस बात का कोई विशेष उल्लेख नहीं किया गया है कि स्थगन प्रस्ताव प्रस्तुत करने की अनुमति कौन मांगेगा। तथापि स्थायी आदेश 22 में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि स्थगन प्रस्ताव रखने की अनुमति उसी सदस्य द्वारा मांगी जा सकेगी जिसने कि स्थगन प्रस्ताव की सूचना दी है, कोई अन्य सदस्य इसकी अनुमति का प्रस्ताव नहीं कर सकता।

स्थायी आदेश 21, 22 तथा 23 स्थगन प्रस्तावों के विषय तथा उनकी विभिन्न अवस्थाओं के बारे में हैं। उनको एक साथ पढ़ा जाना चाहिए क्योंकि वे एक संपूर्ण विषय के बारे में हैं जिसको स्पष्ट करने की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया गया है। सभा में प्रथम अवस्था स्थगन प्रस्ताव की अनुमति का प्रस्ताव करने की है जिसके बारे में स्थायी आदेश 21 में बताया गया है। स्थायी आदेश 22 में उस शर्त का प्रावधान है जिसके आधार पर स्थगन प्रस्ताव रखने की अनुमति का प्रस्ताव सभा में किया जा सकता है। इसमें कहा गया है कि स्थगन प्रस्ताव की अनुमति मांगने वाले सदस्य को उस विषय के बारे में सचिव को एक लिखित विवरण देना होगा जिसके बारे में वह चर्चा कराना चाहता है। इस प्रकार यद्यपि स्थायी आदेश 21 में इस बात का

उल्लेख नहीं है कि स्थगन प्रस्ताव प्रस्तुत करने की अनुमति कौन मांगेगा, तथापि स्थायी आदेश 22 से यह बात स्पष्ट है कि स्थगन प्रस्ताव प्रस्तुत करने की अनुमति का प्रस्ताव वही व्यक्ति कर सकेगा जिसने प्रस्तावित चर्चा के विषय के संबंध में एक लिखित विवरण सचिव को दिया है। इस संबंध में कुछ और शर्तें नियम 11 (2) द्वारा निर्धारित की गयी हैं, परंतु वर्तमान विषय में वे संगत नहीं हैं। इस प्रकार स्थायी आदेश 21 तथा 22 से यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल वही सदस्य स्थगन प्रस्ताव प्रस्तुत करने की अनुमति का प्रस्ताव कर सकेगा जिसने चर्चा के विषय के संबंध में सचिव को एक लिखित विवरण प्रस्तुत किया है।

स्थायी आदेश 21 अलंघनीय है और इसमें यह कहा गया है कि "अनुमति मांगना आवश्यक है" और उसके बाद आता है स्थायी आदेश 23 जिसमें इस संबंध में अपनायी जाने वाली प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। स्पष्ट है कि स्थगन प्रस्ताव की अनुमति का प्रस्ताव करने के बाद यही प्रक्रिया है। अतः स्थगन प्रस्ताव की सूचना देने वाले सदस्य की उपस्थिति दोनों ही समय, प्रस्ताव प्रस्तुत करने के लिए अनुमति मांगने के समय तथा प्रस्ताव की अनुमति अथवा अस्वीकृति के समय, अनिवार्य है। स्थायी आदेश 23 में यह बात बिल्कुल स्पष्ट कर दी गयी है। यदि स्थायी आदेश 21 और 22 को नजरंदाज करके स्थायी आदेश 23 को स्वतंत्र रूप से लिया जाये, तो संभवतः यह कहा जा सकेगा, जैसाकि कहा भी गया है, कि प्रथम बार आने वाले शब्द 'सदस्य' का तात्पर्य उस सदस्य से हो सकता है और नहीं भी जिसने कि स्थगन प्रस्ताव की सूचना दी है। परंतु स्थायी आदेश 23 के अंतिम वाक्य से यह बात साफ हो जाती है। इसमें यह कहा गया है :

> "यदि 25 से कम सदस्य खड़े होते हैं, तो अध्यक्ष सदस्य को सूचित कर देगा कि उसको असेंबली की अनुमति नहीं है।"

अब सवाल उठता है कि यदि प्रस्ताव की सूचना देने वाला सदस्य सभा में अनुपस्थित हो, तो ऐसी स्थिति में अध्यक्ष कब और कहां सदस्य को इसकी सूचना दे? क्या इसका मतलब यह लगाया जाये कि ऐसी स्थिति में अध्यक्ष का यह कर्तव्य बन जाता है कि अनुपस्थित सदस्य का अता-पता मालूम करे और उसको उसके प्रस्ताव की अनुमति की या अस्वीकृति की सूचना उस स्थान पर दे जहां कि वह मौजूद हो। यदि स्थगन प्रस्ताव रखने की सूचना देने वाला सदस्य अनुपस्थित हो, तो अध्यक्ष अपने कार्य का निर्वहन कैसे करेगा? अतः स्पष्ट है कि इसका तात्पर्य यह हुआ कि स्थायी आदेश 23 में यह अपेक्षा की गयी है कि जिस समय अध्यक्ष स्थगन प्रस्ताव का विवरण असेंबली के समक्ष

पढ़ता है और यह पूछता है कि क्या सदस्य को स्थगन प्रस्ताव प्रस्तुत करने के लिए असेंबली की अनुमति है, उस समय स्थगन प्रस्ताव की सूचना देने वाले सदस्य को सभा में उपस्थित रहना चाहिए। स्थायी आदेश 22 से, जिसमें स्थगन प्रस्ताव की सूचना देने वाले सदस्य को ही स्थगन प्रस्ताव प्रस्तुत करने की अनुमति का प्रस्ताव करने के लिए सक्षम माना गया है, अन्य किसी सदस्य को नहीं, यह बात बिल्कुल साफ हो जाती है। स्थायी आदेश 21 भी, जिसमें प्रस्ताव प्रस्तुत करने की अनुमति प्राप्त करने को अनिवार्य बताया गया है, इस बात को साफ कर देता है।

जो कुछ मैं ऊपर कह चुका हूं, उसको देखते हुए प्रश्नों अथवा संकल्पों से इसकी तुलना करना अनावश्यक है। तथापि, चूंकि इस प्रकार का सादृश्य स्थापित करने की चेष्टा की गयी है, इसलिए यह कहना असंगत न होगा कि प्रश्नों के उत्तर तो प्रश्नकर्ता सदस्य के अनुपस्थित रहने पर भी दिये जा सकते हैं बशर्ते कोई अन्य सदस्य इस आशय का अनुरोध करे (देखिए, स्थायी आदेश 19)। जहां तक संकल्पों का सवाल है, उनको भी संकल्प प्रस्तुत करने वाले सदस्य की अनुपस्थिति की स्थिति में प्रस्तुत किया जा सकता है बशर्ते उस सदस्य ने किसी अन्य सदस्य को संकल्प प्रस्तुत करने के लिए लिखित रूप में प्राधिकृत किया हो (देखिए, स्थायी आदेश 61)।

अनुपस्थित सदस्य को किसी अन्य सदस्य को किसी साधारण संकल्प की भांति स्थगन प्रस्ताव प्रस्तुत करने की अनुमति का प्रस्ताव करने का प्राधिकार देने की अनुमति देने वाले किसी उपबंध के अभाव में तथा स्थायी आदेश 19 में की गयी व्यवस्था के अनुसार किसी प्रश्न का उत्तर देने का निर्देश देने के अध्यक्ष के स्वनिर्णय के आधार पर स्थगन प्रस्ताव की सूचना देने वाले सदस्य की अनुपस्थिति में, सभा के समक्ष स्थगन प्रस्ताव प्रस्तुत करने की अनुमति का प्रश्न सभा के समक्ष रखने का अध्यक्ष को प्राधिकार देने वाले किसी उपबंध का न होना भी यही सिद्ध करता है कि किसी स्थगन प्रस्ताव को प्रस्तुत करने की अनुमति का प्रस्ताव, स्थगन प्रस्ताव की सूचना देने वाले सदस्य से इतर किसी सदस्य द्वारा प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। केवल स्थगन प्रस्ताव की सूचना देने वाले सदस्य को ही उपस्थित रहकर प्रस्ताव को प्रस्तुत करने की अनुमति मांगनी होगी।

प्रश्नों और संकल्पों तथा दूसरी ओर स्थगन प्रस्तावों के संबंध में इस अंतर का कारण भी बड़ा स्पष्ट है। स्थगन प्रस्ताव सभा की उस दिन की कार्यवाही का अंग नहीं होता, अपितु यह तो दिन की कार्य-सूची से अलग एक नया मामला उठाने का एक तरीका है जिसका तर्क इस मामले की अविलंबनीयता तथा महत्व होते हैं। अतः यह आशा करना स्वाभाविक है कि जो सदस्य इस

प्रकार सभा की कार्यवाही को बदलना चाहता हो, उसे न केवल मामले की अविलंबनीयता तथा महत्व के संकेत की दृष्टि से अपितु प्रस्ताव प्रस्तुत करने की अनुमति का प्रस्ताव करने तथा यदि आवश्यक हो तो सभा को मामले की अविलंबनीयता तथा महत्व बताने के लिए सभा में उपस्थित रहना चाहिए। अतः मैं समझता हूं कि यह बात साफ है कि स्थगन प्रस्ताव प्रस्तुत करने की अनुमति का प्रस्ताव स्थगन प्रस्ताव की सूचना देने वाले सदस्य के अलावा कोई अन्य सदस्य नहीं कर सकता।

जो कुछ भी मैं पहले कह चुका हूं, उसके अलावा मेरे देखने में आया है कि हाउस ऑफ कामन्स में भी यही परिपाटी है। उनके स्थायी आदेश संख्या 8 के अंतर्गत प्रस्ताव करने वाले सदस्य को ही प्रस्ताव के विषय को स्पीकर को लिखित रूप में पहले से देना होता है और उसको ही सभा में खड़े होकर प्रस्ताव प्रस्तुत करने के लिए सभा की अनुमति लेनी होती है।

तर्क-वितर्क के दौरान यह कहा गया कि इस सभा की यह प्रथा रही है कि यदि स्थगन प्रस्ताव की सूचना देने वाला सदस्य अनुपस्थित हो, तो भी प्रस्ताव प्रस्तुत करने की अनुमति दे दी जाती है और यह कि यह आवश्यक नहीं है कि स्थगन प्रस्ताव प्रस्तुत करने की अनुमति का प्रस्ताव भी स्थगन प्रस्ताव की सूचना देने वाला सदस्य ही करे। पीठासीन अधिकारी के निर्णयों के पूर्व रिकॉर्ड में मुझे इस प्रथा की पुष्टि करने वाली कोई चीज नहीं मिली है।

फिर भी ऐसी परिस्थितियां हो सकती हैं जिनकी वजह से स्थगन प्रस्ताव की सूचना देने वाला कोई सदस्य अपने प्रस्ताव को प्रस्तुत करने की अनुमति का प्रस्ताव प्रस्तुत करने के लिए सभा में उपस्थित न हो सके। यह निश्चित है कि ऐसे मामले इक्का-दुक्का तथा असाधारण परिस्थिति में ही होंगे। यदि सभा चाहती है तो वह स्थायी आदेशों में संशोधन करके यह व्यवस्था कर सकती है कि स्थगन प्रस्ताव की सूचना देने वाला सदस्य किसी अन्य सदस्य को उसकी ओर से प्रस्ताव प्रस्तुत करने की अनुमति का प्रस्ताव करने के लिए प्राधिकृत कर सकता है। लेकिन जब तक यह संशोधन नहीं हो जाता, प्रक्रिया वही रहेगी जिसका मैंने ऊपर विनिर्णय दिया है।"

[**लेजिस्लेटिव असेंबली डिबेट्स**,
7 फरवरी, 1946, पृष्ठ 599-601]

1.2 एक से अधिक ऐसे विषयों पर चर्चा का किया जाना जिनका कोई अंश न्यायालय के विचाराधीन हो। ऐसे में वाद-विवाद उन अन्य विषयों तक ही सीमित होगा जो न्यायालय के विचाराधीन न हों :

13 फरवरी, 1946 को श्री मुहम्मद नौमन ने दिल्ली में मुस्लिम लीग के कार्यकर्ताओं और अन्य व्यक्तियों की अंधाधुंध गिरफ्तारी और दिल्ली पुलिस द्वारा हथकड़ियों और बेड़ियों का अंधाधुंध उपयोग किये जाने के बारे में कार्य स्थगन प्रस्ताव पेश करना चाहा। अध्यक्ष महोदय ने प्रस्ताव को चर्चा के लिए गृहीत कर लिया और चर्चा के लिए मायकाल 4 बजे का समय नियत किया, जबकि इस बीच गिरफ्तार किये गये व्यक्तियों के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही प्रारंभ हो गयी। गृह विभाग के मदस्य ने यह तर्क दिया कि प्रस्ताव को छोड़ दिया जाय। अध्यक्ष महोदय ने यह टिप्पणी की :

"मैं एक या दो मुद्दों को स्पष्ट कर देना चाहता हूं। जहां तक मामलों के न्यायालय के विचाराधीन होने की बात कही गयी है, मेरे मन में इस बारे में कोई भी संदेह नहीं है कि मामले न्यायालय के विचाराधीन हैं। अब अन्य प्रश्न हथकड़ी और बेड़ियां पहनाने के बारे में पुलिस के व्यवहार से संबंधित है। यही बात कार्य स्थगन प्रस्ताव में कही गयी है। जैसाकि माननीय सदस्य ने बताया है कि एकमात्र प्रश्न जो शेष रहता है, वह लोगों को हथकड़ी पहनाने के बारे में है। मैं बहस की गंभीरता को समझता हूं। लेकिन पुलिस का नियम कुछ भी हो, प्रश्न यह है कि सदन को यह चर्चा करने का अधिकार है कि क्या इस प्रकार के मामलों में यह वांछनीय है कि पुलिस लोगों को हथकड़ी पहनाये। यह एक मुख्य मुद्दा है और मेरी समझ से यह एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। उस प्रयोजन के लिए, विशिष्ट व्यक्तियों के इस विशेष मामले का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है, लेकिन सामान्य रूप से यह चर्चा की जा सकती है कि क्या इसी प्रकार की परिस्थितियों में नियम 56 (3) के अंतर्गत विशिष्ट आदेश का उल्लंघन हुआ है और क्या हथकड़ी लगाना और बेड़ी पहनाना उचित है अथवा नहीं। मुझे यह एक महत्वपूर्ण मामला प्रतीत होता है। मैं इसकी गंभीरता महसूस करता हूं। इस संपूर्ण मामले का प्रभाव यह होगा कि बहस का दायरा केवल इस पहलू तक ही सीमित रहेगा और अन्य किसी पहलू को इस बहस में शामिल नहीं किया जायेगा।"

गृह विभाग के सदस्य ने पुनः यह कहा कि प्रश्न यह नहीं था कि क्या ऐसे किसी

व्यक्ति को, जिसने नियमों का उल्लंघन किया है, हथकड़ी लगायी जा सकती हैं अथवा नहीं, बल्कि प्रश्न यह था कि क्या ऐसे किसी व्यक्ति को जिसने गिरफ्तारी के बाद और कुछ परिस्थितियों में एक विशिष्ट तरीके का व्यवहार किया हो, हथकड़ी लगायी जा सकती है और उसने यह आशंका व्यक्त की कि अभियोगों के खिलाफ मुकदमे की कार्यवाही पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना वह ऐसा कुछ नहीं कह सकेगा, जो उसे वास्तव में कहना चाहिए।

तत्पश्चात् अध्यक्ष महोदय ने यह टिप्पणी की :

"जहां तक मैं स्थिति को समझता हूं, प्रस्ताव अब मूल रूप से हथकड़ी लगाये जाने और हथकड़ी लगाये जाने से पहले अभियोगी के व्यवहार के बारे में है। यह प्रश्न न्यायालय के निर्णय का विषय होनेवाला नहीं है, यद्यपि मैं यह बात भली प्रकार समझता हूं कि न्यायालय द्वारा दिये जानेवाले दंड के संदर्भ में इसकी कुछ संगति हो सकती है। यह बहुत कम अंश में संगत हो सकता है, लेकिन मेरी समझ से हथकड़ी पहनाने का यह मामला व्यावहारिक रूप से सदन के समक्ष वह नियम ही बहस के लिए प्रस्तुत करता है जिससे पुलिस को वह अधिकार प्राप्त होता है और बहस ऐसे नियम की वांछनीयता के बारे में होगी। ऐसा नियम किसी विशेष मामले में लागू होता है अथवा नहीं, यह एक भिन्न मामला है। अब चूंकि एक अवसर उपस्थित हुआ है, इसलिए यह बेहतर है कि सदन इस बारे में अपनी राय व्यक्त करे। इस बारे में मेरा यह विचार है। संपूर्ण विषय के बारे में एकमुश्त कार्यवाही की जा सकती है और इसलिए वस्तुतः मैंने प्रस्ताव को एक अथवा दो भागों में विभाजित नहीं किया। यद्यपि शुरुह मैंने 'दूसरे भाग' का उल्लेख किया था, लेकिन मैंने यह भी कहा था कि "इस प्रस्ताव का विषय एकमुश्त कार्यवाही करने का विषय है।" इस तथ्य से कि इस मामले में न्यायिक कार्यवाही प्रारंभ की गयी है, कार्य स्थगन प्रस्ताव का दायरा बहुत समिति हो जाता है।"

[**लेजिस्लेटिव असेम्बली डिबेट्स,**
13 फरवरी, 1946, पृ० 958-59]

2. विधेयक

2.1 जब अधिनियम को प्रभावी रखने की अवधि बढ़ाने संबंधी विधेयक सदन के समक्ष पेश किया जाये, तो मूल अधिनियम में संशोधन की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए :

19 मार्च, 1951 को जब दिल्ली और अजमेर-मेरवाड़ किराया नियंत्रण

अधिनियम, 1947 में और संशोधन करने संबंधी विधेयक सदन के समक्ष विचारार्थ पेश किया गया, तो मूल अधिनियम में कुछ खंडों के प्रतिस्थापन के लिए श्री देशबंधु गुप्त ने कुछ संशोधन पेश करने चाहे। प्रश्न यह उठा कि जब अधिनियम को प्रभावी रखने की अवधि बढ़ाने के लिए कोई विधेयक सदन के समक्ष पेश किया जाय, तो क्या मूल अधिनियम में संशोधन करने की अनुमति दी जानी चाहिए ?

अध्यक्ष महोदय ने यह टिप्पणी की :

"जैसाकि मैंने कहा, मैं इस बारे में निर्णय नहीं दे रहा हूं, मैं माननीय सदस्य को केवल अपनी प्रतिक्रिया बता रहा हूं। स्थिति यह है कि वर्तमान विधेयक के दायरे में ये सभी संशोधन ग्राह्य नहीं हो सकते। इसका कारण यह नहीं कि ये संशोधन अनिवार्यतः खराब हैं, वे बहुत अच्छे हो सकते हैं और वे वांछनीय भी हो सकते हैं। इसलिए, मैं संशोधनों के बारे में स्थिति पर विचार करना चाहूंगा और जब तक मैं स्पष्ट निष्कर्ष पर नहीं पहुंचूं कि अधिनियम की मूल धाराओं में संशोधन करनेवाले संशोधनों को अनुमति दी जा सकती है तो संशोधनों की जांच करने में वर्तमान की तरह सदन का समय लेना आवश्यक नहीं होगा। माननीय सदस्य इस बात को नोट करेंगे कि मैंने महत्वपूर्ण क्षेत्र के बारे में एक सामान्य चर्चा करने की अनुमति दी है, क्योंकि कानून के प्रभावी रहने की अवधि और आगे बढ़ाने का प्रस्ताव है और माननीय सदस्यों को अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का अधिकार है जिससे सरकार यह जान सके कि सदन किन अन्य संशोधनों को करने का इच्छुक है। प्रश्न प्रक्रिया से संबंधित है और मेरा विश्वास है कि यह प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि जब कभी भी अधिनियम के प्रभावी रहने की अवधि को और आगे बढ़ाये जाने संबंधी विधेयक सदन के समक्ष प्रस्तुत किया जाये, तो क्या मूल अधिनियम में संशोधन पेश करने की हमें अनुमति देनी चाहिए ? यह प्रक्रिया का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है। निस्संदेह, इसका यह अर्थ नहीं है कि चूंकि संशोधन पेश नहीं किये जा सकते, तो माननीय सदस्यों के पास अन्य कोई समाधान नहीं है। यदि माननीय सदस्य ठोस कारण देकर पर्याप्त रूप से जोरदार ढंग से अपनी बात प्रस्तुत करते हैं, तो मुझे कोई संदेह नहीं है कि सदन के प्रति उत्तरदायी सरकार माननीय सदस्यों द्वारा वांछित संशोधनों को शामिल करके एक अन्य संशोधनकारी विधेयक शीघ्र लाने के लिए भरसक प्रयास करेगी। वह एक भिन्न प्रश्न है। इस समय मैं जो कहना चाहता हूं वह यह है कि इस प्रश्न के बारे में गहन और सावधानीपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि हम एक नया उदाहरण स्थापित कर रहे हैं। इसलिए, हमें उस पहलू पर विचार करना होगा।"

20 मार्च, 1951 को अध्यक्ष महोदय ने यह विनिर्णय दिया :

"जो प्रश्न उठाया गया है, वह यह है कि दिल्ली और अजमेर-मेरवाड़ किराया नियंत्रण अधिनियम, 1947, और आगे संशोधित रूप में, की कुछ धाराओं में सुधार करने अथवा संशोधन करने संबंधी माननीय सदस्यों के संशोधन प्रस्ताव, जिसके बारे में उन्होंने नोटिस दिये हैं, नियमानुकूल हैं अर्थात् क्या वे वर्तमान विधेयक के दायरे के अंतर्गत हैं, जो वास्तव में समाप्त हो रहे कानून को और आगे जारी रखने का उपाय है।

वर्तमान विधेयक में केवल एक खंड है जिसके द्वारा अधिनियम की अवधि दो वर्ष बढ़ाने का प्रस्ताव है। ऐसा करते समय, धारा 1 की उपधारा (3) के प्रथम परंतुक का लोप करने का भी प्रस्ताव है। इसका लोप किया जाना उस अवधि की समाप्ति के परिणामस्वरूप है जिसके अंतर्गत सरकार को सरकारी राजपत्र में अधिसूचना का प्रकाशन करके अधिनियम की अवधि में वृद्धि का निर्देश देने के लिए अधिनियम द्वारा सरकार को प्राधिकृत किया गया था। खंड 2 के उप-खंड (3) द्वारा प्रस्तावित संशोधन पूर्णतः शाब्दिक और प्रथम परंतुक का लोप कर देने पर परिणामी हैं। इसलिए, मूलतः विधेयक का प्रयोजन 24 मार्च, 1951 से और आगे दो वर्षों की अतिरिक्त अवधि के लिए दिल्ली और अजमेर-मेरवाड़ किराया नियंत्रण अधिनियम को बढ़ाना है। इन तथ्यों के आधार पर यह कहा गया है कि विधेयक सार रूप में पुनः कानून का पारित किया जाना अथवा नये कानून का पारित किया जाना है, यद्यपि वह शब्दावली में पुराने कानून के समान ही है। यदि अधिनियम के प्रभावी रहने की अवधि नहीं बढ़ायी जाय, तो 24 मार्च, 1951 से और उसके बाद दिल्ली और अजमेर-मेरवाड़ किराया नियंत्रण अधिनियम जैसा कोई कानून नहीं होगा। इस प्रकार यह तर्क दिया गया है कि मूलतः वर्तमान विधेयक पुराने कानून के उपबंधों के अधिनियम का विधेयक है और इसलिए पुराने कानून का संपूर्ण दायरा न केवल चर्चा के लिए ही उपलब्ध है, बल्कि उसमें ऐसे संशोधन और परिवर्तन करने के लिए भी वह उपलब्ध है जिसे सदन उचित समझे। स्पष्टतः यह तर्क युक्तिसंगत है और वजनदार है।

इस तर्क के पक्ष में काफी पूर्वाग्रह से मैंने संशोधनों पर विचार किया। लेकिन गहन विचार करने और 'हाउस ऑफ कामन्स' के पूर्व वृत्तांतों का अध्ययन करने पर, जो अनुभव पर आधारित हैं, मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि मोटे तौर पर, उन मामलों में, जिनमें समाप्त हो रहे कानून को और आगे प्रभावी रखने के लिए विधेयक लाया जाता है, समाप्त हो रहे कानून के मुख्य उपबंधों में संशोधन अथवा परिवर्तन करने संबंधी कोई संशोधन पेश करना

उचित नहीं होगा। इस सामान्य नियम के कुछ अपवाद हैं जो उस विधेयक के स्वरूप पर निर्भर करते हैं जिनके माध्यम से समाप्त हो रहे कानून की अवधि को और आगे जारी रखने का प्रस्ताव है। लेकिन वे बहुत ही सीमित हैं और वे प्रक्रियागत किस्म के हैं। महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि समाप्त हो रहे कानून की अवधि बढ़ाये जाने के समय जिस कानून की अवधि बढ़ाने का प्रस्ताव है, उसके मुख्य उपबंधों में संशोधन या परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

'मे' की 'पार्लियामेंटरी प्रैक्टिस' पुस्तक के चौदहवें संस्करण के पृष्ठ 523 में इस नियम के बारे में यह कहा गया है :

"समाप्त हो रहे कानूनों को और आगे जारी रखने संबंधी विधेयक के प्रभावी खंड में यह निर्दिष्ट है कि अनुसूची (अथवा अनुसूचियों) में उल्लिखित अधिनियम एक निर्धारित तिथि तक प्रभावी रहेंगे और ऐसे विधेयक के बारे में जो संशोधन पेश किये जा सकते हैं, वे निम्नलिखित शर्तों के अधीन होंगे :

(क) कोई भी संशोधन विधेयक के क्षेत्राधिकार के बाहर होगा, यदि उसके माध्यम से जारी रखने वाले अधिनियमों के उपबंधों में संशोधन करने का प्रस्ताव हो अथवा ऐसे अधिनियमों को स्थायी बनाने का प्रस्ताव किया गया हो अथवा विधेयक में ऐसे कानून को शामिल किया गया हो जो पहले ही निष्प्रभावी हो चुका हो।

(ख) विधेयक के प्रभावी खंड में अनुसूची (अथवा अनुसूचियों) के अधिनियम (अधिनियमों) को जिस तारीख तक जारी रखने का प्रस्ताव है, उसमें परिवर्तन करने के बारे में संशोधन पेश किया जा सकता है।"

जिस मामले में अधिनियम की अवधि को और आगे बढ़ाने संबंधी विधेयक एक ऐसे प्रभावी खंड का रूप लेता है जिसके साथ विभिन्न अधिनियमों को विनिर्दिष्ट करने वाली अनुसूची संलग्न हो तो प्रक्रिया थोड़ी भिन्न होती है और 'मे' की 'पार्लियामेंटरी प्रेक्टिस' में प्रक्रिया इस प्रकार बतायी गयी है :

"किसी अधिनियम अथवा उसके किसी भाग को जारी रखने के प्रश्न पर विधेयक की अनुसूची पर चर्चा करनी चाहिए और ऐसी चर्चा तब की जानी चाहिए जब अधिनियम वहां तक पहुंचे, न कि विधेयक के खंडों पर।"

निस्संदेह, यह बात यहां पर लागू नहीं होती क्योंकि इस मामले में कोई अनुसूची नहीं हैं, और केवल एक प्रभावी खंड है।

"इस प्रकार किसी अधिनियम अथवा अधिनियम/अधिनियमों के विशिष्ट उपबंधों को आगे प्रभावी न रखने के लिए अनुसूची में संशोधन पेश किया जा सकता है।"

मैं केवल उन्हीं अंशों को उद्धृत कर रहा हूं जो संगत और प्रासंगिक हैं।

यद्यपि यह तर्क दिया जा सकता है कि मूलतः वर्तमान कानून को जारी रखना नये कानून को पारित करने के बराबर है, लेकिन जहां तक स्थायी उपबंधों में संशोधनों का सम्बन्ध है, मामला केवल तकनीकी अथवा प्रक्रियागत नहीं है। यह ध्यान में रखना होगा कि वर्तमान कानून को जारी रखने के मामले में जब कानून को पारित किया गया था, तो कानून के मूल सिद्धान्त को सदन द्वारा पहले ही स्वीकार कर लिया गया था और इसलिए, यद्यपि कानून के क्रियान्वयन और उसके कार्यकरण के तरीके को सामान्य और सरकारी तौर पर समीक्षा करना तथा सुधारों के बारे में सुझाव देना और त्रुटियों का उल्लेख करना उचित होगा, परन्तु यह मानकर कि विधेयक में समाप्त हो रहे अधिनियम की प्रत्येक धारा शामिल है, प्रत्येक धारा में संशोधन करने की अनुमति नहीं होगी। सदन को जिस तारीख तक अधिनियम को जारी रखने का प्रस्ताव है, उस तारीख में परिवर्तन के विकल्प को अपनाते हुए, संशोधनकारी विधेयक के प्रभावी खण्ड में प्रस्तावित अन्य संशोधनों पर, यदि कोई हों तो, विचार करते हुए अधिनियम की प्रस्तावित समय-वृद्धि को स्वीकार अथवा अस्वीकार करना है।

30 जुलाई, 1874 को 'हाउस ऑफ कामन्स' की समिति के सभापति ने समिति में उठाये गये प्रश्न के बारे में कहा था : "यह स्मरण रखना होगा कि विधेयक का उद्देश्य संशोधन करना नहीं, बल्कि अधिनियमों को जारी रखना है।" 10 सितम्बर, 1887 को समाप्त हो रहे कानूनों को जारी रखने सम्बन्धी विधेयक के मामले में 'हाउस ऑफ कामन्स' में चर्चा के दौरान, एक विशेष अधिनियम के बारे में, जिसके प्रभावी रहने की अवधि बढ़ाने का प्रस्ताव था, इस आधार पर आपत्ति उठायी गयी कि कानून को इंगलैण्ड और आयरलैण्ड के बीच समान बनाये बिना अधिनियम की प्रभावी रहने की अवधि बढ़ाने का प्रस्ताव है। एक आयरिश सदस्य द्वारा आपत्ति उठायी गयी थी, जिसकी शिकायत का मुख्य मुद्दा यह था कि जबकि कानून इंगलैण्ड के लिए अच्छा था, परन्तु यह अनुचित है कि आयरलैण्ड की विशेष स्थिति को ध्यान में रखते हुए अधिनियम को आयरलैण्ड में और आगे जारी रखा जाये। इस पर सभापति ने यह विनिर्णय दिया :

> "सदस्य महोदय जो कर सकते हैं वह यह है कि अनुसूची से अधिनियम का लोप करने के बारे में वह प्रस्ताव करें अथवा यदि वह चाहें तो यह प्रस्ताव भी कर सकते हैं कि अनुसूची में शामिल किये जाने वाले अधिनियम की किसी धारा का लोप किया जाये, परन्तु उन्हें इसका अधिकार नहीं है कि वह अन्य किसी तरीके से उनमें संशोधन करने अथवा उनके प्रभावी रहने की अवधि बढ़ाने का प्रस्ताव करें।"

मैं अन्य पूर्व-वृत्तांतों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं समझता।

वर्तमान मामले में विधेयक के दायरे में दो मामले आते हैं—(एक) अधिनियम को आगे जारी रखने की अवधि, और (दो) उन क्षेत्रों को अधिसूचित करने की केन्द्रीय सरकार की शक्ति, जिनमें अधिनियम प्रभावी नहीं रहेगा। इन दो मुद्दों के बारे में संशोधन पेश किये जाने का पूरा अधिकार है।

जो कुछ मैं पहले कह चुका हूं, उसे ध्यान में रखते हुए, यदि सदस्यगण समाप्त हो रहे विधेयक के उपबन्धों को पसन्द नहीं करते हैं, तो प्रस्तावित विधेयक को अस्वीकार करने का सदन को अधिकार है। अधिनियम को जारी रखने का प्रस्ताव कानून को यथावत स्वीकार करने के रूप में पेश किया जा रहा है और किसी अमुक भाग में संशोधन करने के प्रयास का न तो अधिकार ही है और न ही सामान्य सिद्धांतों के अनुसार ऐसा करना वांछनीय है। सदस्य इस बात से सहमत होंगे कि यदि अधिनियम के मूल उपबन्धों में संशोधन करने की सदन की इच्छा है, तो यह आवश्यक है कि वे सम्पूर्ण अधिनियम की समीक्षा और जांच करें और कानून के सामान्य तथा समग्र परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए संशोधनों के बारे में विचार करें। मूल अधिनियम के इस या उस भाग में संशोधन करने के प्रयास से अवांछित और अप्रत्याशित परिणाम निकलने की सम्भावना है जिनका समाप्त हो रहे अधिनियम के अन्य सभी उपबन्धों के साथ कोई तालमेल नहीं होगा। मैं यह बात एक सामान्य सिद्धांत के रूप में कह रहा हूं और ऐसा करने के लिए मैं कारण दे रहा हूं कि 'हाउस ऑफ कामन्स' के पूर्वोदाहरण मुझे क्यों उचित और सुदृढ़ प्रतीत होते हैं। समाप्त हो रहे कानून के किसी विशिष्ट उपबन्ध पर विचार करने के किसी भी प्रयास का व्यवहारतः यह अर्थ होगा कि समाप्त हो रहे कानून का टुकड़ों में और अव्यवस्थित तरीके से पुनरीक्षण अथवा समीक्षा होगी।

कोई भी सदस्य यह पूछ सकता है कि यदि सदन विधान में सुधार करना चाहता है, तो उसे क्या करना चाहिए। उस मामले में अधिनियम को अस्वीकार करना उचित उपाय नहीं है। सदन कानून को मूलतः जारी रखना चाहेगा और इसलिए पूर्णतः अस्वीकार होने तक अधिनियम को जारी रखने को प्राथमिकता देना चाहेगा, यद्यपि वांछित सुधार अपने आपमें बहुत महत्वपूर्ण हो सकते हैं। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यदि सदन वांछित सुधारों सम्बन्धी मुद्दों का समर्थन करता है, तो उत्तरदायी सरकार अपेक्षित सुधारों की पूर्ति के लिए अथवा बतायी गयी त्रुटियों को दूर करने के लिए निश्चित रूप से अन्य संशोधनकारी विधेयक प्रस्तुत करेगी। इस तर्क के आधार पर कि सम्पूर्ण विधान की समीक्षा की जा रही है, समाप्त हो रहे कानून के मूल उपबन्धों में संशोधन की अनुमति देने से पहले से ही चर्चा किये गये मुद्दों और पहले से ही लिये गये निष्कर्षों के बारे में पुनः विवाद के द्वार खुल जायेंगे। इसलिए, सामान्य सुविधा की दृष्टि से और सदन में बेहतर तथा

अधिक द्रुत गति से कार्य करने की दृष्टि से 'हाउस ऑफ कामन्स' में प्रचलित प्रथा उचित है और मुझे इसका पालन करने में कोई हिचक नहीं है।"

[**पार्लियामेंटरी डिबेट्स, पार्ट 2,**
19 मार्च, 1951, कालम 4787 और
20 मार्च, 1951, कालम 4859-62]

2.2 विनियोग विधेयक—चर्चा की व्याप्ति

विनियोग विधेयक पर चर्चा की व्याप्ति के सम्बन्ध में अध्यक्ष ने 24 मार्च, 1950 को निम्नलिखित निर्णय दिया :

"चूंकि संविधान के उपबन्धों में वित्तीय मामलों में प्रक्रिया 'हाउस ऑफ कामन्स' की प्रक्रिया के अनुसरण में निर्दिष्ट की गयी है, मेरे विचार में संक्षेप में यह कहना आवश्यक है कि इन उपबन्धों में निहित सिद्धान्त, जैसा कि उसमें निर्धारित प्रक्रिया से स्पष्ट है, कुछ बातों में अब तक अपनायी गयी प्रक्रिया से भिन्न हैं। मेरा विश्वास है कि इससे माननीय सदस्यों को विनियोग विधेयकों पर चर्चा की व्याप्ति के महत्व को समझने में मदद मिलेगी।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि बड़े पैमाने पर व समूचे देश के प्रशासन के मामले में सरकारी व्यय पर बहुत अधिक संसदीय नियन्त्रण कभी भी नहीं हो सकता। प्रशासन का प्रभार अनेकों व्यक्तियों के पास होने के कारण यह कठिन ही नहीं लगभग असम्भव है कि व्यय करने वाला प्रत्येक प्राधिकारी करदाता पर पड़ने वाले वित्तीय भार के समग्र चित्र को अपने सामने रखे और फलस्वरूप मितव्ययता की प्रेरणा ले। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि जिनके हाथों में प्रशासन सौंपा गया है उन्हें काफी अधिक स्वविवेकाधिकार दिये जायें। संक्षेप में कहें तो वित्तीय व्यवस्था पर संसदीय नियन्त्रण का उद्देश्य करदाता की न्यूनतम लागत पर अधिकतम दक्षता प्राप्त करना है। इसका अनिवार्यतः अभिप्राय फिजूलखर्ची से बचने तथा मितव्ययता के ढंग व साधन सुझाने के उद्देश्य से लेखाओं की सम्पूर्ण संवीक्षा करना है ताकि दक्षता भी बनी रहे तथा सरकार के सभा कार्यकलापों से सम्बन्धित देश की सभी आवश्यकताएं भी पूरी हो सकें।

अब से पहले भारत की संचित निधि नाम की कोई चीज नहीं थी। भारत की संचित निधि का गठन अनुच्छेद 266 के अन्तर्गत एक ऐसे भंडार के रूप में किया गया है जिसमें कर आदि के रूप में एकत्रित सभी समाहरण पहले संचित

किये जाते हैं तथा उसके बाद उस भंडार में से व्यय के लिए आवश्यक धन निकाला जाता है। विनियोग विधेयक संचित धन को व्यय के प्रयोजनों के लिए निकालने का एक माध्यम है।

अब तक, अनुदानों की मांगों के पारित हो जाने के पश्चात, गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया एक्ट, 1935 के खंड 35 के अधीन गवर्नर-जनरल द्वारा हस्ताक्षरित प्राधिकृत व्यय की एक सूची सभा पटल पर रख दी जाती थी तथा राजस्व में से कोई भी व्यय तब तक प्राधिकृत नहीं माना जाता था जब तक कि इसका सूची में उल्लेख न हो। यह स्पष्ट है कि गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1937 के खंड 35 में उल्लिखित प्रक्रिया हमारे संविधान के प्रावधानों के अनुरूप नहीं थी तथा अब यह आवश्यक हो गया कि संसद द्वारा स्वीकार की गयी मांगों तथा संचित निधि पर पारित व्यय को वहन करने के लिए आवश्यक सभी राशियों का भारत की संचित निधि में से विनियोग करने के लिए संसद स्वयं विधि द्वारा प्रावधान करे। इस प्रकार विनियोग विधेयक सरकार को संचित निधि में से धन निकालने का सांविधिक प्राधिकार प्रदान करता है।

इसलिए हमारे सामने दो विधेयक हैं :

(1) रेलवे को छोड़कर सरकार के सभा कार्य-कलापों के लिए निधियों के विनियोग के लिए; तथा

(2) रेलवे से सम्बन्धित ऐसे ही विनियोग के लिए।

इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए कि दोनों विधेयकों की अनुसूचियों में उल्लिखित सभी मांगें संसद द्वारा पारित कर दी गयी हैं, एक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि विनियोग विधेयक सामान्य बजट तथा रेलवे बजट से सम्बन्धित विभिन्न अनुदानों की मांगों के विषय में सभा के निर्णयों को सांविधिक रूप देने का औपचारिक विधान है। इस प्रकार यद्यपि ये विधेयक औपचारिक हैं, तथापि ये बहुत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये माननीय सदस्यों को विभिन्न मदों, जिनके अधीन संचित निधि में से धन-निकास प्राधिकृत किया जा रहा है, से संबंधित सरकार के कार्य-कलापों पर आगे विचार प्रकट करने तथा सुझाव देने का अवसर प्रदान करते हैं।

इस समय मैं सभा में उन विभिन्न अवसरों का उल्लेख करना चाहता हूं जो माननीय सदस्यों को सरकार के वित-प्रबन्ध की आलोचना करने तथा उस पर चर्चा करने के लिए प्राप्त होंगे :

(1) बजट प्रस्तुत किये जाने के पश्चात प्रथम अवसर नियम 132 के अधीन बजट पर सामान्य चर्चा के रूप में मिलता है। यह चर्चा पूरे बजट या

उससे संबंधित किसी सैद्धांतिक प्रश्न तक सीमित होती है। यह उस अवस्था में चर्चा के स्वरूप को निर्धारित करता है।

(2) दूसरा अवसर उस समय आता है जब अनुदानों की मांगें प्रस्तुत की जाती हैं तथा मांगों पर कटौती प्रस्ताव रखे जाते हैं। इस अवस्था में चर्चाएं मांग की प्रत्येक मद तक सीमित होती हैं तथा जहां कटौती प्रस्ताव रखे जाते हैं वहां केवल संबंधित विषय, जिस पर कटौती प्रस्ताव रखा गया हो, तक ही सीमित होती हैं। इस अवसर पर चर्चा अधिक सुस्पष्ट होती है चाहे यह प्रशासन के किसी विशेष मद से संबंधित हो या कटौती प्रस्ताव में दिये गये शिकायत के किसी विशेष मुद्दे या आलोचना से संबंधित हो। उद्देश्य यह है कि अस्पष्ट या अनावश्यक चर्चा विस्तार से बचते हुए माननीय सदस्यों को विशेष मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित करने का अवसर मिल सके।

(3) वित्त पर चर्चा का तीसरा अवसर उस समय मिलता है जब वित्त-विधेयक सभा के सामने आता है। यह एक स्वीकृत सिद्धान्त है कि वित्त विधेयक के अवसर पर किसी भी विषय या किसी भी शिकायत पर चर्चा की जा सकती है। इस सिद्धांत के पीछे प्रयोजन यह है कि किसी भी नागरिक को किसी प्रकार का कर आदि देने के लिए तब तक नहीं कहा जाना चाहिए जब तक उसे संसद के माध्यम से अपने विचार प्रकट करने तथा अपनी शिकायतें रखने का पूरा-पूरा अवसर नहीं दिया जाता।

(4) चौथा अवसर तब आता है जब विनियोग विधेयक सभा के सम्मुख आता है।

अनुदानों की मांगों व कटौती प्रस्तावों की चर्चा की अवस्था तथा विनियोग विधेयक पर चर्चा व्याप्ति की सुस्पष्ट सीमा निर्धारित करना कठिन है। यह काफी हद तक अपरिहार्य है कि प्रशासन के मामलों में भी उसी तरह की चर्चा उठायी जाती है जैसी कि उस समय जब मांगें व कटौती प्रस्ताव सभा के सम्मुख आते हैं। जहां तक कराधान प्रस्तावों का सम्बन्ध है, वित्त विधेयक तथा विनियोग विधेयक में सुस्पष्ट भिन्नता है। प्रशासन के पूरे क्षेत्र को चर्चा के अन्तर्गत लाने के उद्देश्य से वित्त विधेयक पर चर्चा की काफी गुंजाइश होने के साथ-साथ कराधान प्रस्तावों का एक ऐसा विशिष्ट विषय है जिस पर केवल वित्त विधेयक के दौरान ही चर्चा हो सकती है।

अतएव माननीय सदस्य इस बात को ध्यान में रखेंगे कि जब विनियोग विधेयकों पर विचार होगा तो कराधान प्रस्तावों पर चर्चा उठाने की अनुमति नहीं होगी। इस चर्चा में लोक महत्व के किसी भी मामले तथा मांगों में

अन्तर्निहित प्रशासनिक नीति व संचित निधि पर भारित व्यय के मामलों को शामिल किया जा सकता है। ये मामले तभी उठाये जा सकते हैं जब संविधान तथा प्रक्रिया संबंधी नियम इस बात की अनुमति देते हों तथा इनका संबंध मितव्ययता बरतने, प्रशासन में सुधार, लेखाओं की संवीक्षा तथा अनुरक्षण तथा विनियोग आदि से संबंधित प्रश्नों से हो। वास्तव में, सामान्यतया ऐसे सभी मामले, जिनके बारे में सभा कमियां निकालना चाहे या जनता को अच्छी सेवाएं, बेहतर दक्षता उपलब्धता कराने तथा अधिक मितव्ययता बरतने के उद्देश्य से प्रशासन को अपने काम-काज में सुधार लाने के लिए अनुदेश देना चाहे, इस चर्चा के दौरान उठाये जा सकते हैं।

मैंने केवल सामान्य रूपरेखा बताने का प्रयास किया है तथा मैंने जिन विशिष्ट मुद्दों का उल्लेख किया है उन्हें मेरे कथन के अभिप्राय के उदाहरणस्वरूप लिया जाना चाहिए। मेरा विश्वास है कि इससे माननीय सदस्यों को चर्चा के अवसर के बारे में स्पष्टीकरण मिल गया होगा।"

[पार्लियामेंटरी डिबेट्स
24 मार्च, 1950, पृष्ठ 2061-63]

2.3 मूल अधिनियम की उन धाराओं में, जिन्हें संशोधन विधेयक में शामिल नहीं किया गया है, परिवर्तन नहीं किया जा सकता :

8 फरवरी, 1951 को दंड प्रक्रिया संहिता (संशोधन) विधेयक पर विचार के प्रस्ताव पर श्री एम० ए० अय्यंगर ने अनुरोध किया कि उनके प्रस्ताव को प्रवर समिति को सौंपने के लिए सूचना पर आग्रह न किया जाये। वह चाहते थे कि प्रवर समिति विधेयक में दो महत्वपूर्ण मुद्दों को शामिल करने पर विचार करे। प्रथम, कि अतिवादी मामलों में जहां न्याय का हित किसी मुकदमे को एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानांतरित करने की मांग करता है, ऐसा स्थानांतरण दूसरे राज्य की सहमति से न होकर राष्ट्रपति या सर्वोच्च न्यायालय जैसे स्वतंत्र प्राधिकरण में से किसी एक की सहमति से किया जाना चाहिए; दूसरे जहां केवल राजनीतिक कारणों के प्रयोजन से छोटे-मोटे मुकदमे चलाये गये हों, केन्द्र सरकार या राष्ट्रपति में से किसी एक को यह अधिकार दिया जाना चाहिए कि वह इस प्रकार के उपयुक्त तथा सही मुकदमे वापस ले लें।

श्री अय्यंगर ने कहा कि यदि प्रस्ताव की सूचना की शर्त नहीं हटायी जा सकती, तो वह सभा द्वारा विधेयक में उपयुक्त संशोधन स्वीकार किये जाने पर सहमत हैं।

श्री अय्यंगर ने स्पष्ट किया कि "....भाग ख के राज्यों के लिए एक नयी

संहिता अधिनियमित करने के बजाय हमारा विचार है कि हम मूल अधिनियम की धाराओं को भाग ख के राज्यों पर लागू करें। दूसरी ओर सभा यह कहने के लिए स्वतंत्र है कि यह धाराएं पूर्ण नहीं हैं, अच्छी नहीं हैं, स्थिति से निपटने के लिए पर्याप्त नहीं हैं और इसलिए जो कुछ आपने किया है उसमें कुछ जोड़ा या घटाया अवश्य जाना चाहिए। इन परिस्थितियों में मैं नियमों से बाहर नहीं जा रहा हूं या कोई नयी चीज नहीं ला रहा हूं।"

श्री सरवटे ने कहा कि भाग ख के सभी राज्य इतने पिछड़े हुए नहीं हैं कि यह कहा जाये कि भारतीय दंड प्रक्रिया संहिता आवश्यक तौर पर उनकी अपनी संहिताओं से अधिक परिष्कृत है और उन पर लागू की जानी चाहिए। उन्होंने सुझाव दिया कि प्रवर समिति इस मुद्दे पर भी विचार करे।

पंडित ठाकुर दास भार्गव ने प्रस्ताव को प्रवर समिति को सौंप जाने का समर्थन किया ताकि समिति उठाये गये विभिन्न मुद्दों पर विचार करने का प्रयत्न कर सके। उनका विचार था कि यह अत्यधिक वांछनीय है कि दंड प्रक्रिया पूरे देश में केवल एक कानून द्वारा ही विनियमित की जाये।

अध्यक्ष ने निर्णय दिया :

"मेरे विचार में कठिनाई यह है कि इस विधेयक द्वारा कुछ विशेष धाराओं में संशोधन किये जाने का प्रस्ताव है। अब प्रवर समिति को सौंपे जाने वाले प्रस्ताव द्वारा ऐसा करने का प्रस्ताव है कि इस विधेयक की दंड प्रक्रिया संहिता को सामान्यतया संशोधित करने वाला विधेयक माना जाये तथा अन्य धाराओं में भी, जो इस समय इस विधेयक में शामिल नहीं है, संशोधन की अनुमति दी जाये।'''जहां तक संशोधन विधेयकों का प्रश्न है, कई अकाट्य निर्णय पहले ही दिये जा चुके हैं कि मूल विधान की उन धाराओं में आप परिवर्तन नहीं कर सकते जो संशोधी विधान में शामिल नहीं हैं।"

"जो कुछ यहां कहा गया है उसे सुनने के बाद मैं इस बात से संतुष्ट नहीं हूं कि हम मौजूदा विधेयक के क्षेत्र का विस्तार करने में सक्षम हैं जैसा कि किये जाने का प्रस्ताव है। परंतु मैं उस मुद्दे पर अभी कोई निर्णय नहीं सुना रहा हूं या कोई मत प्रकट नहीं कर रहा हूं। निःसंदेह, मैं इस मामले को बिना किसी निर्णय के सरसरी तौर पर यह कह कर निपटा सकता हूं कि चूंकि इस प्रस्ताव के लिए उपयुक्त सूचना नहीं दी गयी, मैं सूचना की शर्त हटाने के अनुरोध को अस्वीकार करता हूं। परंतु मैं नहीं चाहता कि ऐसा करने में मुझे गलत समझा जाये। विधेयक के उद्देश्यों तथा कारणों के कथन की विस्तृत जांच किये बिना ही मुझे ऐसा लगता है कि इसका उद्देश्य इतना विस्तृत नहीं है जितना

कि दर्शाया जा रहा है, अर्थात् पूरी दंड प्रक्रिया संहिता का इसी अवस्था में संशोधित किया जाना। उद्देश्यों तथा कारणों के कथन से मैं समझता हूं कि यह एक विशेष असुविधा का उल्लेख करता है। असुविधा यह है कि 'भाग क या भाग ग के किसी राज्य के न्यायालय द्वारा किसी अभियुक्त के विरुद्ध जारी किये गये वारंटों तथा समनों को भाग ख के किसी राज्य में अथवा इसके विपरीत बिना प्रत्यार्पण कार्यवाही के, जो कि पूर्णतया अनपयुक्त है, निष्पादित नहीं किया जा सकता या उनकी तामील नहीं हो सकती।'

"मैं समझता हूं कि मुख्य उद्देश्य इस प्रकार की कठिनाई से छुटकारा पाना है और संयोगवश यह कहा गया है कि 'इस विधेयक का मुख्य उद्देश्य एक ऐसे विधान का प्रावधान करना है जिसके द्वारा 1898 की संहिता का विस्तार भाग ख के राज्यों में हो सके।' मैंने विधेयक के प्रावधानों की जांच नहीं की है लेकिन मैं समझता हूं कि भाग ख के विभिन्न राज्यों में यथा विद्यमान पूरी दंड प्रक्रिया संहिता में परिवर्तन करने का उनका अभिप्राय नहीं है।"

"मैं निश्चित तौर पर यह अनुभव नहीं करता कि इस अवस्था में प्रस्ताव को प्रवर समिति को सौंपने की अनुमति दी जाये।"

"मैंने सदैव यह निर्णय दिया है कि ऐसे प्रस्तावों के मामले में, जिनमें यथोचित सूचना नहीं दी जाती, मैं उन्हें रखने की तभी अनुमति दूंगा जब ठोस सहमति हो। यदि माननीय मंत्री संशोधन को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं, तो मैं सूचना की शर्त को हटाने के लिए सहमत हूं। यदि ऐसा नहीं है, तो मैं नहीं समझता कि सूचना की शर्त हटाने के लिए मुझ पर दबाव डाला जाये।"

चूंकि विधेयक के प्रभारी मंत्री प्रस्ताव को प्रवर समिति को सौंपने के लिए सहमत नहीं थे पर वह स्वयं उपयुक्त संशोधनों का प्रस्ताव रखने के लिए सहमत थे, प्रस्तावकर्त्ता ने प्रस्ताव पर जोर नहीं दिया।

[**पार्लियामेंटरी डिबेट्स, पार्ट 2,**
8 फरवरी, 1951 कालम 2573-81]

2.4 धन-विधेयक

(1) सभा द्वारा धन विधेयक पारित किये जाने के तुरंत बाद उसे राज्य सभा को प्रेषित कर देना चाहिए बशर्ते कि अध्यक्ष ने इसके विपरीत कोई निदेश न दिया हो।

(2) संविधान के अनुच्छेद 192 के खंड (2) में उल्लिखित 14 दिन की अवधि राज्य सभा सचिवालय में विधेयक की प्राप्ति की तिथि से गिनी जानी चाहिए।

1 अगस्त, 1955 को अध्यक्ष ने प्रश्न-काल के पश्चात, लोक सभा द्वारा पारित रूप में, भारतीय प्रशुल्क (संशोधन) विधेयक, 1955 के संबंध में निम्न वक्तव्य दिया था :

"भारतीय प्रशुल्क (संशोधन) विधेयक, 1955 इस सभा द्वारा 26 जुलाई, 1955 को पारित किया गया था। संविधान के अनुच्छेद 110 के अधीन मैंने प्रमाणित किया है कि यह धन विधेयक है। जब इस प्रकार का कोई विधेयक सभा द्वारा पारित किया जाता है तो सभा के सचिव का कर्तव्य हो जाता है कि वह उस विधेयक को राज्य सभा को उसकी सिफारिश प्राप्त करने हेतु भेजे। संविधान में यह व्यवस्था है कि राज्य सभा विधेयक की प्राप्ति की तिथि से चौदह दिन की अवधि के भीतर अपनी सिफारिश सहित उसे लोक सभा को लौटा दे। जैसाकि माननीय सदस्यों को पता है कि अभी राज्य सभा का सत्र नहीं चल रहा है और यदि इस विधेयक को उस सभा को तत्काल भेजा जाता है, तो राज्य सभा के 16 अगस्त, 1955 को प्रारंभ होने वाले सत्र से पहले ही 14 दिन की अवधि व्यपगत हो जायेगी। इसलिए मैं सभा के सचिव को निदेश दे रहा हूं कि इस विधेयक को तुरंत राज्य सभा को न भेजा जाये बल्कि कुछ समय तक प्रतीक्षा की जाय जिससे राज्य सभा का सत्र प्रारंभ होने से पूर्व चौदह दिन की अवधि समाप्त न होने पाये।"

इसकी और आगे व्याख्या करते हुए अध्यक्ष ने टिप्पणी की :

"मैं सभा से कोई अनुमति नहीं मांग रहा हूं। मैं अपनी स्वयं की कार्यवाही की ओर केवल सभा का ध्यान आकर्षित कर रहा हूं। मैंने अपने ऊपर जिम्मेदारी ली है जिससे माननीय सदस्यों को पता चले कि इस सचिवालय का काम किस प्रकार चलता है। यदि विधेयक को भेजते समय इस छोटी-सी बात पर ध्यान न दिया जाता, तो इसका परिणाम यह होता कि राज्य सभा का सत्र प्रारंभ होने से पूर्व ही चौदह दिन की अवधि बीत जाती। राष्ट्रपति विधेयक को प्रमाणित कर देते और राज्य सभा को अपनी सिफारिश करने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। इसलिए एक ही रास्ता था कि विधेयक को इस सभा से दूसरी सभा को भेजना स्थगित कर दिया जाये। इस उपबंध की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—विधिवेत्ता तथा विधि अनुभवी लोगों ने हमें बताया है कि चाहे राज्य सभा का सत्र न भी चल रहा हो, फिर भी कोई विधेयक राज्य सभा के कार्यालय को, उसके सचिव को भेजा जा सकता है और यदि सचिव विधेयक की प्रमाणित प्रति प्राप्त कर लेता है तो उसे राज्य सभा द्वारा प्राप्त समझा जाता है। यही कठिनाई है और इसीलिए मैंने सचिव को विधेयक

तुरंत भेजने से रोका है। भविष्य में सरकार को जब राज्य सभा का सत्र न चल रहा हो तो अपना कार्यक्रम इस प्रकार बनाना चाहिए कि इस प्रकार की आकस्मिक स्थिति पैदा ही न हो। इस सभा के सचिव को विधेयक के पारित और तैयार होते ही तुरंत भेजना होता है बशर्ते कि मेरे द्वारा उसके विपरीत कोई निदेश न दिया गया हो। मैं हर बार हस्तक्षेप करना और निदेश देना नहीं चाहता परंतु इस बार सबके लिए अकस्मात ही ऐसी स्थिति बन गयी और मैंने सोचा कि मुझे निदेश देना चाहिए और सभा को स्थिति से अवगत कराना चाहिए।"

भारतीय प्रशुल्क (संशोधन) विधेयक, 1955, लोक सभा द्वारा पारित रूप में 13 अगस्त, 1955 को राज्य सभा को भेजा गया था।

[**लोक सभा डिबेट्स, पार्ट 2,**
1 अगस्त, 1955, कालम 8950-53]

3. बजट

3.1 लेखानुदान : प्रस्ताव : प्रस्तावों का औपचारिक स्वरूप

12 मार्च, 1951 को अध्यक्ष ने लेखानुदान संबंधी प्रस्ताव के बारे में प्रक्रिया की घोषणा करते हुए निम्नलिखित टिप्पणी की :

"जैसाकि माननीय सदस्यों को विदित है, लेखानुदान संबंधी प्रक्रिया को इस विचार को ध्यान में रखकर बनाया गया है कि सदस्यों को बजट पर चर्चा करने के लिए पर्याप्त समय मिल सके। अतः उसके लिए 31 मार्च के बाद की सुविधाजनक तारीखें निर्धारित की जाती हैं। इस प्रक्रिया की मूल बात यह है कि सभा को पर्याप्त धनराशि की मंजूरी दे देनी होती है जिससे सरकार अपना कार्य तब तक चला सके जब तक कि मांगों पर भली भांति विचार-विमर्श नहीं कर लिया जाता और उनकी स्वीकृति नहीं दे दी जाती। इस प्रक्रिया में, चूंकि बजट पर बाद में विस्तृत चर्चा की जाती है, अंतरिम अवधि के लिए सरकार के व्यय हेतु संसद के द्वारा लेखानुदान के प्रस्ताव की स्वीकृति औपचारिकता मात्र ही समझी जाती है जैसाकि विधेयक को पुरःस्थापित करने की अनुमति अथवा विधेयक पुरःस्थापन का प्रस्ताव होता है। मुझे विश्वास है

कि माननीय सदस्य इस स्थिति को समझेंगे और लेखानुदान को औपचारिकता मात्र ही समझेंगे क्योंकि उनको बाद में 26 मार्च से 10 अप्रैल तक अनुदानों की मांगों पर विस्तृत रूप से चर्चा करने का पूरा अवसर मिलेगा।"

सभा के उपर्युक्त प्रक्रिया पर सहमत हो जाने के बाद अध्यक्ष ने कहा कि इस निर्णय का तात्पर्य यह है कि सभा लेखानुदान संबंधी प्रस्ताव की स्वीकृति बिना किसी चर्चा के दे देगी। श्री सिद्धवा ने पूछा कि क्या यह प्रक्रिया के नियम की तरह हमेशा के लिए अनिवार्य होगा, जिस पर अध्यक्ष महोदय ने टिप्पणी की :

"निःसंदेह यह पूर्वोदाहरण रहेगा। समग्र विचार यह है कि बजट पर पूर्ण-रूपेण विस्तार से चर्चा और विचार-विमर्श किया जायेगा। इस मामले में सरकार केवल एक महीने के लिए काम चलाना चाहती है। मैं नहीं समझता कि एक महीने के लिए सरकार के व्यय हेतु दी जाने वाली राशि के संबंध में चर्चा का क्या लाभ हो सकता है जब कि ग्यारह महीने के व्यय के लिए मंजूर की जाने वाली राशि के संबंध में सभा में चर्चा की जाती है और विशेषकर जब चार दिन तक पर्याप्त रूप से आम चर्चा की जा चुकी है। लेखानुदानों पर किसी प्रकार की कोई चर्चा उसी चर्चा की आवृत्ति मात्र होगी।"

प्रो० के० टी० शाह ने तत्पश्चात् पूछा कि यदि इसको पूर्वोदाहरण माना जाना है, तो बाद में यदि किसी पूरी मांग को अस्वीकृत कर दिया जाता है और यदि उस मांग के 1/12 भाग की बिना किसी प्रकार की चर्चा के स्वीकृति दी जा चुकी होती है, तो परेशानी की स्थिति पैदा हो सकती है।

डॉ० देशमुख विनिर्णय से सहमत थे परंतु उन्होंने कहा कि सभी मामलों में सभा की सहमति से ही चर्चा की शर्त को हटाया जाना चाहिए न कि अध्यक्ष की मन-मर्जी से। इस पर अध्यक्ष ने निम्नलिखित टिप्पणी की :

"अध्यक्ष मनमर्जी बिल्कुल नहीं करना चाहता। वह तो इस बात को सुनिश्चित करना चाहता है कि कोई भी सदस्य मनमर्जी न करे जिससे अन्य सदस्य अपने वास्तविक अधिकार से वंचित हो जायें। अब प्रत्येक मांग सभा के समक्ष होगी और उसकी स्थूल रूप से स्वीकृति दी जायेगी जो कि सही-सही 1/12 नहीं होगी। मैंने स्थूल रूप से कहा है अथवा वह कुछ अधिक अथवा कुछ कम हो सकती है। लेखानुदान का आशय यह है कि सभा द्वारा व्यय के लिए स्वीकृति न दिये जाने तक सरकार के कार्य रुक न जायें। यदि कोई ऐसा अवसर आता है जब 1/12 के लिए प्रस्ताव अविश्वास का प्रस्ताव बन जाता है, तो उसकी स्थिति बिल्कुल भिन्न होगी। मैं अभी से किसी अन्य स्थिति के बारे में कोई वचन नहीं देना चाहता। जब कोई ऐसा अवसर आयेगा तब हम उस पर विचार

करेंगे। जैसाकि साधारण परिस्थितियों में होता है, यद्यपि कोई माननीय सदस्य किसी विधेयक को पुरःस्थापित करने के लिए अनुमति देने अथवा विधेयक के पुरःस्थापन के समय अपने विचार व्यक्त कर सकता है परंतु हम ऐसा नहीं करते और प्रस्ताव को यथावत स्वीकार कर लेते हैं और जब विचारार्थ प्रस्ताव रखा जाता है तभी चर्चा की जाती है। इसी प्रकार इस लेखानुदान के मामले में हम इस समय कोई चर्चा नहीं करेंगे बल्कि इसे एक औपचारिकता मात्र समझेंगे और भविष्य के लिए यह एक पूर्वोदाहरण रहेगा।"

जहां तक लेखानुदान को विश्वास का मामला बनाये जाने की संभावना का प्रश्न है, अध्यक्ष ने निम्नलिखित टिप्पणी की :

"मुझे अपने आपको संतुष्ट करना होगा कि कोई मामला सभा द्वारा युक्ति-युक्त ढंग से अविश्वास का प्रस्ताव बनाया जा रहा है। मात्र किसी सदस्य के कह देने से कि वह उसे अविश्वास का प्रस्ताव समझता है, मैं उसे उसी रूप में स्वीकार नहीं करूंगा।"

[**पार्लियामेंटरी डिबेट्स**, पार्ट 2,
12 मार्च, 1951, कालम 4351-53]

3.2 अनुदानों की मांगें : कटौती प्रस्ताव : बाद की किसी तारीख को उठाये जाने वाले किसी मामले पर पहले से वाद-विवाद न किया जाना :

26 जून, 1952 को भाषायी आधार पर राज्य बनाये जाने के विषय पर राज्य मंत्रालय से संबंधित अनुदानों की मांगों पर कुछ कटौती प्रस्तावों की अनुमति न देते हुए अध्यक्ष ने निम्नलिखित टिप्पणी की :

"माननीय सदस्य इस बात पर ध्यान देंगे कि 7 जुलाई, 1952 का दिन गैर-सरकारी संकल्पों के लिए निर्धारित किया गया है और सबसे पहला संकल्प जो सभा के समक्ष आने वाला है वह निम्नलिखित है :

'इस सभा की राय है कि राज्यों को भाषायी आधार पर पुनर्विभाजित करने के लिए तत्काल कार्यवाही की जाये और विद्यमान राज्यों की सीमाओं का तदनुसार पुनः समायोजन किया जाये।'

इस प्रकार उस दिन भाषायी आधार पर प्रांत बनाने का मामला चर्चा के लिए आयेगा और मेरा विचार है कि कटौती प्रस्तावों में चर्चा के लिए उठाये जानेवाले सभी मामले उसमें आ जायेंगे। मुझे प्रथम दृष्टया यही बात समझ में आती है। इसलिए उस पर इस समय कोई चर्चा नहीं की जानी चाहिए क्योंकि प्रक्रिया के नियमों के अनुसार हमें इस समय प्रत्याशित रूप से वाद-विवाद नहीं करना चाहिए। जब कभी कोई ऐसा मामला हो जो बाद की किसी तारीख को सभा के समक्ष आने वाला हो और उसी मामले पर बाद में चर्चा उठायी जानी हो, उस पर किसी पूर्व तिथि को चर्चा उठाया जाना तकनीकी रूप से प्रत्याशित वाद-विवाद कहलाता है। इसके पीछे समग्र विचार यह है कि वाद-विवाद की पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिए।"

[**हाउस ऑफ द पीपल डिबेट्स, पार्ट 2,**
26 जून, 1952, कालम 2526-27]

4. समितियां

4.1 सरकार द्वारा प्रवर समिति के समक्ष रखे गये मूल विधेयक पर आधारित पुनरीक्षित विधेयक पर विचार करने के लिये समिति की क्षमता—हिंदू संहिता का मामला :

31 अगस्त, 1948 को जब विधि मंत्री ने प्रस्ताव किया "कि हिंदू विधि की कतिपय शाखाओं में संशोधन एवं उन्हें संहिताबद्ध करने के लिये प्रवर समिति द्वारा यथाप्रतिवेदित विधेयक पर विचार किया जाये", तो श्री नजीरुद्दीन अहमद ने औचित्य का प्रश्न उठाया कि प्रस्ताव इस आधार पर सक्षम नहीं है कि प्रवर समिति ने उसको निर्दिष्ट किये गये विधेयक पर नहीं अपितु विधि मंत्रालय द्वारा तैयार किये गये पूर्णतया एक नये प्रारूप पर विचार किया है। अध्यक्ष ने उस प्रश्न पर विचार को स्थगित करने का सुझाव देते हुए कहा :

"मेरे विचार में संगत प्रश्न यह है कि क्या प्रवर समिति ने कोई ऐसी चीज की है जो हमें सभा द्वारा समिति को निर्दिष्ट किये जाने के लिये आशयित विधेयक की व्याप्ति से परे ले जाती है। वह उसमें महत्वपूर्ण परिवर्तन कर सकती है अथवा कोई परिवर्तन नहीं कर सकती है; वह विशेष खंडों का पुनः प्रारूप तैयार कर सकती है अथवा उन्हें पुनः क्रमबद्ध कर सकती है; परंतु उसे उस विधान, जो उसे विचारार्थ या प्रतिवेदनार्थ निर्दिष्ट करने के लिये आशयित

था, की व्याप्ति से परे जाने का कोई प्राधिकार नहीं हैं । प्रश्न यह है कि वह क्या था जो प्रवर समिति को सभा द्वारा निर्देशनार्थ आशयित था और क्या प्रवर समिति उस निर्देश की व्याप्ति से परे गयी है···

मैं इस मामले को पूर्णतया विनिश्चित नहीं कर रहा हूं। मैं औचित्य प्रश्न रहित पूरी बात चर्चार्थ रख रहा हूं क्योंकि इसमें बड़े तथ्यात्मक प्रश्न अंतर्ग्रस्त हैं और मुझे स्वयं इन सभी बातों पर अवश्य विचार करना चाहिए जो कि अभी मैंने नहीं किया है।"

तत्पश्चात् (यद्यपि किसी भिन्न कारण से) प्रश्न पर विचार स्थगित करने के लिये एक प्रस्ताव पारित किया गया।

बाद में जब हिंदू संहिता पर 17 फरवरी, 1949 को विचार आरंभ किया गया, तब पंडित ठाकुरदास भार्गव ने श्री नजीरुद्दीन द्वारा पहले उठाये गये औचित्य प्रश्न का समर्थन करते हुए कहा कि प्रवर समिति में जो कार्यवाही हुई वह सभा के नियमों का उल्लंघन था और प्रवर समिति तथा विधि विभाग की प्रक्रिया द्वारा सभा के विशेषाधिकार का उल्लंघन किया गया है क्योंकि सभा द्वारा निर्दिष्ट विधेयक पर विचार न करके किसी अन्य विधेयक पर विचार किया गया था और उनकी राय में यह प्रवर समिति के प्रतिवेदन में की गयी कतिपय टिप्पणियों अथवा कथन से स्पष्ट है।

उठायी गयी आपत्तियों को अस्वीकृत करते हुए अध्यक्ष ने कहा :

"कि माननीय सदस्य श्री नजीरुद्दीन द्वारा 31 अगस्त, 1948 को उठाया गया तथा कुछ अन्य सदस्यों द्वारा समर्थित औचित्य प्रश्न कि हिंदू संहिता पर प्रवर समिति के प्रतिवेदन पर विचार करने का माननीय विधि मंत्री का प्रस्ताव असक्षम है, तथ्यों की संकीर्णता पर आधारित है। उठायी गयी आपत्ति की विवेचन शृंखला निम्नांकित रूप में प्रस्तुत की जाती है :

प्रवर समिति ने मूल विधेयक के स्थान पर उसके एक पुनरीक्षित प्रारूप पर विचार किया था। अतः समिति ने उस विधेयक, जो उसे निर्दिष्ट किया गया था, पर नहीं परंतु एक नये दस्तावेज पर विचार किया और चूंकि प्रवर समिति का विद्यमान प्रतिवेदन एक नये दस्तावेज पर प्रतिवेदन है, इसलिए मूल विधेयक पर प्रवर समिति का कोई प्रतिवेदन नहीं है। अतः प्रवर समिति से विधेयक जिस रूप में प्राप्त हुआ है उस पर माननीय विधि मंत्री का विचार करने का प्रस्ताव असक्षम है। औचित्य प्रश्न का यही सार है। मुझे विश्वास है कि मैंने बात को सही रूप में रखा है।

औचित्य प्रश्न को उठाने या उसका समर्थन करने वाला कोई भी सदस्य प्रवर समिति का सदस्य नहीं था और इसलिए उन्हें इस बात का कोई व्यक्तिगत ज्ञान नहीं था कि प्रवर समिति की बैठकों में किस पर विचार किया गया था। अतः उन्होंने प्रवर समिति के प्रतिवेदन में कुछ कथनों पर भरोसा कर यह अनुमान लगाया कि प्रवर समिति को यथानिर्दिष्ट मूल विधेयक पर समिति ने विचार नहीं किया है।

अतः उठाया गया प्रश्न पूर्णतया तथ्यों का प्रश्न है, अर्थात् क्या प्रवर समिति को निर्दिष्ट विधेयक, अर्थात् उसके उपबंधों के रूप और क्रम से भिन्न विभिन्न सारवान् उपबंधों, पर प्रवर समिति ने विचार किया था अथवा नहीं, क्या प्रवर समिति ने उसे निर्दिष्ट विधेयक के सारवान् उपबंधों पर विचार किया था अथवा नहीं।

इस पर कोई विवाद नहीं है कि प्रवर समिति को उसे यथानिर्दिष्ट विधेयक के उपबंधों में परिवर्धन करने या उनमें से लोप करने अथवा सुधार करने का अधिकार था बशर्ते कि प्रवर समिति द्वारा सुझाया गया परिवर्धन, लोप या सुधार विधेयक की व्याप्ति के अंतर्गत है। अतः मुझे इस पहलू पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रवर समिति के बारे में मेरे समक्ष ऐसा कोई प्रश्न नहीं उठाया गया कि प्रवर समिति विधेयक की व्याप्ति से परे चली गयी है।"

अब मैं अपने समक्ष लिखित तथा मौखिक साक्ष्य के प्रकाश में औचित्य प्रश्न उठाने वाले सदस्यों द्वारा कहे गये तथ्यात्मक कथनों पर विचार करता हूं।

मैं संक्षेप में यह बताऊंगा कि पुरःस्थापित विधेयक को कैसे तैयार किया गया। जैसा कि उद्देश्यों और कारणों के कथन में कहा गया है कि केंद्रीय सरकार ने हिंदू विधि की यथासंभव पूर्ण संहिता तैयार करने के प्रयोजनार्थ अपने 20 जनवरी, 1944 के संकल्प द्वारा एक हिंदू विधि समिति नियुक्त की। यह सभी प्रांतों तथा हिंदू समाज के सभी वर्गों के लिये हिंदू विधि में भिन्न विषयों के संबंध में एक समेकित और समान संहिता के पक्ष में बढ़ती हुई सार्वजनिक राय के अनुसरण में किया गया था। यह महसूस किया गया कि हिंदू समाज में व्याप्त वर्तमान दशाओं और प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए इस विधि में परिवर्तन करने की बहुत आवश्यकता है जिससे इसे उस नये ढांचे के लिए उपयुक्त बनाया जा सके जिसे हिंदू समाज तेजी से अपनाना चाहता है।

जब 9 अप्रैल, 1948 को विधेयक प्रवर समिति को निर्दिष्ट करने का प्रस्ताव स्वीकार किया गया, तब माननीय सदस्यों के पास विधेयक के सार, रूप और प्रारूप

पर अपने विचार व्यक्त करने का समय नहीं था। विधि मंत्रालय ने यह महसूस करते हुए कि हिंदू विधि समिति द्वारा तैयार किया गया विधेयक एक संहिता के सिद्धांतों के अनुरूप नहीं है, विधेयक के प्रारूप को पुनरीक्षित करने और खामियों को दूर करने का विनिश्चिय किया जिससे कोई संहिता के उपबंधों की पूरी तस्वीर देख सके। अतः उन्होंने मूल विधेयक के भागों और प्रभागों का क्रमिक धाराओं और युक्तिसंगत क्रम में पुनः विन्याम करने का कार्य आरंभ किया और उन्होंने प्रवर समिति के विचारार्थ कुछ और सुझाव दिये जो वे उचित समझते थे। विधि मंत्रालय ने प्रवर समिति के समक्ष एक उपयुक्त रूप रखा जिसे प्रवर समिति द्वारा स्वयं अपनी बैठकों में रूपित किया जा सकता था या वे प्रारूपकारों को ऐसा परिवर्तन करने के लिये निर्देश दे सकते थे।

यह ध्यान में रखा जाये कि संहिता का एक पुनरीक्षित रूप में परिचालन करते हुए विधि मंत्रालय ने प्रवर समिति के सदस्यों को संदर्भ की सुविधा के लिये एक निर्देशिका भेजी जिसमें हिंदू विधि समिति द्वारा तैयार किये गये मूल विधेयक की धारा का पुनरीक्षित संहिता में तदनुरूपी धारा का स्थान बताया गया था। मूल विधेयक में यथा अंतर्विष्ट संहिता के उपबंध हर समय और हर चरण पर प्रवर समिति के सदस्यों के समक्ष रहे। विधि मंत्रालय ने प्रवर समिति के सदस्यों का ध्यान मंत्रालय द्वारा पुनरीक्षित प्रारूप की ओर भी दिलाया। अतः यह स्पष्ट था कि प्रवर समितिद्वारा विचार-विमर्श के सभी चरणों पर विधेयक के दोनों पुनरीक्षित और मूल उपबंध उनके समक्ष रहे और विचार-विमर्श के दौरान मूल और विधि मंत्रालय द्वारा सुझाए गये पुनरीक्षित उपबंधों का तुलनात्मक अध्ययन होता रहा।

मुझे उक्त तथ्यों के साक्ष्य के प्रश्न पर यह कहना है कि औचित्य के प्रश्न के संदर्भ में प्रवर समिति का केवल एक ही सदस्य बोला है और वह हैं पंडित बाल-कृष्ण शर्मा। उन्होंने सभा में कहा : "जिस विधेयक पर सभा ने हमें विचार करने के लिये कहा था वह सदा हमारे सामने रहा"। अभिलेख में साक्ष्य, जिसमें मुख्य प्रति-वेदन तथा विमति-पत्र शामिल है, इस कथन का अच्छी तरह से समर्थन करता है। प्रवर समिति के प्रतिवेदन के परिच्छेदों या विमति-पत्रों पर निर्भर करते हुए जिन माननीय सदस्यों ने आपत्ति की है उन्होंने कतिपय परिच्छेदों को संदर्भ से परे होकर देखा है। मुख्य प्रतिवेदन में यही कहा गया है :

"हम अधोहस्ताक्षरी विधेयक—न कि पुनरीक्षित प्रारूप—पर विचार किये जाने के पश्चात् आदरपूर्ण यह निवेदन करते हैं, आदि।"

इस तरह से वे प्रतिवेदन को आरंभ करते हैं। वे कहते हैं कि विधेयक पर

विचार हुआ है न कि पुनरीक्षित प्रारूप पर। और आगे वे यह कहते हैं :

"विधानमंडल में यथापुरःस्थापित हिंदू संहिता की इसके पुरःस्थापन से पहले कोई विभागीय जांच नहीं की गयी थी और विधि मंत्रालय ने अब एक पुनरीक्षित प्रारूप प्रस्तुत किया है जो हमारी राय में अनेक प्रकार से अधिक संतोषजनक है। इस पुनरीक्षित प्रारूप द्वारा मूल विधेयक में कोई सारवान परिवर्तन नहीं किये गये हैं अपितु मूल विधेयक के ढांचे के भीतर रहते हुए इसे नया रूप दिया गया है जिससे उसे उस रूप में लाया जा सके जिसमें विधेयक विधानमंडलों में प्रायः प्रस्तुत किये जाते हैं।"

अतः यह स्पष्ट है कि समिति ने मूल विधेयक पर विचार किया था और इस निष्कर्ष पर पहुंची थी कि विधेयक के सार का नहीं अपितु केवल उसके रूप को पुनरीक्षित किया गया था।

उन्होंने मूल विधेयक की तुलना में पुनरीक्षित प्रारूप को क्यों अधिक अच्छा समझा उसके कारणों का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं :

"परिणामतः हमने अपने विचार-विमर्श को विधेयक के पुनरीक्षित प्रारूप तक ही सीमित रखने का विनिश्चय किया।"

शब्द 'परिणामतः' महत्वपूर्ण है। मूल विधेयक के सारवान् उपबंधों और पुनरीक्षित प्रारूप को देख लेने पर यह स्वाभाविक और अधिक उचित ही था कि पुनरीक्षित प्रारूप पर विचार किया जाये, जो अधिक अच्छे रूप में मूल विधेयक के सार के अतिरिक्त कुछ नहीं है। प्रवर समिति आगे कहती है :

"प्रत्येक धारा के उपांत में निर्देशनार्थ मूल विधेयक में तदनुरूपी धारा बतायी गयी है।"

यह एक और निश्चायक प्रमाण है कि यद्यपि अपने निष्कर्षों को अंतिम रूप देने के लिए उनका विचार-विमर्श पुनरीक्षित प्रारूप तक ही सीमित रहा, तथापि मूल विधेयक का हर एक खंड भी उनके समक्ष रहा। यह खंडों पर टिप्पणों में और अधिक स्पष्ट कर दिया गया है जिनमें विधेयक के विभिन्न भागों और खंडों पर चर्चा की गयी है और मूल विधेयक के भाग या खंड पदनुरूपी प्रत्येक भाग अथवा खंड के संदर्भ में बताया गया है।

डॉ० बक्शी टेक चन्द और पंडित बालकृष्ण शर्मा के संयुक्त विमति-पत्र में एक स्थान पर सरसरी तौर पर कहा गया है कि प्रवर समिति ने पुनरीक्षित प्रारूप पर विचार किया था न कि मूल विधेयक पर। इसका निर्वचन जो कुछ ऊपर कहा गया है उसके प्रकाश में किया जायेगा। उन्होंने जहां पर पुनरीक्षित प्रारूप पर

विचार किये जाने का उल्लेख किया है उनका कहना यह है कि पुनरीक्षित प्रारूप में सुझाए गये परिवर्तन केवल रूप से नहीं अपितु सारवान् मामलों से संबंधित हैं। यह स्मरण रहे कि उन्होंने अपने विस्तृत एवं योग्य विमति-पत्र में ऐसी कोई बात नहीं कही कि प्रवर समिति ने मूल विधेयक पर विचार नहीं किया है। क्या पुनरीक्षित प्रारूप में सुझाए गये परिवर्तन अच्छे है अथवा नहीं, यह एक ऐसी बात है जो उन्होंने अपने विमति-पत्र में कही है।

अतः अभिलेखों से प्रकट किये गये तथ्यों के आधार पर मुझे यह स्पष्ट है कि प्रवर समिति ने उसको निर्दिष्ट विधेयक के सारवान् उपबंधों पर उचित रूप से विचार किया और माननीय विधि मंत्री का वर्तमान प्रस्ताव सक्षम और ठीक है।

[कांस्टीट्यून्ट एसेम्बली (लैजिस्लेटिव) डिबेट्स
31 अगस्त, 1948, पृष्ठ 778-80 और
17 फरवरी, 1949, पृष्ठ 614-621]

4.2 सभा की विशेष समिति एवं विशेषाधिकार समिति :

(क) सभा विशेष समितियों का गठन कर सकती है, यदि कोई विशेष परिस्थितियां हों और जांच की जानी हो।

(ख) विशेषाधिकार समिति : कार्यक्षेत्र।

"बंबई बुलियन एसोसिएशन के साथ कतिपय लेन-देन के संबंध में श्री एच० जी० मुदगल, संसद सदस्य के आचरण और कार्यकलापों की जांच करने के लिए" कुछ संसद सदस्यों की एक समिति नियुक्त करने के लिए 6 जून, 1951 को प्रधान मंत्री द्वारा एक प्रस्ताव पेश किये जाने पर श्री एच० वी० कामत ने पूछा कि किस विशेष नियम अथवा प्रक्रिया के अंतर्गत यह 'असामान्य' प्रस्ताव पेश किया जा रहा है और दूसरे क्या इस तदर्थ समिति के गठन से सभा की विशेषाधिकार समिति की 'अवहेलना' नहीं होगी। इसके उत्तर में अध्यक्ष ने कहा :

"जहां तक प्रस्ताव करने की सक्षमता का संबंध है, मैं यह मानता हूं कि इस सभा का कोई सदस्य ऐसा कोई प्रस्ताव पेश कर सकता है जिसे वह समझता है कि सभा को उसे स्वीकार करना चाहिए और अध्यक्ष स्वविवेक से उस प्रस्ताव को पेश करने की अनुमति देगा···।

जहां तक दूसरी बात का संबंध है, नियमों के अंतर्गत एक विशेषाधिकार समिति का गठन किया गया है। फिर भी सभा अन्य विशेष समितियों का

गठन कर सकती है, यदि कोई विशेष परिस्थितियां हों और पूछताछ की जानी हों। इसमें कोई असंगति नहीं है। मैं यह भी कहना चाहूंगा कि मुख्य रूप से इस बात पर विचार किया जाना है कि क्या ऐसा कोई आचरण, जैसा कि कहा गया है, वास्तव में एक रूप से सभा के विशेषाधिकार का उल्लंघन है अथवा कुछ और है। एक सदस्य एक ऐसे ढंग से व्यवहार कर सकता है जिस ढंग से व्यवहार करने की सभा उससे अपेक्षा नहीं करती और फिर भी यह तर्क दिया जा सकता है कि यह विशेषाधिकार का उल्लंघन नहीं है। ऐसी सभी परिस्थितियों में हाउस ऑफ कामन्स में एक विशेष समिति का गठन कर दिया जाता है और इसके लिए जो प्रक्रिया अपनायी जाती है, वह यह है कि इस आशय का एक प्रस्ताव पेश किया जाता है जो सामान्यतया हाउस ऑफ कामन्स में स्वीकार कर लिया जाता है यद्यपि वहां पर एक विशेषाधिकार समिति है।"

जब 8 जून, 1951 को पुनः यह मामला उठाया गया, तो अध्यक्ष ने कहा :

> "इस समय जैसा कि माननीय प्रधान मंत्री ने स्पष्ट किया, हमारा संबंध प्रायः एक सदस्य के तथाकथित अनुचित आचरण से है जो सभा की गरिमा के अनुरूप नहीं है और उस स्तर का नहीं है जिसकी उससे अपेक्षा की जाती है। इसका केवल इससे ही संबंध है। किंतु यदि बाद में समिति द्वारा की गयी जांच और लिए गये साक्ष्य के परिणामस्वरूप यह पाया जाता है कि बुलियन एसोसिएशन के अध्यक्ष के बयान वास्तव में दिये गये और वे वास्तव में गलत थे, तो जहां तक सर्राफा बाजार के अध्यक्ष का संबंध है, इस सभा के विशेषाधिकार के उल्लंघन का निश्चित रूप से प्रथम दृष्ट्या मामला बनेगा, जहां तक कि अध्यक्ष ने इस सभा के एक माननीय सदस्य के विरुद्ध निराधार आरोप लगाये हैं। इसलिए विशेषाधिकार समिति को अलग रखना बेहतर है। इस समय इसे जांच से संबद्ध नहीं किया जाना चाहिए और बाद में उठ सकने वाले किसी मसले के संदर्भ में इस समय इसके मन में कोई पूर्वधारणा पैदा नहीं की जानी चाहिए।
>
> जहां तक दूसरी बात का संबंध है, यह समिति अध्यक्ष के निर्देशों के अंतर्गत ही काम करेगी। अतः मैं नहीं समझता कि इस मामले की जांच करने के लिये इस समिति के गठन से अध्यक्ष महोदय की प्रतिष्ठा पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और हमें विशेषाधिकार समिति के प्रश्न पर विचार नहीं करना चाहिए। एक बात और भी है कि यह समिति, यद्यपि इसके गठन का प्रस्ताव सभा के नेता द्वारा पेश किया

गया है, प्रस्ताव स्वीकृत होने पर, अध्यक्ष के निर्देश के अंतर्गत, सभा द्वारा गठित समिति मानी जायेगी। माननीय सदस्य इस बात से सहमत होंगे कि यद्यपि अध्यक्ष सभा की गरिमा का प्रतीक होता है, सभा के निर्णय अध्यक्ष अथवा सभा के किसी अन्य प्राधिकारी के निर्णयों से उच्चतर स्तर के होते हैं।"

[**पार्लियामेंटरी डिबेट्स, पार्ट 2,**
6 और 8 जून, 1951, कालम 10264-65 और 10461]

4.3 विशेषाधिकार समिति का कार्यकरण : किसी दल में रुचि न रखने वाली अपितु सभा की गरिमा और विशेषाधिकारों से संबंधित समिति :

(**एक**) 23 जून, 1952 को जब एक सदस्य, डॉ० सत्यनारायण सिन्हा, द्वारा सभा पटल पर रखे गये कुछ पत्रों संबंधी विशेषाधिकार का प्रश्न सभा की विशेषाधिकार समिति को सौंपा गया, तो विशेषाधिकार समिति के कार्यकरण के बारे में अध्यक्ष ने निम्नलिखित टिप्पणी की :

"जैसा कि मैंने एक बार कहा था, यहां मैं पुनः सभा को याद दिलाना चाहता हूं कि यह दलीय प्रश्न बिल्कुल नहीं है और न ही यह पूरी तरह से एक वैयक्तिक प्रश्न है। सदस्य वहां किसी लेबल अथवा पूर्वधारणा के बिना इस सभा के सदस्य के रूप में बैठते हैं और उनके मन में केवल इस सभा और इसके सदस्यों की गरिमा और प्रतिष्ठा की बात होती है। इस समय जो सत्ता में हैं, कल या कुछ समय बाद वे विपक्ष में हो सकते हैं और विपक्ष सत्ता में हो सकता है। अतः हमारा मुख्य उद्देश्य ऐसे उदाहरण स्थापित करना है जो किसी दल या व्यक्तिगत बातों का ध्यान रखे बिना सदा के लिए हमारा मार्ग-दर्शन कर सकें और मुझे विश्वास है कि विशेषाधिकार समिति सदैव इस रूप में कार्य करेगी।

फिर भी यदि कोई प्रश्न उठता है, तो जहां तक माननीय सदस्य द्वारा उठाये गये प्रश्न का संबंध है, विशेषाधिकार समिति उसे अध्यक्ष के पास भेज सकती है। यह समिति अध्यक्ष के निर्देशों के अंतर्गत काम करती है। इससे यह अभिप्रेत नहीं है कि अध्यक्ष समिति के दैनिक कार्य या विचार-विमर्श में हस्तक्षेप करता है। विशेषाधिकार समिति जब निर्णय के लिये कोई बात अध्यक्ष के पास भेजती है, तभी उस बात पर अध्यक्ष द्वारा निर्णय लिया जाता है।"

[**हाउस ऑफ दी पीपल डिबेट्स, पार्ट 2,**
23 जून, 1952, कालम 2336]

(दो) पहले 30 मई, 1952 को विशेषाधिकार समिति के निर्दलीय स्वरूप पर बल देते हुए अध्यक्ष ने कहा :

"सभा की विशेषाधिकार समिति किसी दल में दिलचस्पी नहीं रखती है। इस समिति का कार्य सदस्यों की राजनीतिक विचारधारा का ध्यान रखे बिना सभी सदस्यों के अधिकारों की रक्षा करना है। विशेषाधिकार समिति दलीय प्रणाली के आधार पर काम नहीं करती जैसा कि सभा में होता है। किसी भी दल के सदस्य का मामला हो, विशेषाधिकार समिति उसके दल का ध्यान रखे बिना इस सभा के प्रत्येक सदस्य की प्रतिष्ठा और विशेषाधिकारों का ध्यान रखती है और समूची सभा की प्रतिष्ठा का ध्यान रखती है। समिति अपना प्रतिवेदन तैयार करने में कुछ समय लेगी लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। ऐसे प्रश्न एक बार सदा के लिये तय हो जाने चाहिएं। मैं विपक्ष के सदस्यों से अनुरोध करता हूं कि उन्हें विशेषाधिकार के प्रश्नों को बिल्कुल भी दलीय प्रश्न नहीं समझना चाहिए।"

[**हाउस ऑफ दी पीपल डिबेट्स, पार्ट 2,**
30 मई, 1952, कालम 861-62]

4.4 कार्य मंत्रणा समिति :

1. समिति का प्रतिवेदन सभा में प्रस्तुत किये जाने के पश्चात् सदस्यों को परिचालित करने संबंधी निर्णय।
2. समिति के प्रतिवेदन को स्वीकार करने संबंधी प्रस्ताव में संशोधनों की गुंजाइश।
3. यह परिपाटी बनाने की आवश्यकता कि सरकारी कार्य की विभिन्न मदों के लिए समय के आबंटन के बारे में समिति की सिफारिशें बिना किसी रूपभेद के सभा द्वारा स्वीकार की जायें।

26 जुलाई, 1955 को लोक सभा के दसवें सत्र के लिए विधायी तथा अन्य कार्य की विभिन्न मदों के लिए समय के आबंटन के बारे में कार्य मंत्रणा समिति की सिफारिशों की उपाध्यक्ष (जो पीठासीन थे) द्वारा घोषणा किये जाने के पश्चात् संसदीय कार्य मंत्री (श्री सत्यनारायण सिन्हा) ने समिति द्वारा की गयी सिफारिशों को स्वीकार करने का प्रस्ताव पेश किया। तत्पश्चात् कुछ सदस्यों ने इच्छा व्यक्त की कि पहले कार्य मंत्रणा समिति का प्रतिवेदन परिचालित किया जाये और तत्पश्चात स्वीकृत करने से पूर्व उस पर चर्चा की जाये। इसके बाद प्रस्ताव पर आगे विचार 28 जुलाई, 1955 तक स्थगित कर दिया गया।

तत्पश्चात् प्रतिवेदन की प्रतियां सदस्यों को परिचालित की गयीं और दो संशोधनों की सूचनाएं प्राप्त हुईं – एक श्री एच० वी० कामत से और दूसरी श्री फूलसिंहजी बी० दाभी से। इन संशोधनों में कुछ विधेयकों के संबंध में अधिक समय के आबंटन का सुझाव दिया गया था।

निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार प्रस्ताव पर आगे विचार 28 जुलाई, 1955 को आरंभ हुआ। प्रस्ताव पेश करते हुए अध्यक्ष ने कार्य मंत्रणा समिति के उद्देश्यों, कृत्यों और कार्य-प्रणाली के बारे में निम्नलिखित जानकारी दी :

"मैं समझता हूं कि या तो कुछ गलतफहमी है या तथ्यों को ठीक तरह नहीं समझा गया है। सभा को यह विदित है कि इसे कुछ कार्य निपटाना होता है और इसलिए समस्त कार्य तथा अलग-अलग विधान कार्यों तथा प्रस्तावों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए इस बात पर विचार करना आवश्यक हो जाता है कि विभिन्न विषयों के लिए कितना समय आबंटित करना उपयुक्त होगा। इस प्रयोजनार्थ एक कार्य मंत्रणा समिति का गठन किया गया था। इस समिति में सभा के सभी वर्गों के प्रतिनिधि सम्मिलित हैं। समिति बहुमत के आधार पर कार्य नहीं करती। विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करनेवाले समिति के सदस्य तथा विशिष्ट व्यक्ति एक साथ बैठकर सभा के समूचे कार्य को ध्यान में रखते हुए कार्य की विभिन्न मदों के महत्व पर विचार करते हैं और तत्पश्चात् यह निश्चय करते हैं कि कितने समय की जरूरत होगी और इस प्रकार किसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं जो अक्सर किसी समझौते के आधार पर निकाला जाता है। इसमें प्रयास यह रहता है कि विभिन्न मदों के लिए अधिक समय दिया जाये, न कि समय कम किया जाये। इस प्रकार के सभी निष्कर्ष सर्वसम्मत होते हैं। अब तक यही प्रथा रही है। समय के आबंटन के मामले में सर्वसम्मत निर्णय लेने का हर संभव प्रयास किया जाता है, क्योंकि समिति की यह इच्छा रहती है कि भाषण देने या संशोधन पेश करने अथवा किसी विशेष विषय पर अपनी बात कहने के सदस्यों के वैध अधिकार को कम न किया जाये और उन्हें उपयुक्त समय दिया जाये। तत्पश्चात प्रस्ताव सभा के समक्ष आता है। निस्संदेह एक नियम भी है—नियम 37—जो प्रस्ताव में संशोधन पेश करने के प्रत्येक सदस्य के स्वाभाविक अधिकार को मान्यता प्रदान करता है। कोई भी इस बात से इन्कार नहीं करता कि एक सदस्य को किसी प्रस्ताव में संशोधन पेश करने का अधिकार है, किंतु यह मानना होगा कि व्यवहार में उस अधिकार पर कुछ प्रतिबंध लगाने की आवश्यकता है यदि कार्य को निष्पादित करना है और यदि संसद को सुचारु रूप से चलाना है। अतः ऐसे प्रस्तावों को सदैव—कम-से-कम अब तक—औपचारिक प्रस्ताव

माना गया है, क्योंकि सभा के सभी वर्गों के प्रतिनिधि समिति में होते हैं और समिति सभी पहलुओं पर विचार करने के पश्चात कोई निर्णय लेती है। तथापि मैं यह नहीं कहता कि सदस्यों को कोई संशोधन पेश करने का अधिकार नहीं है; वे अपनी इच्छानुसार संशोधन पेश कर सकते हैं और इस संभाव्यता पर विचार करते हुए एक नियम भी बनाया गया था कि नियम 377 के अधीन चर्चा आधे घंटे से अधिक नहीं होनी चाहिए और कोई भाषण पांच मिनट से अधिक नहीं होना चाहिए। इस मामले में श्री कामत तथा उनके पश्चात एक अन्य सदस्य द्वारा जो संशोधन पेश किये जाने का प्रस्ताव है उनमें समय बढ़ाने की बात कही गयी है।

मैं केवल व्यावहारिक कठिनाइयों का उल्लेख कर रहा हूं। माननीय सदस्य को कोई भी प्रश्न उठाने का पूरा अधिकार है और संशोधन पेश करने का उसे कानूनी अधिकार है। मैं इसे दोहरा रहा हूं ताकि वह यह न समझे कि संशोधन का प्रस्ताव करने के सदस्य के अधिकार में कोई कटौती की जा रही है। इस मामले में व्यावहारिक होने की आवश्यकता है। समय के आवंटन में यथासंभव समूचे कार्य तथा उनके पारस्परिक महत्व को ध्यान में रखना होता है। इस मामले में समिति ने समय का आबंटन कर दिया है। माननीय सदस्य चाहता है कि समय बढ़ाया जाये। समय बढ़ाया जाय या नहीं, यह अब सभा के हाथ में है, किंतु मैं यह पृष्ठभूमि बताने का प्रयास कर रहा हूं कि समिति कैसे बनायी गयी, क्यों बनायी गयी और इसका उद्देश्य क्या है।

सभा से मेरा अंतिम प्रस्ताव, जो कम महत्वपूर्ण नहीं है, वह यह है कि हमारी यह पहली संसद है और इसलिए हम कुछ ऐसी प्रथाएं बनाने जा रहे हैं जिनका हम निरंतर पालन करेंगे। निस्संदेह हम भूल कर सकते हैं और यदि हम भूल करते हैं, तो हम सुधार करेंगे और हम परिवर्तन भी करेंगे। किंतु कुछ प्रथाएं बनायी जानी चाहिएं। एक प्रथा बनाने से हमें सुविधा होगी जैसाकि विनियोग विधेयकों के मामले में होता है। हम यह मानते हैं कि विनियोग विधेयक पर भाषण देने का सदस्यों को अधिकार है। किंतु हमने यह परंपरा बना ली है, जो अब पक्की हो गयी है, कि कोई सदस्य खड़ा नहीं होता और एक विनियोग विधेयक दो मिनट या एक मिनट में पारित हो जाता है। इसी प्रकार, इस मामले में भी मैं चाहूंगा कि सभी माननीय सदस्य इन सभी बातों का ध्यान रखें। एक और पहलू भी है जिसका मैं उल्लेख करना चाहता हूं। यदि कोई कार्य आरंभ किया जाता है और सभा में यह महसूस किया जाता है कि अधिक समय की आवश्यकता है, तो सभा में सर्वसम्मति से समय बढ़ा दिया जाता है। टैरिफ संशोधन विधेयक के मामले में, जो पारित किया गया, हमारा दूसरा अनुभव रहा। समिति ने इस मद के लिए लगभग तीन घंटे का

समय रखा था और यह मद डेढ़ घंटे के अंदर निपटा दी गयी। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस समिति की क्या कार्य प्रणाली है। किसी की आवाज को दबाने की कोई बात नहीं है। बात यह है कि सभा का कार्य ठीक ढंग से संपन्न हो। मुझे याद है, पिछले सत्र में भी एक मामले में सर्वसम्मत निर्णय पर पहुंचने के उद्देश्य से 5 घंटे का समय स्वीकार किया गया था, किंतु विधेयक पर बहस दो घंटों में पूरी हो गयी और जो समय आवंटित किया गया था, उसका उपयोग नहीं किया गया। अतः हम ऐसी परिपाटी बनाना चाहते हैं जिससे सदस्य औपचारिक अथवा अनौपचारिक रूप से समवेत हों और एक कार्यक्रम तय करें और स्वेच्छा से अपने अधिकारों की कटौती करने के लिए सहमत हों, विशेष रूप से जबकि ऐसा करना आवश्यक हो। यही पृष्ठभूमि है।"

अपना संशोधन पेश करते हुए श्री कामत ने कहा कि समूचे विधान कार्य के लिए निर्धारित समय संबंधी कार्य मंत्रणा समिति का हर प्रस्ताव चर्चा के लिए तथा परिवर्तन के साथ एवं परिवर्तन के बिना अनुमोदन के लिए सभा के समक्ष रखा जाना चाहिए। चूंकि किसी विधेयक के लिए निर्धारित समय सभा की सहमति से बढ़ाया जा सकता है, मैं यह सुझाव दूंगा कि कम-से-कम दो विधेयकों के लिए कार्य मंत्रणा समिति द्वारा प्रतिवेदन में आवंटित किये गये समय को सभा द्वारा बढ़ाया जाना चाहिए।

उन्होंने प्रसंगवश यह भी कहा कि 15 से 20 मिनट भाषण देने की जो समय सीमा निर्धारित की गयी है, उससे वाद-विवाद में सदस्यों के सक्रिय योगदान में बाधा पड़ती है।

उपाध्यक्ष ने कहा कि संशोधन के द्वारा श्री कामत नियमों पर आपत्ति नहीं कर सकते। भाषणों पर समय-सीमा भाषण की आजादी कम करने के इरादे से नहीं, अपितु पुनरावृत्ति या असंगति को रोकने के इरादे से लगायी गयी है। समय-सीमा के बावजूद सदस्यों को बोलने के लिए अधिक समय दिया जाता है और अभा तक इस संबंध में कोई शिकायत नहीं मिली है। पीठासीन अधिकारी की हमेशा यह आकांक्षा रही है कि वाद-विवाद में सभा के सभी वर्गों को अभिव्यक्ति का यथा-संभव पूरा अवसर मिले और ऐसा कभी कोई अवसर नहीं आया जबकि सदस्यों को शीघ्र अपना भाषण पूरा करने के लिए कहा गया हो।

कार्य मंत्रणा समिति में सभी दलों के प्रतिनिधि हैं और समिति की विचाराधीन बैठक में, जिसकी उन्होंने अध्यक्षता की, उन्होंने समिति के सदस्यों से आग्रह किया कि उनके लिए समिति की सिफारिशों का पालन या समर्थन करना अनिवार्य

है । अंत में उन्होंने जोर देकर कहा कि सभा को बिना किसी परिवर्तन के समिति की सिफारिशों को स्वीकार करना चाहिए ।

श्री अशोक मेहता ने अध्यक्ष के बयान की पूर्णतया पुष्टि करते हुए सभा की कार्यचालन संबंधी प्रथाएं श्री कामत को स्पष्ट न करने के लिए उनसे क्षमा-याचना की । समिति में दो सदस्य होते हैं, वे अपने-अपने दलों तथा वर्गों का विचार न कि अपने विचार समिति के समक्ष रखने के लिए होते हैं । अतः उन्होंने श्री कामत से अपना संशोधन वापस लेने की अपील की ।

श्री ए० के० गोपालन ने कहा कि सभा के सदस्यों को कार्य मंत्रणा समिति के निर्णय का आदर करना चाहिए । यदि इसकी सिफारिशों में सभा द्वारा संशोधन किया गया, तो इस समिति की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी । उन्होंने बताया कि विभिन्न दलों अथवा वर्गों के समिति में जो प्रतिनिधि हैं, उनमें समय के आबंटन के संबंध में मतभेद हैं । किंतु हमेशा प्रयास यह रहा है कि आपसी समायोजन द्वारा सर्वसम्मत निर्णयों पर पहुंचा जाये । अतः इन्होंने अनुरोध किया कि एक परिपाटी के तौर पर समिति की सिफारिशों को सभा द्वारा पूर्णतया स्वीकार किया जाये ।

पंडित ठाकुर दास भार्गव ने भी अपने विचार व्यक्त किये जिसमें उन्होंने पूर्ववर्ती वक्ताओं के विचारों की पुष्टि की और श्री कामत से अपना संशोधन वापस लेने के लिए कहा ।

वाद-विवाद को समाप्त करते हुए अध्यक्ष ने कहा :

"मैं पहले ही बता चुका हूं कि प्रत्येक सदस्य को कार्य मंत्रणा समिति की सिफारिशों पर टिप्पणी करने का अधिकार है, किंतु इस अधिकार का प्रयोग करने के कुछ तरीके हैं । मेरा एक सुझाव है : यदि कोई सदस्य कार्य मंत्रणा समिति द्वारा समय के आबंटन पर असंतुष्ट महसूस करता है तो मेरे विचार में बेहतर यह होगा कि प्रस्ताव का संशोधन पेश न किया जाये अपितु सदस्य द्वारा अपने दल के नेता, जो कार्य मंत्रणा समिति में था, के समक्ष मामला रखा जाये । तब वह सदस्य को बता सकेगा कि एक निश्चित समय क्यों निर्धारित किया गया है और इस मामले पर कभी भी चर्चा की जा सकती है । अतः मैंने परामर्श देते हुए कहा कि इस सभा में भी जब कुछ समय निर्धारित किया जाता है और यह महसूस किया जाता है कि कुछ और समय की आवश्यकता है, तो इस प्रस्ताव की स्वीकृति का परिणाम यह होता है कि यह सभा का आबंटन क्रम बन जाता है और सभा की राय लेना आवश्यक हो जाता है । सभा समय-समय पर उत्पन्न होनेवाली स्थिति के बारे में अपने विचार बदल सकती है और यही उचित उपचार है, न कि संशोधन पेश करना । इस बात

का पूरा ध्यान रखा जाता है कि एक विशेष विषय में जिन सदस्यों की रुचि हो उनको विशेष रूप से आमंत्रित किया जाय और यदि कोई सदस्य कहता है कि एक विशेष विधेयक या विशेष विषय में उसकी दिलचस्पी है, तो बैठक के समय उपस्थित रहने के लिए उसे आमंत्रित करने के प्रश्न पर कार्य मंत्रणा समिति द्वारा विचार किया जायेगा। माननीय सदस्य (श्री कामत) यह स्वीकार करेंगे कि जब हम समितियों में समवेत होते हैं, तो हम दलों का प्रतिनिधित्व नहीं करते, हम एक पूरी सभा के रूप में काम करते हैं और हम वही करते हैं जो हम पूरी सभा के हित में समझते हैं। एक सदस्य के अधिकार पर अत्यधिक बल देने से समय की नितांत बरबादी हो सकती है। तत्पश्चात श्री कामत ने सभा की अनुमति से अपना संशोधन वापस ले लिया।

[**लोक सभा डिबेट्स, पार्ट 2,**
26 और 28 जुलाई, 1955, कालम 8423-27 और 8695-713]

5. **विशेषाधिकार**

5.1 संसद सदस्यों के विशेषाधिकार के मामले उठाने की प्रक्रिया : क्या किसी सदस्य के चर्चा स्थगन के अनुरोध की अवहेलना विशेषाधिकार भंग का मामला है :

20 दिसंबर, 1949 को एक सदस्य ने संसद सदस्यों के विशेषाधिकार के मामले उठाने के लिए अध्यक्ष की अनुमति मांगी। उन मामलों को उसने पहले अध्यक्ष के कक्ष में पेश नहीं किया था।

अध्यक्ष ने कहा :

"विशेषाधिकार के मामले उठाने के बारे में मैं कई बार इस सभा के सदस्यों को बता चुका हूं कि यदि कोई सदस्य कोई मामला उठाना चाहता है या कोई सुझाव देना चाहता है, तो उसे पहले मुझे मेरे कक्ष में मिलना चाहिए ताकि मुझे उठाये जाने वाले मामले के विषय का पता लग जाये। इससे सभा का समय बचेगा···।"

जब सदस्य ने इस बात पर बल दिया कि मामले पर तत्काल विचार करने की जरूरत है, तो अध्यक्ष ने सदस्य को तब उनके कक्ष में मिलने की अनुमति दी जब

वह अध्यक्ष पीठ के कार्य से निवृत हो जाएं और कहा कि भोजनकाल के बाद वह अपना मामला उठा सकते हैं।

मामला पेश करते हुए सदस्य ने कहा :

(क) 'मे' में यथा-निर्धारित हाउस ऑफ कामन्स की प्रथानुसार, सभा के सदस्यों को यह कहना कि अपने विशेषाधिकार के मामलों को सभा में उठाने से पूर्व वे उन्हें अध्यक्ष कक्ष में पेश करें, उनके अधिकारों और विशेषाधिकारों का अतिक्रमण है;

(ख) अध्यक्षपीठ से उपाध्यक्ष ने जो यह वचन दिया था कि उन्हें आगामी सोमवार को मध्याह्न भोजन के बाद अपना मामला उठाने का अवसर दिया जायेगा, उसका पालन नहीं हुआ है क्योंकि जब सोमवार के पूर्वाह्न को सदस्य सभा में आये तो उन्हें पता चला कि स्थगन प्रस्ताव स्वीकृत हो चुका था।

अध्यक्ष ने कहा :

> "पहली बात तो यह है कि सदस्य के विचार से सदस्यों के अधिकारों और विशेषाधिकारों का तब गंभीर अतिक्रमण होता है जब उन्हें अध्यक्षपीठ को पूर्व सूचना दिये बिना या अध्यक्षपीठ से पूर्व परामर्श किये बिना मामलों को सभा में उठाने की अनुमति नहीं दी जाती। पर मैं इस विचार से सहमत नहीं हूं क्योंकि मामले स्पष्टीकरण या समाधान हेतु उठाये जाते हैं। जब तक अध्यक्ष को यह पता न हो कि जो मामला सभा में उठाया जायेगा उसका कितना महत्व है, तब तक मैं नहीं समझता कि उस मामले को सभा में उठाने से संबद्ध विषय का तुरंत स्पष्टीकरण या समाधान हो सकता है···
>
> "दूसरा भाग, उनके अनुसार, उन्हें अपनी बात कहने के अवसर से वंचित करने से संबद्ध है···
>
> "इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस तरह से कार्यवाही चलने का अनुमान था उसे देखते हुए माननीय सदस्य को कहा गया था कि उन्हें अपनी बात कहने का मौका दिया जाएगा। यदि चर्चा कल दिन के एक बजे तक चलती, तो उपाध्यक्ष ने माननीय सदस्य को अपनी बात कहने का मौका देने का जो वचन दिया था उसे पूरा करने में किसी को आपत्ति नहीं होती। किंतु यह आशा करना ठीक नही होगा कि स्थगन प्रस्ताव पेश होने के बाद मामले को केवल उस एक सदस्य के लिए लंबित रखा जाय जो सभा में उपस्थित नहीं था। इस मामले में मेरा यही मत है। मेरे विचार में यह कतई भी विशेषाधिकार का मामला नहीं है। यह एक उस सुविधा का मामला है जिसे दिये जाने की आशा थी किंतु जो

बाद में उत्पन्न होनेवाली परिस्थितियों के कारण नहीं दी जा सकी। इसके साथ ही बात समाप्त हो जाती है और माननीय सदस्य को अपने दिमाग में यह बात निकाल देनी चाहिए कि यदि इस प्रकार की बातें होती रहीं, तो सदस्यों के अधिकारों और विशेषाधिकारों का कोई महत्व नहीं रहेगा···।"

[**कांस्टीट्यून्ट असेम्बली (लैजिस्लेटिव) डिबेट्स, पार्ट 2,** 20 दिसंबर, 1949, पृष्ठ 829 और 847-49]

6. प्रश्न

6.1 किन्हीं अधिकारियों के गुणावगुणों के बारे में प्रश्न : तब तक ग्राह्य नहीं जब तक उनके कार्यों में लोकहित अंतर्ग्रस्त न हो :

8 दिसंबर, 1950 को कलकता की केंद्रीय औषध प्रयोगशाला के निदेशक से संबंधित प्रश्न पर अध्यक्ष ने श्री कामथ को अनुपूरक प्रश्न पूछने की अनुमति नहीं दी और यह टिप्पणी की :

"किसी अधिकारी विशेष के गुण-दोषों पर इस प्रकार चर्चा करना लोक हित में नहीं है। वह अधिकारी इस सभा में आकर जानकारी नहीं दे सकता। मैंने यह प्रश्न केवल इसलिए स्वीकार किया कि इसमें कोई सिद्धांत तो अंतर्ग्रस्त नहीं है। इसमें कोई सिद्धांत अंतर्ग्रस्त प्रतीत नहीं होते। इसलिए मैं इस पर और आगे अनुपूरक प्रश्न पूछने की अनुमति नहीं दूंगा।"

उसी दिन बाद में सभा में विधान कार्य आरंभ होने से पहले श्री कामथ ने अध्यक्षपीठ से इस बात पर विनिर्णय चाहा कि जब एक सरकारी अधिकारी लोक हित के विपरीत कोई काम करता है और वह कार्य लोकाचरण के विरुद्ध होता है, तो क्या उस मामले को सभा में उठाया जा सकता है और क्या संबद्ध मंत्री का यह दायित्व नहीं होता कि वह मामले की जांच कराये।

इस पर अध्यक्ष ने यह विनिर्णय दिया :

"उस अधिकारी विशेष के बारे में प्रश्न पूछने, उसकी वैयक्तिक योग्यताओं के बारे में पूछताछ करने, के पीछे शायद माननीय सदस्य का आशय यह था कि वह अधिकारी उस पद के योग्य नहीं है···उनके प्रश्नों का यही बिंदु था। वह उनकी डिग्रियों, उनके अनुभव, सबके बारे में पूछ रहे थे। इस पर मैंने कहा कि मैं इस प्रकार के व्यक्तिगत

प्रश्नों की अनुमति नहीं दूंगा, चाहे वे उस अधिकारी के समर्थन में हों या उसे बदनाम करने के विषय में। मैंने यह भी कहा कि मुझे उसमें सिद्धांत का कोई मामला नजर नहीं आता। यदि कोई ऐसा काम किया जाता है जो लोकाचरण के विरुद्ध है और उसमें सिद्धांत का प्रश्न अंतर्ग्रस्त हो, तो ऐसे मामले में प्रश्न स्वीकार किये जा सकते हैं, अन्यथा ऐसे प्रश्न, जो ऐसे किन्हीं अधिकारियों से संबद्ध हों जिनका आचरण किन्हीं सदस्यों को अच्छा लगता हो या अच्छा नहीं लगता हो, स्वीकार नहीं किये जा सकते।"

[**पार्लियामेंटरी डिबेट्स, पार्ट 1**,
8 दिसंबर, 1950, कालम 741 और पार्ट 2,
8 दिसंबर, 1950, कालम 1389-90]

6.2 प्रश्नों के उत्तर में दिये गये वक्तव्यों पर अनुपूरक प्रश्न :

12 मार्च, 1951 को डॉ० देशमुख ने वक्तव्यों पर अनुपूरक प्रश्न पूछने की अनुमति के बारे में व्यवस्था का एक प्रश्न उठाया। उनका कहना था कि महज इसलिए कि सदस्य ने प्रश्न के उत्तर में बयान देना ठीक समझा, बयान पर अनुपूरक प्रश्न पूछने की मनाही नहीं होनी चाहिए।

अध्यक्ष ने कहा कि सभा ने जो पहले विनिर्णय दिये थे उनके अंतर्गत इसकी अनुमति नहीं थी पर मैं अपना विनिर्णय बाद में किसी अन्य अवसर पर दूंगा।

15 मार्च, 1951 को अध्यक्ष ने पूर्व विनिर्णयों के समर्थन में अपनी दलीलें देते हुए यह वक्तव्य दिया :

"12 मार्च, 1951 को डॉ० देशमुख ने उस समय एक प्रश्न उठाया था जब अध्यक्षपीठ ने अनुपूरक प्रश्न पूछने की अनुमति नहीं दी थी। उन्होंने कहा : 'मैं समझ सकता हूं कि यदि कोई माननीय सदस्य या प्रधान मंत्री स्वतः ही कोई बयान देता है तब उस पर सदस्यों को अनुपूरक प्रश्न पूछने की अनुमति नहीं होगी।' फिर उन्होंने आग्रह किया कि जब सदस्यों के प्रश्नों के उत्तर में बयान दिये जाते हैं तो प्रश्न के प्रत्येक भाग के विशिष्ट उत्तर तथा समग्र प्रश्न के समेकित उत्तर के रूप में दिये गये बयान के बीच कोई भेद नहीं होना चाहिए।

उनकी दलील अनुपूरक प्रश्नों के प्रयोजन की गलत और अपूर्ण अवधारणा पर आधारित है। यह जानना आवश्यक है कि सदस्य का अनुपूरक प्रश्न पूछने का अधिकार निरपेक्ष नहीं है। एक सदस्य तभी प्रश्न पूछ सकता है जब अध्यक्ष उसका नाम पुकारे। वस्तुतः इस प्रक्रिया का हर रोज प्रश्न-काल में अनुसरण होता है। याद रखने की बात यह है कि अनुपूरक प्रश्न किसी ऐसी

बात का और स्पष्टीकरण करने के लिए पूछा जाता है जिसके बारे में उत्तर दिया गया है । इसका अर्थ है अनुपूरक प्रश्नों का संबंध उन विशिष्ट बातों से है जिनके बारे में प्रश्न पूछा गया है। जिन मामलों में किसी स्थिति या मामले में बयान देने का अनुरोध किया जाता है, उनमें बयान देने के लिए किये गये अनुरोध के अनुसरण में दिये गये बयान पर अनुपूरक प्रश्न नहीं हो सकते ।

पर, शायद यह तर्क कुछ तकनीकी प्रतीत होगा । तथापि इस प्रश्न का एक बहुत ही संगत और व्यावहारिक पहलू है । जिन मामलों में कुछ पृष्ठों का विस्तृत बयान दिया जाता है उनमें इतने अधिक प्रश्न हो सकते हैं कि प्रत्येक प्रश्नकर्ता को उत्तर देना और उसका समाधान करना संभव नहीं होगा । यह मानना होगा कि हरेक को तब तक अनेकों अनुपूरक प्रश्न पूछने की अनुमति नहीं दी जा सकती जब तक कि प्रश्न के मूल उत्तर को वाद-विवाद का विषय नहीं मान लिया जाता। यह स्पष्टतः शीघ्र कार्य-निष्पादन और विभिन्न सदस्यों को उचित और समान अवसर प्रदान करने के हित में नहीं होगा । फिर कई बार ऐसे बयानों में तथ्य अधिक नहीं होते । उनमें नीति, राय और कभी-कभी औचित्य के प्रश्न भी होते हैं । इस प्रकार के बयानों की विषय-वस्तु पर, यदि वह अधिक महत्वपूर्ण है, प्रश्नोत्तर में जानकारी हासिल करने की बजाय उचित समयावधि में वाद-विवाद करना अधिक उपयुक्त होगा ।

इसके अतिरिक्त, दी गयी जानकारी को अच्छे तरीके से समझ लेने के बाद ही अनुपूरक प्रश्न करने की अपेक्षा की जाती है । विस्तृत वक्तव्यों के मामलों में सभी सदस्यों से यह अपेक्षा करना बहुत उचित नहीं होगा कि जिस वक्तव्य को उनके समक्ष केवल पढ़ा गया है उसमें शामिल विभिन्न तथ्यों की सभी जटिलतायें उनकी समझ में आ गयी हैं ।

अतः यह आवश्यक है कि पहले उन्हें वक्तव्य की विषय-वस्तु को पढ़ने और उसकी जटिलताओं को अच्छी तरह समझने का अवसर मिले । उसके बाद वे यथा-समय ऐसे प्रश्न पूछ सकते हैं जो वे पूछना चाहें । यह बात याद रखी जाए कि अनुपूरक प्रश्न पूछने की अनुमति न देने का अभिप्राय किसी सदस्य को वक्तव्य पर प्रश्न पूछने के अवसर से वंचित करना नहीं है। अन्तर, और महत्वपूर्ण अन्तर, केवल इतना ही है कि प्रश्न वक्तव्य पढ़ने के तुरन्त बाद नहीं पूछे जाएंगे वरन कुछ समय बाद वक्तव्य को पूरी तरह पढ़ लेने के उपरान्त पूछे जाएंगे ।

अतः यह स्पष्ट है कि यह प्रश्न के उत्तर में मंत्री द्वारा पढ़े गये वक्तव्य की विषय-वस्तु, स्वरूप और विस्तार पर निर्भर है ।

एक पर्व अवसर पर 1947 में जब केन्द्रीय विधान सभा थी और मार्च 1948

में जब भारतीय संविधान सभा विधानमंडल के रूप में काम कर रही थी, उस समय भी यही प्रक्रिया अपनाई गयी और अनुपूरक प्रश्नों की अनुमति नहीं दी गयी। तब मैंने अपने विचार इस प्रकार अभिव्यक्त किये थे :

'प्रश्न, यदि उन्हें पूछना आवश्यक समझा जाये तो, जो वक्तव्य दिया गया है उसके आधार पर तैयार किये जाएं और उन पर बाद में विचार किया जाये।'

पर शायद मेरे लिए मेरा अपना ही प्राधिकार उद्धृत करना काफी नहीं होगा। मैं हाउस ऑफ कामन्स में प्रचलित विधा का जिक्र करूंगा। ऐसा प्रतीत होता है कि वहां बहुत कम पूरक प्रश्नों की अनुमति दी जाती है। जितने सदस्य वहां पूरक प्रश्न पूछना चाहते हैं उतनों को वहां अनुमति नहीं दी जाती। 27 जनवरी, 1945 को एक प्रश्न के उत्तर में चान्सलर ऑफ एक्सचैकर ने एक वक्तव्य दिया। जब अध्यक्ष ने देखा कि कई सदस्य अनुपूरक प्रश्न पूछने के उत्सुक हैं, तो उन्होंने विनिर्णय दिया :

'चान्सलर ऑफ दि एक्सचैकर द्वारा दिये गये वक्तव्य पर आगे प्रश्न पूछने से पहले क्या उस वक्तव्य का अध्ययन करना बेहतर नहीं होगा।'

मेरे विचार में एक ओर एक-दो अनुपूरक प्रश्नों की अनुमति देने तथा अन्य प्रश्नों को अस्वीकृत करने तथा दूसरी ओर सभी प्रश्नों को इस आधार पर स्थगित रखने में कि वक्तव्य का अध्ययन जरूरी है, कोई अन्तर नहीं है। जो सदस्य प्रश्न पूछना चाहते हैं उन्हें समान अवसर प्रदान करने की दृष्टि से तथा सुने हुए वक्तव्य पर अनुपूरक प्रश्न पूछने में बर्बाद होने वाले समय को बचाने की दृष्टि से यह न केवल वांछनीय है अपितु जरूरी भी है कि प्रश्न करने के महत्वपूर्ण अधिकार का प्रयोग दिये गये वक्तव्य का सावधानीपूर्वक अध्ययन कर लेने और उसे अच्छी तरह समझ लेने के बाद किया जाये। अतः अब तक जो परिपाटी चली आ रही है उसमें परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।"

[**पार्लियामेंटरी डिबेट्स, पार्ट 1,**
12 मार्च, 1951, कालम 4349 और
15 मार्च, 1951, कालम 4604-06]

भाग चार

श्रद्धांजलियां

27

अध्यक्ष मावलंकर को श्रद्धांजलियां

श्री मावलंकर के निधन का शोक समाचार सुनकर मुझे गहरा दुःख हुआ है। मैं उन्हें पिछले लगभग 35 वर्षों से भी अधिक समय से जानता हूं जबकि असहयोग आंदोलन शुरू हुआ था।

अहमदाबाद में न केवल वकालत में और कांग्रेसजनों में बल्कि जिन अन्य क्षेत्रों और कार्यकलापों में उन्होंने भाग लिया उनमें भी उन्हें भारी सफलता मिली। वह बम्बई असेम्बली के अध्यक्ष बने और खूब सफल रहे। इस सफलता के कारण ही केन्द्रीय विधानमंडल के सदस्यों ने उन्हें अध्यक्ष पद के लिये चुना था। दिल्ली आने के बाद वे संसद के अनिवार्य अंग बन गये।

लोक सभा के जिस भी सदस्य ने श्री मावलंकर को श्रद्धांजलि अर्पित की है उसने न केवल उनकी योग्यता और सत्यनिष्ठा में, बल्कि जिस ढंग से उन्होंने लोक सभा की कार्यवाही का संचालन किया उसमें भी अपने दल का विश्वास व्यक्त किया है। वे इस देश में ही नहीं बल्कि राष्ट्रमंडल की संसदों में भी एक महान अध्यक्ष के रूप में जाने जाते थे।

उन्होंने जो भी कार्य किया, पूरी निष्ठा से किया। उन्हें सभी वर्गों का विश्वास प्राप्त था और इसी कारण देश में लोगों ने जो भी बड़े-बड़े सार्वजनिक न्यास बनाये उनका उन्हें बिना किसी हिचकिचाहट के और सर्वसम्मति से सर्वेसर्वा बना दिया।

उनका अभाव लोक सभा में ही नहीं बल्कि उससे भी बड़ी उनके मित्रों, सहयोगियों तथा समाज सेवा में रुचि लेने वाले उनके सहकर्मियों की मंडली को भी बहुत खलेगा।

राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद
27 फरवरी, 1956

आज से लगभग नौ वर्ष पहले से हममें से कुछ लोगों ने, जिनमें मैं भी शामिल हूं, इन असेम्बलियों में कार्य करना आरंभ किया था। वे पुरानी असेम्बली के आखिरी दिन थे; उसके बाद संविधान सभा में और फिर लोक सभा में हमने कार्य किया। शुरू के उन दिनों में, मुश्किल समय में, जब प्रक्रिया का स्वरूप तैयार हो रहा था, श्री मावलंकर ही हमारे मार्गदर्शक थे। वे हमारी मदद करते थे, हमें धमकाते थे और हमें सही राह पर रखने की कोशिश करते थे। उन्होंने अनुकरणीय सिद्धांत स्थापित किये और भारत के, विशेष रूप से लोक सभा के, संसदीय जीवन के विकास को नया मोड़ दिया। दूसरे क्षेत्र में, जैसाकि आप जानते हैं, हर वर्ष वह हमारे सभी राज्यों की विधान सभाओं के अध्यक्षों को इकट्ठा करते थे और उनके साथ आपसी हितों के विभिन्न मामलों पर चर्चा करते थे क्योंकि वह चाहते थे कि हमारे देश में संसदीय शासन की जड़ें सही मायनों में मजबूत हों। उन्हें स्वयं बहुत अनुभव था क्योंकि, जैसाकि लोक सभा को मालूम है, वह पुरानी असेम्बली के अध्यक्ष रहे थे और इस पद पर उन्होंने लम्बे अर्से तक काम किया था। बाद में हम सब उनके निकट संपर्क में आये और उनके मार्गदर्शन में कार्य किया।

मैं इस बात को स्वीकार करता हूं कि मैं और मेरे विचार में संभवतः कुछ और लोग भी श्री मावलंकर को अध्यक्ष के रूप में देखने के ऐसे अभ्यस्त हो गये थे कि किसी भी स्थिति में शांति, शिष्टाचार और दृढ़ता से निबटने के उनके तरीके पर इतना विश्वास करने लग गये थे कि हम उनके बिना इस संसद को सोच भी नहीं सकते थे। वह इस संसद के अभिन्न अंग थे। उन्होंने हम सभी को एक सूत्र में बांध रखा था। अतः उनके निधन से मुझे केवल व्यक्तिगत दुख ही नहीं हुआ बल्कि हम एक ऐसी परंपरा और एक ऐसी संस्था से वंचित हो गये जिसका यहां विकास हुआ था। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह संसद और हम सभी अपना कार्य कार्य करते रहेंगे। संसार तो चलता ही रहता है। संसद भी चलती रहेगी। भारत भी निस्संदेह चलता रहेगा। दुनिया के काम किसी के बिना नहीं रुकते। परंतु सच्चाई यह है कि श्री मावलंकर इस संसद के अभिन्न अंग थे। उनके बिना हम इस संसद की कल्पना नहीं कर सकते। ऐसे व्यक्ति के निधन के कारण लोक सभा अनाथ हो गयी है। उनके निधन के कारण एक ऐसी गहरी खायी पैदा हो गयी है जिसको भरना बहुत मुश्किल है।

हममें से अधिकांश लोग श्री मावलंकर के संपर्क में अन्य तरीकों से भी आये थे। उनसे हमारा संबंध केवल राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था। यह संपर्क इस कारण भी हुआ था कि वे अच्छे काम में गहरी रुचि लेते थे। वे बड़ी-बड़ी निधियों से संबंधित रहे जैसे गांधी स्मारक निधि, कस्तुरबा स्मारक निधि आदि। ये सभी निधियां जनता की भलाई के लिए बनायी गयी थीं। वे इन निधियों की

देखभाल करते थे और यह सुनिश्चित करते थे कि निधियां जनता की भलाई के लिए खर्च की जायें। यह निस्संदेह एक बहुत भारी जिम्मेदारी थी जिसे पूरा करने में उनका काफी समय और शक्ति लगती थी। इस कार्य में उनकी अन्य लोगों ने भी मदद की परंतु वे स्वयं भी पूरी बारीकी में जाते थे और यह देखते थे कि इन निधियों का सदुपयोग हो। हम में से कुछ लोग उनकी इस आदत के कारण अधीर हो जाते थे क्योंकि इसकी वजह से निर्णय लेने में देर होती थी। परंतु उनकी यह आदत निस्संदेह सराहनीय थी। कितना अच्छा हो कि हम सभी उनके जैसी निष्ठा के साथ काम करने की आदत डाल लें।

खैर, हम यहां लोक सभा में उनके साथ कई तरीकों से, विशेष रूप से उनके अध्यक्ष पद पर रहने के कारण, संबंधित रहे हैं। वे लोक सभा के पहले अध्यक्ष थे; वे लोक सभा के जनक थे और उनका नाम लोक सभा और हमारी संसद के साथ लम्बे अर्से तक जुड़ा रहेगा क्योंकि उन्होंने लोक सभा को वर्तमान रूप दिया, नयी दिशा प्रदान की और इस पर अपने व्यक्तित्व की गहरी छाप छोड़ी। उसका हम सभी को लाभ हुआ है; काफी हद तक हम उस प्रक्रिया में जुड़ गये हैं; हम सभी में उनके कारण थोड़ा सुधार आया है। किसी व्यक्ति के बारे में यह कहना बहुत बड़ी बात है कि उसके संपर्क में आने के कारण अन्य लोगों पर उसका प्रभाव पड़ा है तथा उनमें सुधार आया है। हमारे माध्यम से उन्होंने लोक सभा और संसद पर अपना प्रभाव डाला और इस प्रकार समूचे देश पर अपनी छाप छोड़ी।

प्रधान मंत्री जवाहर लाल नेहरू
27 फरवरी, 1956

विपक्ष के एक सदस्य के रूप में बोलते हुए मैं यह बात स्पष्ट रूप से कह सकता हूं कि हममें से अधिकांश के लिए यह एक वास्तविक रूप से क्रूर आघात है। हम इस बात की कल्पना ही नहीं कर सकते कि हम सभा में आयें और उन्हें अध्यक्षपीठ पर न पायें तथा उनकी मुस्कराहट और उनके भव्य और गरिमापूर्ण व्यक्तित्व की चमक से वंचित रहें। मुझे याद है कि प्रधान मंत्री ने इस संसद के शायद पहले सत्र में कहा था कि हम इस सभा की अध्यक्षपीठ पर किसी अन्य व्यक्ति की कल्पना भी नहीं कर सकते। हमारे श्री मावलंकर से मतभेद थे परंतु जहां तक व्यक्तिगत संबंधों का प्रश्न है, उनमें कभी भी कटुता नहीं आयी, और हम अक्सर देखते थे कि उनमें

एक ऐसी उत्कट इच्छा थी जो बहुत कम लोगों में हुआ करती है—कम से कम मैंने तो उनके अलावा किसी अन्य व्यक्ति में इतनी उत्कट इच्छा देखी नहीं—और वह यह थी कि वह यह चाहते थे कि हमारे देश में संसदीय कार्य ऐसे ढंग से चलाये जायें जो हमारी राजनीतिक परंपराओं के अनुरूप हों और अपने इस जनून को पूरा करने में उन्होंने अपनी पूरी प्रतिभा का प्रयोग किया। जो लोग उन्हें जानते हैं वे इस बात के साक्षी हैं कि उनमें यह प्रतिभा प्रचुर मात्रा में थी। इसीलिये मैं यह महसूस करता हूं कि उनके जैसा व्यक्ति हम फिर आसानी से नहीं देख सकेंगे। हमें उनके निधन से गहरा और वास्तविक दुख हुआ है और मैं विशेष रूप से अपने दल की ओर से तथा इस सभा में सभी की ओर से आपसे यह उम्मीद करता हूं कि आप श्री मावलंकर के परिवार के सदस्यों को बता देंगे कि हम अपने राष्ट्रीय जीवन की इस घड़ी में उनके निधन के कारण कितने दुखी हैं।

एच० एन० मुखर्जी
27 फरवरी, 1956

श्री मावलंकर आधुनिक अहमदाबाद के निर्माता थे। वह इस नगर के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर अपनी गहरी छाप छोड़ गये हैं। सरदार पटेल के बाद अहमदाबाद के निर्माता के रूप में श्री मावलंकर का ही नाम आता है। बम्बई असेम्बली के प्रारंभिक काल में अध्यक्ष के रूप में उन्होंने संसदीय लोकतंत्र की दिशा में मेरे राज्य का मार्गदर्शन किया।

इस सभा में विपक्ष कमजोर है और असंगठित है परन्तु वे सभी को सहारा देते थे। वह हमारे अधिकारों की रक्षा करते थे और कभी-कभी तो ऐसे अधिकारों की रक्षा करते थे जिनके बारे में हमें भी मालूम नहीं होता था क्योंकि संसदीय जीवन में हमारा पदार्पण नया ही है। हमारे कई बार उनके साथ मतभेद हुए परन्तु आज जब मैं पीछे मुड़कर देखता हूं, तो पाता हूं कि अक्सर वे ही ठीक थे और हम गलत थे। इस सभा में और अपने कक्ष में भी वे हमें नेक सलाह देते थे और हमारा मार्गदर्शन करते थे।

आपको याद होगा कि कुछ समय पहले मेरे नेता आचार्य कृपालानी ने अध्यक्ष को एक शिक्षक की संज्ञा दी थी। यह श्री मावलंकर का सम्मान करने के लिए ही कहा गया था क्योंकि वह एक शिक्षक ही थे। आपको याद होगा कि कार्य मंत्रणा

समिति की बैठकों में ऐसे अवसर प्रायः आये हैं जब उन्होंने हमें दिखाया कि संसद को कैसे काम करना होता है और इसका विकास किस प्रकार हो सकता है। हम उनके ये सबक कभी भी नहीं भूलेंगे।

अशोक मेहता
27 फरवरी, 1956

भारत में संसदीय लोकतंत्र के इतिहास में श्री मावलंकर का विशिष्ट स्थान है। मुझे एक राष्ट्रमंडली सम्मेलन के सिलसिले में इंगलैंड जाना पड़ा। वहां मैं ब्रिटिश सांसदों से मिला वे हमारी संसद और हमारी संसद के अध्यक्ष की भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे। हमें इस बात से बड़ी प्रेरणा मिलती है और खुशी होती है कि संसदों की जननी के बड़े-बड़े सांसद हमारे अध्यक्ष को राष्ट्रमंडल संसदीय एसोसिएशन का प्रेसीडेंट चुनना चाहते थे और उनका मार्गदर्शन चाहते थे।

हमारे उनके साथ मतभेद होते थे। हमने उनके कई विनिर्णयों का विरोध किया परन्तु श्री मुखर्जी और श्री अशोक मेहता के साथ मैं भी यह बात कहना चाहता हूं कि वे विपक्ष के अधिकारों के प्रति बहुत सजग थे और वे इस सभा के प्रत्येक सदस्य के विशेषाधिकारों के सच्चे संरक्षक थे। अधीनस्थ विधान संबंधी समिति के सभापति के नाते यह स्पष्ट रूप से कहना मेरा कर्तव्य है कि उन्होंने कार्यपालिका की तानाशाही को कभी भी सहन नहीं किया और हर बार हमें सावधान किया कि उस समिति के सदस्य होने के नाते हम लोगों के अधिकारों के सच्चे संरक्षक हैं और हमें यह देखना चाहिए कि संसदीय प्रभुसत्ता का किसी भी रूप में उल्लंघन न हो और इस सभा के प्रभुसत्तासम्पन्न अधिकारों पर कोई आक्रमण न हो।

हम विपक्ष के सदस्य इस बात को स्वीकार करना अपना कर्तव्य समझते हैं कि यद्यपि वह दृढ़ एवं मजबूत थे तथापि वे भारत में सच्चे संसदीय लोकतंत्र का विकास चाहते थे। उनके निधन से एक ऐसी कमी पैदा हो गयी है जिसे कभी भी पूरा नहीं किया जा सकता।

एन० सी० चटर्जी
27 फरवरी, 1956

श्री मावलंकर के निधन के कारण भारत ने अपना एक और महान सपूत खो दिया है। संसद को उनके मार्गदर्शन और प्रेरणा की जरूरत थी और देश को उनकी सलाह और सहायता की। वे सभा की गरिमा कायम रख सकते थे और सदस्यों के अधिकारों की भी रक्षा कर सकते थे। उन्होंने ऐसी परंपरायें स्थापित कीं जिनका हम लम्बे समय तक अनुकरण करते रहेंगे।

मेरे मित्रों ने यहां जो बातें कहीं हैं उनमें मैं भी अपने दल की ओर से शामिल हूं और मैं आपसे तथा प्रधान मंत्री से यह प्रार्थना करता हूं कि हमारे गहरे दुःख और खेद की भावनाओं को उनके परिवार के सदस्यों तक पहुंचा दें।

सरदार हुकम सिंह
27 फरवरी, 1956

उन्होंने एक व्यक्ति, राजनीतिक, राजनेता और एक देशभक्त के रूप में शानदार जीवन बिताया। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान वे कई बार जेल गये। वह एक महान सामाजिक कार्यकर्ता थे। वे नये अहमदाबाद के निर्माता थे। वह सरदार पटेल के दायां हाथ थे।

गुजरात में बहुत सी महान आत्माओं ने जन्म लिया। राष्ट्रपिता भी गुजरात से ही थे। सरदार बल्लभभाई पटेल का जन्म भी गुजरात में ही हुआ। विट्ठलभाई पटेल ने आजादी की लड़ाई लड़ी। वे पुरानी असेम्बली के प्रेसीडेंट थे। वे पिछले शासनकाल के दौरान लड़े जब प्रशासन हमारे हाथ में नहीं था। किंतु आजादी मिलने के बाद श्री मावलंकर हमारे साथ थे। उन्हें इस संसद का जनक ठीक ही कहा जाता है। उन्होंने लोकतंत्र के विकास में बहुत योगदान दिया और लोक सभा में लोकतांत्रिक परंपराओं की मजबूत नींव रखी। लोक सभा उनके द्वारा स्थापित परंपराओं को कभी नहीं भुला सकती। थोड़े दिन पूर्व उन्हें राष्ट्रमंडल संसदीय एसोसिएशन की आम परिषद की बैठक में भाग लेने के लिए जमैका जाना था, हम दोनों ही भारत से उस एसोसिएशन के सदस्य थे। परंतु वे जा नहीं सके। लेकिन उनकी अनुपस्थिति में सभी सदस्यों ने सर्वसम्मति से उनका नाम परिषद के सभापति पद के लिए प्रस्तावित किया। वे किसी और व्यक्ति को इस पद के लिए उपयुक्त न पा सके। वे सभी चाहते थे कि राष्ट्रमंडल संसदीय एसोसिएशन की बैठक यहां हो और उन्होंने सुझाव दिया कि वे सब यहां आ जायें और दिसम्बर, 1957

में सम्मेलन यहीं हो। उनके और हमारे प्रधान मंत्री के कारण ही विभिन्न राष्ट्र-मंडली देश सम्मेलन यहां बुलाने के लिये आग्रह कर रहे थे। उनका केवल इस संसद में ही नहीं बल्कि सभी राष्ट्रमंडली देशों में आदर किया जाता था।

मैं लोक सभा की भावनायें उनके परिवार के सदस्यों तक पहुंचा दूंगा। मैं सदस्यों से अनुरोध करूंगा कि वे उनके सम्मान में एक मिनट के लिए अपने अपने स्थानों पर खड़े हो जायें।

उपाध्यक्ष एम० ए० अय्यंगर
27 फरवरी, 1956

हमारा मन भारी दुःख से भरा हुआ है। ऐसे समय में मावलंकर जी के बारे में कहना कठिन है। वह सही मायनों में एक महान व्यक्ति थे, एक पवित्र आत्मा थे और एक ऐसे नेता थे जिन्होंने जरूरतमन्द, दुखी और पद्दलित लोगों की मदद करने के लिये अपने स्वास्थ्य की भी परवाह न करके निःस्वार्थ रूप से परिश्रम किया। वे गांधी जी के सच्चे भक्त थे। उन्होंने कभी अपने आपको भी माफ नहीं किया। उनके निधन से देश को भारी क्षति पहुंची है। वे एक सुसंस्कृत व्यक्ति थे और उन्होंने सदैव जरूरतमन्द की मदद की और ऐसे लोगों से मित्रता की जिनकी तरफ कोई नहीं देखता। उन्होंने प्रत्येक पद पर शानदार ढंग से काम किया। एक अध्यक्ष के रूप में वे एक आदर्श थे, उनमें असंख्य गुण थे जिनका वर्णन करना कठिन है। हम में से कुछ के लिये तो यह एक व्यक्तिगत हानि है। हम उनका आदर करते थे, उनसे प्यार करते थे और कठिनाई के समय उनसे सलाह लेते थे। उनका जीवन हमारे इतिहास का एक आवश्यक अंग है और इससे उन लोगों को प्रेरणा मिलती रहेगी जो मार्गदर्शन के लिये और निस्वार्थ सेवा के वास्तविक सिद्धांत जानने के लिए इतिहास के पन्नों को पलटते रहते हैं। मैं आपसे अनुरोध करूंगा कि आप इस सभा की संवेदनायें उनके पुत्रों और उनके परिवार के अन्य सदस्यों तक पहुंचा दें तथा दिवंगत आत्मा के सम्मान में सभा स्थगित कर दें।

राज्य सभा के नेता गोविन्द वल्लभ पन्त
27 फरवरी, 1956

सभा के नेता, श्री गोविन्द बल्लभ पंत, ने जो भावनायें व्यक्त की हैं वे हम सभी की भावनायें हैं। थोड़े दिन पहले मैंने श्री मावलंकर के संसदीय प्रथा और प्रक्रियाओं संबंधी विपुल ज्ञान का उल्लेख किया था। उस समय मैंने सोचा भी नहीं था कि इतनी जल्दी हमें उनके निधन पर शोक व्यक्त करना पड़ेगा। वह बम्बई विधान सभा के अध्यक्ष, अंतरिम संसद के अध्यक्ष और लोक सभा के पहले अध्यक्ष थे। उन्होंने स्वस्थ संसदीय परंपराओं का विकास करने का प्रयास किया और जब हमारे यहां बहुत से ग्रुप हैं और निश्चित विचारों के बहुत से लोग हैं, तो ऐसी स्थिति में पीठासीन अधिकारी का काम आसान नहीं है। उन्होंने सभी के साथ न्याय किया और वह एक महान परंपरा पीछे छोड़ गये। मैं उन्हें बहुत लंबे अर्से से जानता था और अन्य क्षेत्रों में भी उनकी जो गतिविधियां थीं उनसे मैं बहुत प्रभावित हुआ। वे अहमदाबाद नगरपालिका के प्रधान थे। वे गुजरात विश्वविद्यालय से संबद्ध रहे और वे गांधी स्मारक निधि और कस्तूरबा स्मारक निधि के सभापति थे। इन विभिन्न क्षेत्रों में उनकी रुचि दुखी लोगों का दुःख दूर करने में थी और इस महान आदर्श के लिए उन्होंने कार्य किया। हमने एक विशिष्ट लोक सेवक और हमारी संसद—लोक सभा—का एक महान अध्यक्ष खो दिया है। श्री मावलंकर के निधन पर व्यक्त की गयी भावनाओं को मैं अवश्य उनके परिवार के लोगों तक पहुंचा दूंगा। सभा स्थगित करने से पहले हम अपना दुःख व्यक्त करने के लिए दो मिनट के लिए खड़े होंगे।

सभापति डॉ० राधाकृष्णन्
27 फरवरी, 1956

मैं श्री मावलंकर के संपर्क में सर्वप्रथम उस समय आया जबकि वह केन्द्रीय विधान सभा के पहली बार अध्यक्ष चुने गये। यह बात अब से ठीक दस वर्ष पूर्व की है अर्थात् यह जनवरी, 1946 की बात है। अध्यक्ष चुने जाने के बाद उन्हें भारी चुनौती का सामना करना पड़ा। संसद का अध्यक्ष चुने जाने के बाद से ही उन्हें अनेक प्रकार के दबावों और संघर्षों से होकर गुजरना पड़ा परंतु सभी संकटों का उन्होंने साहसपूर्वक मुकाबला किया और हर संकट के बाद उनके व्यक्तित्व में और अधिक निखार आया। जिस वर्ष उन्होंने अध्यक्ष का पद संभाला उसी 2 सितंबर, 1946 को राष्ट्रीय सरकार बनी तथा उसके बाद 15 अगस्त, 1947 तक अर्थात् केन्द्रीय विधान सभा के भंग होने तक एक के बाद एक संकट आते रहे। इस दौरान

श्री मावलंकर भी अध्यक्ष नहीं रहे थे। 17 नवम्बर, 19-7 को वह संविधान सभा के विधायी अंग के पुनः अध्यक्ष चुन लिए गये। मतलब यह है कि 15 अगस्त से 17 नवम्बर, 1947 तक अध्यक्ष पद वास्तव में रिक्त रहा।

श्री मावलंकर मेरे लिए न केवल अध्यक्ष थे बल्कि मेरे लिए पिता के समान थे। उनके साथ मेरे जो निजी संबंध थे, मेरे लिए वे अधिक महत्वपूर्ण थे और हमारे बीच सरकारी कार्य करने हेतु जो औपचारिक संबंध बना उसके निर्माण में मेरे उनके साथ निजी संबंधों का बहुत बड़ा योगदान था। हम न केवल सरकारी मामलों पर चर्चा किया करते थे बल्कि वह, जब भी अवसर मिलता, मुझे जीवन के सामान्य पहलुओं पर भी उपदेश दिया करते थे और बताया करते थे कि हमें क्या-क्या करना चाहिए, हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिए, हमें अपना जीवन किस प्रकार आदर्श बनाना चाहिए और हमें किस प्रकार अपना सर्वस्व देश की खातिर न्यौछावर करना चाहिए। उनके सान्निध्य में मेरा जो दस वर्ष का समय बीता, वह मेरे लिए कितना मूल्यवान है, यह बताना मेरे लिए संभव नहीं है। उनके संपर्क ने मेरे जीवन को उदात्त बनाया और उनके साथ रहकर मुझे विविध अनुभव हुए। मुझे सदा यह अनुभव हुआ कि मैं एक ऐसे व्यक्ति की छत्रछाया में हूं जो बहादुर है, निडर है, स्वतंत्र विचार वाला है और किसी के दबाव में आने वाला नहीं है, और जो हर संकट का सामना सफलतापूर्वक कर सकता है तथा विकट से विकट स्थिति में भी काम कर सकता है। उनके साथ रहते हुए मैंने सदैव यह अनुभव किया कि मैं निर्बाध गति से आगे बढ़ सकता हूं और उत्पन्न सभी कठिनाइयों का मुकाबला कर सकता हूं। उनसे बातचीत करते समय मेरे मन में कभी भी किसी प्रकार का भय नहीं रहता था।

उनका एक बहुत बड़ा गुण यह था कि वह किसी भी विषय पर तर्कों को बड़े ध्यान से सुनते थे और उन्हें समझते थे, हालांकि वह अपना स्वतंत्र निर्णय लिया करते थे। अधिकांश मामलों में वह सलाह मान लेते थे किंतु जब सलाह न मानने के लिए उन्हें उचित कारण नजर आते थे तो वे सलाह नहीं मानते थे। किंतु जब वह किसी सलाह को स्वीकार कर लेते थे, तो वह उसे स्वयं अपना बना लेते थे तथा उसी का समर्थन करते थे और उसी के लिए लड़ते भी थे क्योंकि उसे वह स्वयं अपना मत या विचार मानते थे। यदि विभागाध्यक्ष को यह विश्वास हो जाये कि उसके द्वारा दी गयी किसी जानकारी या सलाह के लिए उसका वरिष्ठ अधिकारी उसे दोषी नहीं ठहरायेगा, तो विभागाध्यक्ष के लिए यह एक बहुत बड़े सम्मान की बात होती है। चूंकि अध्यक्ष को सलाह देने का कार्य सचिव का है, इसलिए उसका ऐसा विश्वास बन जाना चाहिए कि अध्यक्ष द्वारा उसकी सलाह मान लिए जाने पर उसे उस सलाह के लिए कभी भी जिम्मेदार नहीं ठहराया जायेगा। इससे सचिव

और उसके प्रशासन को बहुत बड़ा प्रोत्साहन मिलता है। मुझे यह सौभाग्य प्राप्त रहा। अतः यह मेरे लिए हर्ष की बात थी।

जो भी उन्होंने किया और जो परिस्थितियां उनके समक्ष प्रस्तुत हुईं, उसका मूल्यांकन उन्होंने कुछ नैतिक सिद्धांतों के आधार पर किया। जिन क्षेत्रों में वह विफल रहे उनका मूल्यांकन भी उन्होंने उतने ही प्रभावी ढंग से किया। ऐसा मूल्यांकन करने की यह क्षमता हम सभी में होती है किंतु उनमें यह विशेष मात्रा में थी जिसके आधार पर वह अपने दोषों और भूलों का निरीक्षण करते थे और ऐसे प्रत्येक स्व-दोषदर्शन के बाद उन्होंने अपनी कमियों को दूर किया तथा उनके व्यक्तित्व में और अधिक निखार आया। उनमें यह विशिष्ट गुण युवावस्था से ही विद्यमान था और यही कारण था कि उन्होंने अपने जीवन में आने वाली सभी कठिनाइयों का सफलतापूर्वक मुकाबला किया और निरंतर प्रगति करते रहे।

एक अन्य क्षेत्र भी था जिसमें उन्होंने बहुत उत्तम कार्य किया और यह उस समय की बात है जब वह अहमदाबाद नगरपालिका के प्रेजिडेंट थे। आज प्रातः ही श्री अशोक मेहता ने इस संबंध में उनके कार्यों का उल्लेख किया और उन्हें आधुनिक अहमदाबाद का निर्माता बताया और ऐसा उल्लेख उनके प्रति उचित श्रद्धांजलि है।

हममें से अधिकतर श्री मावलंकर को अध्यक्ष के रूप में पिछले दस वर्ष से जानते हैं। किंतु वास्तव में वह गत लगभग 20 वर्ष से अध्यक्ष थे क्योंकि वह 1937 में, जब कांग्रेस ने पहली बार राजनीतिक दायित्व स्वीकार करने का निर्णय किया था, बंबई विधान सभा के अध्यक्ष चुने गये थे और तभी से वह लगातार अध्यक्ष पद पर आसीन रहे। गत 20 वर्षों से उन्होंने अध्यक्ष पद को ही सुशोभित किया और कोई अन्य पद स्वीकार नहीं किया तथा उन्होंने अध्यक्ष पद पर रहते हुए सदा ही 'हाउस ऑफ कामन्स' की परंपराओं का पालन किया। उन्होंने अध्यक्ष पद की गरिमा को बढ़ाया और पूरे भारत में इस पद को सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा।

भारत से बाहर विदेशों में श्री मावलंकर की जो गतिविधियां रहीं उनके उल्लेख के बिना श्री मावलंकर का जीवन-चरित्र अधूरा रह जायेगा। यह मेरा सौभाग्य रहा कि 1948, 1950 और 1952 में हुई पार्लियामेंटरी कान्फ्रेंसों में मैं उनके साथ गया। ये कान्फ्रेंस लंदन, डबलिन और कनाडा में हुई थी। अध्यक्ष के रूप में उनकी जो महान प्रतिष्ठा थी वह भारत तक ही सीमित नहीं थी बल्कि पूरे राष्ट्रमंडल और उत्तरी अमरीका महाद्वीप के संसदीय क्षेत्रों में व्याप्त थी। यहां तक कि 'हाउस ऑफ कामन्स' के अध्यक्ष तथा अन्य देशों के अध्यक्ष भी संसदीय व्यवहार और प्रक्रिया तथा संसद से संबंधित अन्य मामलों में उनके योगदान की

सराहना करते थे। इसलिए मैं कहता हूं कि आज हमने न केवल एक महान अध्यक्ष खो दिया है बल्कि इस युग के महानतम अध्यक्षों में से एक हमसे सदा के लिए विदा हो गया है।

वह हमेशा सिद्धांतों का समर्थन और पालन करते थे। जब भी उनसे किसी महत्वपूर्ण प्रशासनिक या साधारण विषय पर बातचीत की जाती, तो वह तुरंत उसमें अंतर्निहित सिद्धांत को खोज निकालते तथा सिद्धांत को खोज लेने के बाद वह कह देते कि "यह मेरी दृढ़ मान्यता है तथा मेरी इस बारे में स्पष्ट धारणा है और इसमें तर्क के लिए कोई गुंजाइश नहीं है।"

आप लोगों ने हाल ही में देखा होगा कि लोक सभा के नियम राजपत्र में प्रकाशित हुए थे। यह इस सचिवालय की स्वायत्तता का घोषणापत्र है। यदि इसे लोकसभा की स्वायत्तता का प्रमाण माना जाये, तो इसका संपूर्ण श्रेय श्री मावलंकर को जाता है क्योंकि उन्होंने सभी महत्वपूर्ण मामलों पर दृढ़तापूर्वक निर्णय लिए। छोटी-मोटी बातों की तो वह परवाह नहीं करते थे किंतु यदि कोई सिद्धांत का प्रश्न उठता था तो वह दृढ़तापूर्वक निर्णय लेते थे और उस पर दृढ़ रहते थे और उस बारे में उठने वाले बड़े-से-बड़े विवाद के आगे भी वह नहीं झुकते थे।

एक दिन एक ऐसी घटना घटी जिसने मेरे मन पर गहरी छाप छोड़ी। एक या दो वर्ष पूर्व एक दिन वह अपने कमरे में बैठे हुए थे और अचानक न जाने उनके मन में क्या आया कि उन्होंने मुझसे कहा, "कौल, मालूम नहीं है कि इस जीवन का कब अंत हो जाये, इसलिए इस विभाग के कर्मचारियों की सेवा की शर्तों को अंतिम रूप देने के लिए तुरंत और तत्काल कार्यवाही करो ताकि यहां होते हुए मैं इस सचिवालय को यथासंभव स्वायत्तता दिलाने में अपना अधिकाधिक योगदान दे सकूं, क्योंकि यह बहुत ही महत्वपूर्ण है कि इस सचिवालय में काम करने वाले कर्मचारी बिना भय और पक्षपात के स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करें।" वास्तव में, उनके "भय और पक्षपात बिना" शब्दों ने मेरे मन पर अमिट छाप छोड़ी। 15 फरवरी को जब उनकी रुग्णता का संदेश लोक सभा में पढ़ा गया और वह कार्यवाही उन्हें भेजी गयी, तो उन्होंने इस महीने की 17 तारीख को अपने पुत्र से एक पत्र लिखवाया और उससे कहा कि वह उस पत्र को तुरंत मुझे भेज दे। वह पत्र आज भी मेरे पास उनके अंतिम अनुदेशों के रूप में मौजूद है। कुछ अन्य बातों का उल्लेख करने के बाद उन्होंने पत्र यह लिखते हुए समाप्त किया : "आप संसद की उसी निष्ठा से सेवा करते रहें जो निष्ठा आपने हमेशा दिखायी है और आप बिना भय और पक्षपात के कार्य करते रहना।" उनके अंतिम अनुदेश के रूप में "भय और पक्षपात के बिना" शब्द आज भी मेरे मन में गूंजते रहते हैं।

शायद आपको याद होगा कि इस महीने की 20 तारीख को श्री शकधर उन्हें देखने गये थे। श्री शकधर ने मुझे बताया कि उनके चेहरे पर वैसे कोई लक्षण उन्हें नजर नहीं आये जैसे कि गंभीर रोग से ग्रस्त ऐसे रोगी के मुंह पर प्रायः दिखायी देते हैं जो शीघ्र ही इस संसार से सदा के लिए विदा होने वाला है। उनका मुख पूर्ववत् ही तेजस्वी और आभापूर्ण था। परंतु उनका दिल बैठता जा रहा था। उनकी मानसिक शक्ति पहले जैसी ही थी। उन्होंने श्री शकधर से कहा, "जाओ, और कौल को कह देना कि मैं दो महीने में अवश्य वापस आऊंगा, चाहे डॉक्टर मेरे बारे में कुछ भी क्यों न कहें।" मुझे आज भी याद है, यह उनकी जीने की अदम्य चाह थी जिसके कारण वह भयंकर रोग के आक्रमण के बाद भी तीन वर्ष तक जीवित रहे। इसी दृढ़ इच्छा के कारण उन्होंने अपना पूरा जीवन जनहित के कार्यों में और संसद की सेवा में लगाया।

लोक सभा सचिव एम० एन० कौल
27 फरवरी, 1956

वस्तुतः जहां तक व्यक्तित्व का संबंध है, उनके बाद आने वाले व्यक्ति, उनके विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण, उनकी तुलना में निश्चित रूप से पीछे पड़ जायेंगे। महान व्यक्तित्व के साथ ही उनमें महान योग्यता थी, उनका जीवन पूर्णतः लोकतांत्रिक था और संसद में कार्य करने का उनका अपना ढंग निराला था। इन्हीं सारी विशेषताओं के कारण भविष्य में आने वाले किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व उनके सामने स्वतः ही धूमिल पड़ जायेगा।

उन्होंने गौरवमय जीवन जीया। पंडित जी ने ठीक ही कहा था कि वह 'संसद पिता' थे। गांधी जी हमारे राष्ट्रपिता और श्री मावलंकर संसद के पिता। मेरी यह मान्यता है कि जहां तक कांग्रेस और भारत का संबंध है, श्री मावलंकर ने सर्वप्रथम अध्यक्ष पद को सुशोभित किया था। उन्होंने भारत में संसद के विकास के लिए मजबूत नींव रखी, पंडित जी ने आदर्श प्रशासन का आधार मजबूत किया और उन दोनों ने मिलकर देश में लोकतंत्र की बुनियाद को पक्का किया।

अध्यक्ष एम० ए० आयंगर
7 सितम्बर, 1956

दिवंगत अध्यक्ष वैसी अर्न्तदृष्टि से संपन्न थे जैसी संसदीय परंपराओं को स्थापित करने के लिए अपेक्षित होती है। मैं और हम सब जो भी दादा मावलंकर द्वारा संसद में किये गये कार्य से परिचित हैं, उसे सराहे बिना रह नहीं सकते। हम उनके कार्य की प्रशंसा पहले भी करते रहे हैं और आज भी करते हैं। उनके कार्य की विशेषता यह रही है कि उन्होंने संसदीय परंपराओं को स्थापित करने में बहुत ही सुंदर ढंग से योगदान दिया। ऐसा करते समय उन्होंने हम सभी संसद सदस्यों को प्रशिक्षण दिया, हमें अनुशासन में रखा और जरूरत पड़ने पर हमें मैत्रीपूर्ण भाषा में इस प्रकार से डांटा भी कि हम में से किसी को भी कभी बुरा नहीं लगा। इस प्रकार उन्होंने स्वस्थ संसदीय प्रणाली के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा किया। ऐसा वातावरण जिसमें मत-विभिन्नता, मैत्रीपूर्ण व्यवहार, सहयोग, परस्पर सम्मान और आत्म-नियंत्रण सभी कुछ एक साथ विद्यमान था। सचमुच, यह एक विलक्षण बात थी।

यदि हम इस वातावरण को कायम रख पाये, और मुझे पूर्ण विश्वास है कि हम ऐसा वातावरण बनाये रखने में अवश्य सफल होंगे, तो मैं समझता हूं कि हमारी जटिल से जटिल समस्याएं भी सुगमता से हल की जा सकेंगी। वास्तव में हम चाहेंगे कि यह वातावरण न केवल संसद तक ही सीमित रहे बल्कि इसका विस्तार पूरे देश में सभी क्षेत्रों में हो जाये। कारण स्पष्ट है कि किसी भी समस्या या विवाद से निपटने के लिए ऐसा ही वातावरण चाहिए। ऐसे ही वातावरण को सभ्य वातावरण कहा जाता है अन्यथा लोकतंत्र की महत्ता ही क्या है? वास्तव में लोकतंत्र चर्चा और बातचीत के माध्यम से समस्याओं को हल करने का एक सभ्य तरीका है जिसमें बहुमत से निर्णय लिए जाते हैं किन्तु जिसमें बहुमत नगण्य से नगण्य अल्पमत के विचारों का भी यथोचित सम्मान करता है और अल्पमत को कभी भी ऐसा महसूस नहीं होता कि उसकी उपेक्षा की जा रही है और इसीलिए दादा साहेब मावलंकर ने जो कार्य किया, वह न केवल संसद के लिए महत्वपूर्ण था बल्कि उसकी महत्ता पूरे देश के लिए थी। संसद देश की अनेक विधान सभाओं एवं विधान परिषदों के लिए तो आदर्श प्रस्तुत करती ही है, वह देश के संपूर्ण जन जीवन के लिए भी आदर्श स्थापित करती है।

यह भी सच है कि हम उन विभिन्न आदर्शों के अनुरूप जीने में पूर्ण सफल नहीं रहे हैं जो हमने स्वीकार किये हैं। संसद से बाहर हमें में से बहुत से लोगों ने उस गरिमा, सहनशीलता एवं सहयोग की भावना का परिचय नहीं दिया जिसकी संसदीय परंपरा के अनुरूप अपेक्षा की जाती है। परंतु यह भी वास्तविकता है कि हमने इस दिशा में काफी प्रगति की और मुझे इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि हम इस दिशा में और अधिक प्रगति करेंगे।

मेरा विश्वास और अनुभव है कि हमारे देश में संसदीय परंपराओं के निर्माण

में दिवंगत अध्यक्ष दादा साहेब मावलंकर का योगदान सर्वाधिक है। जब वह हमारे बीच विद्यमान थे, तो हमने उन्हें वैसे ही स्वीकार कर लिया था जैसे कि हम एक दूसरे को प्रायः स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु बाद में हमने समझा कि स्वस्थ संसदीय परंपराओं को स्थापित करने में और देश के विभिन्न भागों से आये भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले हम नवसिखुआ संसद सदस्यों को प्रशिक्षित करने में उनका कितना महान और विलक्षण योगदान था। हमारा स्वभाव अलग-अलग था, हमारा काम करने का तरीका भी अलग-अलग था। फिर भी उन्होंने हमें एक साथ मिलकर काम करना सिखाया, यह अपने आप में बहुत बड़ा और असाधारण काम था।

कुछ व्यक्ति किसी पद विशेष के लिए जन्म लेते हैं, कुछ परिश्रम से पद विशेष को धारण करने की योग्यता प्राप्त करते हैं और कुछ पर पद विशेष थोप दिया जाता है। दादा साहेब मावलंकर के बारे में यह ठीक ही कहा जाता है कि उनका जन्म अध्यक्ष पद के लिए ही हुआ था। वह इस पद के लिए सर्वथा योग्य थे। अध्यक्ष पद पर आसीन रहते हुए उन्होंने इस पद के अनुरूप गरिमा और ज्ञान का न केवल अपने निर्णयों में परिचय दिया बल्कि अपने दैनिक व्यवहार में भी उसे सतत उतारा। वह मितभाषी तो थे किन्तु जो थोड़े शब्द वह बोलते थे, वे सारगर्भित होते थे। इसीलिए उनके गुणों का प्रभाव हम संसद सदस्यों के जीवन और व्यवहार पर धीरे-धीरे पड़ता गया और हमारे व्यवहार में बहुत बड़ा सुधार आया।

उनके निधन का समाचार सुनकर हमें गहरा धक्का लगा। वह एक विद्वान साथी थे और मित्र थे और एक ऐसे व्यक्ति थे जिनका हम सभी दिल से सम्मान करते थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि वह एक महान व्यक्ति थे, एक ऐसे शिक्षक थे जिन्होंने हमें संसदीय प्रक्रियाओं की शिक्षा दी। जैसा कि मैंने कहा, हमने उन्हें पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया था। ऐसी स्वीकृति के बाद जब हमने एक दिन यह सुना कि वह हम से सदा के लिए विदा हो गये हैं, तो हमें उनके अभाव और उनके निधन से होने वाली अपार क्षति का अनुभव हुआ।

प्रधान मंत्री जवाहर लाल नेहरू
7 सितम्बर, 1956

हम आज भी मावलंकर जी जैसे एक महान व्यक्तित्व की कमी महसूस कर रहे हैं, जो इतने वर्षों तक इस सम्मेलन के एक विशिष्ट सभापति रहे हैं। उनका शिष्ट

एवं सुंदर व्यक्तित्व, उनका मधुर स्वभाव, उनका समृद्ध ज्ञान और संसदीय व्यवहार तथा प्रक्रिया में उनका परिपक्व अनुभव एवं उनका समस्त जीवन ही दूसरों के लिए अनुकरणीय था। भारतीय गणतंत्र की स्थापना के बाद वह संसद के प्रथम अध्यक्ष बने। उन्होंने अपने जीवन में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, विभिन्न गतिविधियों में व्यापक रूप से भाग लिया। वह भारत की उन अग्रणीय संतानों में से थे जिन्होंने अपना अधिकांश जीवनकाल एवं अपनी शक्ति लोक कार्य में लगायी और स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान जेल में रहे। उन्होंने देश में संसदीय लोकतंत्र की जो सुदृढ़ नींव रखी और विशेष रूप से पीठासीन अधिकारियों के सम्मेलनों के संचालन में जो योगदान दिया, उसके लिए हम उनके आभारी हैं। मुझे विश्वास है कि आप सभी इस महान आत्मा के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करने में मेरे साथ सहयोजित होंगे।

अध्यक्ष एम० ए० आयंगर
17 सितंबर, 1956

यदि अध्यक्ष की भूमिका निभाने वाले अब तक के पांच अध्यक्षों में से किसी एक सर्वश्रेष्ठ को चुनना हो, तो निःसंदेह स्वर्गीय श्री जी० वी० मावलंकर जी ही ऐसे व्यक्ति के रूप में सामने आते हैं, जो कि पहले भारत के सर्वप्रथम 'हाउस ऑफ पीपुल' अर्थात् अंतरिम संसद (1950-52) के भी अध्यक्ष पद के लिए चुने गये, क्योंकि उन्हें देश में पीठासीन अधिकारियों में सर्वोत्कृष्ट व्यक्ति समझा गया। उनके व्यक्तित्व व व्यवहार में ऐसा कुछ था जिससे उनके प्रति अनायास ही सम्मान की भावना उमड़ती थी। उनके व्यक्तित्व की दीप्ति को भुलाना कठिन है। यद्यपि उनकी टिप्पणियां स्कूल मास्टर की टिप्पणियों जैसी होती थीं लेकिन उनमें शब्दाडम्बर से परे एक मूलभूत गंभीरता तथा संसदीय प्रक्रियाओं के सही संचालन के प्रति एक उद्दान भाव होता था। उनके विनिर्णय यदि किसी को हास्यास्पद लगते अथवा किसी को उनके विरुद्ध सकारण कोई शिकायत भी होती, तो भी वे उनसे सम्मान ही प्राप्त करते थे। हालांकि लोगों को यह एक अविश्वसनीय-सी बात लग सकती है लेकिन फिर भी चाय पीते समय या मध्यान्ह भोजन पश्चात् जैसे अनौपचारिक अवसरों पर उनसे मजाक के तौर पर अप्रासंगिक रूप से यह पूछा गया कि क्या वे रात को सोते-सोते जाग पड़ते हैं, और 'आर्डर, आर्डर' कहने लगते हैं। सर्वश्रेष्ठ

अध्यक्ष के रूप में वे सदन का एक ऐसा अभिन्न अंग होते थे कि जवाहरलाल नेहरू ने एक बार उनके बारे में कहा था कि मावलंकर जी के बिना लोक सभा की बात भी नहीं सोची जा सकती। मावलंकर जी प्रत्येक दृष्टि से एक महान अध्यक्ष थे जो यद्यपि नियमों के प्रति कभी-कभी अडिग रखते हुए भी गरिमावान थे। तथापि वे इस प्रकार के पीठासीन अधिकारी थे जिनके विनिर्णयों के बारे में सभा चाहे कितनी भी आलोचना करे और उन्हें कठोर माने, फिर भी वह उनके सम्मान के पात्र बने रहते थे।

वे संसदीय औचित्य का शिष्टतापूर्वक निर्वाह करते थे तथा जहां तक संसदीय परम्पराओं के पालन की बात है, वे तत्कालीन प्रधान मंत्री के प्रति भी, जो कि दशाब्दियों तक राष्ट्र का एक महान् व्यक्तित्व रहे, किसी प्रकार की नरमी नहीं बरतते थे। उदाहरण के लिए जब एक बार जवाहरलाल नेहरू ने विशेषाधिकार के एक ऐसे प्रश्न को कम महत्व देने की कोशिश की जिसमें तत्कालीन विधि मंत्री सी० सी० विश्वास अंतर्ग्रस्त थे, जो कि दो सभाओं के प्रति निष्ठाओं के बीच अर्थात् उस राज्य सभा के प्रति निष्ठा, जिसके कि वे सदस्य थे, और उस लोक सभा के लिए निष्ठा, जिसके प्रति वे मंत्री होने के नाते उत्तरदायी थे, फंसे थे, तो अध्यक्ष मावलंकर ने उन्हें उनकी सीमाओं से अवगत करा दिया और संसद की भूमिका की मर्यादा को बनाये रखा और फलतः एक सौहार्दपूर्ण समाधान निकाला जा सका।

हीरेन मुखर्जी पोरट्रेट इन पार्लियामेंट, 1978 में

श्री मावलंकर का इस देश के संसदीय जीवन और संस्थानों के विकास में योगदान इतना सर्वविदित है कि उसे आज यहां दोहराना अनावश्यक है।

दादा साहेब मावलंकर एक असाधारण संसदविद् थे। वह एक महान शिक्षा-विद्, प्रसिद्ध वकील, योग्य संसदविद् होने के अतिरिक्त पूर्णतः निष्ठावान देशभक्त थे। उन्होंने स्वतंत्रता संघर्ष के लिए अपनी सभी अन्य रुचियों का बलिदान किया और उन्होंने देश के संसदीय संस्थानों का मार्गदर्शन करने तथा उनका विकास करने में गहरी रुचि दिखाई।

संसदीय मामलों में दादा साहेब मावलंकर की कुशाग्र बुद्धि की समस्त विश्व

में प्रशंसा की गयी। हम सांसदों का यह कर्तव्य हो जाता है कि हम उनके प्रति आभार प्रकट करें क्योंकि उन्होंने हमें हमेशा ही सही रूप में और सही समय पर सही मुद्दों को उठाने की प्रेरणा दी है।

संचार मन्त्रालय में राज्य मन्त्री कार्तिक उरांव

27 फरवरी, 1981

दादा साहेब मावलंकर उन व्यक्तियों में से थे जिन्होंने देश में संसदीय लोकतंत्र के निर्माण में प्रमुख भूमिका निभाई। यह हमारा सौभाग्य था कि हमारे नवजात लोकतंत्र तथा संसदीय संस्थाओं के कठिन संक्रमण वर्षों में उन जैसे मेधावी और अनुभवी व्यक्ति ने अध्यक्षपीठ का कार्यभार संभाला। श्री मावलंकर के संसदीय कार्यविधियों तथा प्रक्रियाओं के गहन ज्ञान तथा कानूनी सिद्धांतों की उनकी अच्छी पकड़ से उन्हें अच्छी परंपराओं और कार्यविधियों की स्थापना करने में सहायता मिली। उनमें सफल अध्यक्ष के पर्याप्त गुण थे। वह पूर्णतः निष्पक्ष व्यक्ति थे। एक पर्यवेक्षक ने एक बार उन्हें अध्यक्षपीठ से कार्य संचालन करते हुए देखने के बाद कहा कि श्री मावलंकर का एक ऐसा अनोखा व्यक्तित्व था जिससे उन्हें अध्यक्ष की उपलब्ध शक्ति का प्रयोग किये बिना ही सम्मान प्राप्त हुआ। वह एक भद्र एवं नम्र व्यक्ति थे तथा अपने विनिर्णयों में दृढ़ रहते थे। वह सभा के प्राधिकार तथा सदस्यों के अधिकारों के दृढ़ समर्थक थे। सभा में पीछे बैठने वालों के साथ भी उनका आगे के स्थानों पर बैठने वाले नेताओं जैसा ही विनम्र और अनुकूल व्यवहार होता था। श्री मावलंकर को एक महान अध्यक्ष के रूप में याद किया जाता है। उनका प्रभाव समस्त देश के विधानमंडलों को आज भी प्रभावित करता है तथा भविष्य में भी वर्षों तक प्रभावित करता रहेगा।

श्री मावलंकर विदेशों में भी संसदीय सस्थान के विकास के लिए योगदान करते रहे। अपने अध्यक्ष के कार्यकाल के दौरान उन्होंने कई अंतर्राष्ट्रीय संसदीय सम्मेलनों में भाग लिया और उनमें उनके योगदान के लिए उन्हें विश्वव्यापी सम्मान मिला। राष्ट्रमंडल संसदीय एसोसिएशन के सभापति के रूप में उनका निर्वाचन वास्तव में संसदीय क्षेत्रों में उनकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के प्रति सम्मान का द्योतक था।

श्री मावलंकर अपनी सादगी, सच्चाई तथा पद्दलितों और पीड़ितों के कल्याण के प्रति सच्ची निष्ठा के कारण अपने विचारों और रहन-सहन में सच्चे गांधीवादी थे। वह दृढ़ सिद्धांतों के व्यक्ति थे और एक बार जब वह निश्चय कर लेते थे तो उससे डिगने का प्रश्न ही नहीं था। वह अपने अंतर्ज्ञान से यह जान लेते थे कि किसी विशेष मामले में सही रास्ता क्या है और इसमें प्रायः उनका निर्णय सही होता था। उनकी पहल ही के कारण एम्पायर पार्लियामेंटरी ऐसोसिएशन का नाम बदलकर राष्ट्रीमंडल संसदीय ऐसोसिएशन रखा गया और इससे अतीत के साथ संबंध समाप्त हुआ।

दादा साहेब जैसे पुरुषों का जन्म बार-बार नहीं होता है। वह एक विनम्र और आदर्श व्यक्ति थे जिनका जीवन जनता की सार्थक सेवा में लगा और वह दूसरों के लिए प्रकाश स्तम्भ का काम करता रहेगा।

सभापति राज्य सभा एम० हिदायतुल्ला
27 फरवरी, 1981

श्री मावलंकर का नाम न केवल स्वतंत्र भारत में संसद के प्रथम अध्यक्ष के रूप में लिया जाता है अपितु एक सच्चे देश-भक्त, एक स्वतंत्रता सेनानी और एक समर्पित सार्वजनिक कार्यकर्ता के रूप में लिया जाता है। उनकी ईमानदारी, विनम्रता और गरीबों तथा पद्दलितों के लिए वास्तविक चिंता से वह छोटे-बड़े सभी के प्रिय बन गये और उन्हें प्यार से "दादा साहेब" की उपाधि दी गयी।

यह एक अजीब संयोग है कि जहां गुजरात ने हमें आजादी से पहले विट्ठल-भाई पटेल के रूप में प्रथम निर्वाचित अध्यक्ष दिया, वहीं स्वतंत्र भारत में संसद के प्रथम अध्यक्ष के रूप में श्री मावलंकर को दिया। प्रारंभ से ही श्री मावलंकर की सामाजिक कार्य एवं राजनीति में रुचि थी। उनका गांधी जी से 1915 में तब संपर्क हुआ जब गांधी जी दक्षिण अफ्रीका से भारत आये।

श्री मावलंकर ने केन्द्रीय विधानमंडल की कार्यवाही का दस वर्ष से भी अधिक समय तक मार्गदर्शन किया। ये वर्ष हमारे संसदीय संस्थान के विकास के लिए वास्तव में अत्यंत महत्वपूर्ण वर्ष थे और उन्होंने यह दायित्व महान गरिमा, योग्यता, ईमानदारी और बिना किसी पक्षपात के निभाया। माननीय अध्यक्ष श्री पटेल की तरह वह सभा तथा अध्यक्षपीठ की स्वतंत्रता और प्राधिकार के हिमायती थे। उन्होंने अध्यक्ष के पद की महान गरिमा बनाये रखी तथा संसद की प्रतिष्ठा

बढ़ायी। वास्तव में जवाहरलाल नेहरू द्वारा उन्हें "लोक सभा का जनक" कहा जाना सर्वथा उपयुक्त ही था।

श्री मावलंकर की विधान और प्रक्रिया में गहरी रुचि के कारण उन्होंने कई अच्छी कार्यविधियां तथा परंपराएं स्थापित कीं तथा संसदीय संस्थान को एक स्वरूप एवं दिशा दी। अध्यक्षपीठ के उनके उत्तराधिकारी के रूप में मेरे विचार से हमारे लिए उन्होंने जो परंपराएं बनाईं तथा निर्देश दिये वे अपने आप में उनकी स्मृति के स्मारक हैं।

श्री मावलंकर का योगदान केवल केन्द्र में संसद तक ही सीमित नहीं था। देश में विधायी निकायों के पीठासीन अधिकारियों के वार्षिक सम्मेलन के सभापति के रूप में उन्होंने समस्त देश में विधानमंडलों में समान कार्यपद्धतियों और प्रक्रियाओं को बनाने में बहुत काम किया। वास्तव में संसदीय संस्थान के विकास के लिए श्री मावलंकर ने जो योगदान दिया उसके लिए वह समस्त विश्व में, विशेष रूप से राष्ट्रमंडल देशों में, संसदीय क्षेत्र में अत्यंत सम्मानित हुए।

श्री मावलंकर की पीठासीन अधिकरी के रूप में ख्याति से अन्य क्षेत्र में उनका कार्य धूमिल पड़ा। उन्होंने अधिकांश कार्य सामाजिक क्षेत्र में किया। गांधी स्मारक निधि तथा कस्तूरबा स्मारक न्यास का अध्यक्ष होने के अतिरिक्त वह 25 न्यासों से सहयोजित थे जो जनता में उनके प्रति विश्वास का द्योतक है। इन सब में उनकी सबसे बड़ी चिंता पीड़ित मानवता को राहत देने के बारे में थी। महात्मा गांधी के सच्चे शिष्य के रूप में जो भी कार्य उन्होंने आरंभ किया उसे पूरी तरह से संपन्न किया। उन्होंने निःस्वार्थ भाव से परिश्रम किया और जहां कहीं भी पददलितों के कल्याण की बात होती वहां वह पूरी तरह से जुट जाते थे। रचनात्मक कार्य में उनकी इतनी गहरी रुचि थी कि वह इस सबसे संतुष्ट नहीं थे। अपने एक मित्र को उन्होंने एक पत्र में लिखा :

> "....कई वर्षों से मेरा यह स्वप्न रहा है कि मैं कुछ थोड़े समर्पित कार्यकर्ताओं के साथ सर्वेंटस ऑफ इंडिया सोसायटी के जैसे रचनात्मक कार्य में जुट जाऊं किंतु भाग्य मुझे एक दूसरी दिशा में ले गया। तथापि मुझे इस बात की संतुष्टि है कि मैं जिस किसी भी क्षेत्र में हूं उसमें मैं अपना काम पूरी निष्ठा से करने का प्रयत्न कर रहा हूं।"

श्री मावलंकर उच्चकोटि के शिक्षाविद् थे। अहमदाबाद एजूकेशन सोसायटी, गुजरात विश्वविद्यालय और अहमदाबाद में तथा उसके आस पास के अनेक अन्य शिक्षा संस्थानों के विकास का अधिकांश श्रेय उन्हीं को जाता है। वह इन सब संस्थाओं के कुलपिता थे जिनका उनकी देखरेख में विकास हुआ।

अध्यक्ष बलराम जाखड़
27 फरवरी, 1981

मेरे पिता जी ने उन्हें संसद का जनक कहा। मुझे मालूम है कि उस समय सदस्य उनका कितना आदर करते थे और वह कितना प्यार, उचित मार्गदर्शन और सलाह सदस्यों को देते थे। स्वतंत्र भारत की संसद के प्रथम अध्यक्ष के रूप में उन्होंने संसद के इस निर्माण काल में स्वस्थ परम्पराएं स्थापित कीं जबकि लोगों के विचार से वह एक कठिन समय था तथा उस समय परिस्थितियां भी कठिन थीं।

उन्होंने जो परम्पराएं स्थापित कीं उनके कारण ही संसद शान्तिपूर्ण ढंग से तथा प्रतिष्ठा से उनके जाने के बाद भी चलती रही। उनके बारे में मैं अपने पिता जी के कथन को उद्धृत करना चाहूंगी। मेरे पिता जी ने कहा था :

"आरम्भ के कठिन तथा निर्माण के दिनों में श्री मावलंकर को ही इस बात का श्रेय जाता है कि वह आदर्श अभिभावक के रूप में सभा में हमारी सहायता कर, हमें डांट कर, सही मार्ग पर ले जाते थे तथा ऐसी मिसालें कायम करते थे जिनका भविष्य में पालन किया जायेगा और जिनसे भारत में संसदीय जीवन का विकास होगा···।"

मैं समझती हूं कि उस समय लोग समझते थे कि वे कठिन दिन थे किन्तु श्री मावलंकर की वर्तमान अध्यक्ष तथा सभापति के समान शोर-शराबे अथवा अवज्ञा जैसी कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता था।

माननीय सदस्य प्रायः अध्यक्ष से संरक्षण की मांग करते हैं। मैं नहीं जानती कि उनमें से कितने आवश्यकता पड़ने पर अध्यक्ष की रक्षा करने की सोचते हैं। मैं समझती हूं कि यद्यपि श्री मावलंकर का महान व्यक्तित्व था और वह उच्च स्तर पर काम करते थे किन्तु उन्हें उस समय संसद से आज की संसद की अपेक्षा कहीं अधिक सहयोग मिलता था। अतः यदि हम इन लोगों से ठीक तरह काम करने की अपेक्षा करते हैं, तो हमें उन्हें ऐसा करने का पूरा अवसर भी देना चाहिए।

मुझे न केवल इस टिकट को जारी करने में अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है अपितु एक ऐसे महान भारतीय के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने में भी प्रसन्नता हो रही है जिसकी हम प्रशंसा करते हैं और जिसका हम सम्मान करते हैं।

प्रधान मंत्री इन्दिरा गांधी

27 फरवरी, 1981

□□

कुछ संसदीय प्रकाशन

नेहरू और संसद		75.00
राष्ट्रमंडल की संसदें		100.00
भारत के संविधान में संशोधन		75.00
ग्लोसरी ऑफ इडियम्स		80.00
अनपार्लियामेंटरी एक्सप्रेशन्स (असंसदीय वाक्यांश)		100.00
राष्ट्रीय इलेक्ट्रोनिकी नीति		15.00
भारत की विदेश नीति		10.00
राष्ट्रीय विज्ञान और प्रौद्योगिकी नीति		12.00
संसदीय समितियां		30.00
दक्षिण अफ्रीका और रंगभेद		15.00
संसदीय प्रक्रिया-सारांश माला		25.00
मादक द्रव्यों की विभीषिका		30.00
राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों में राष्ट्रपति शासन		10.00
राष्ट्रपति का निर्वाचन		12.00
राष्ट्रीय सूचना नीति विकसित करने के लिए अपेक्षित पृष्ठभूमि		10.00
हिन्द महासागर—शांति क्षेत्र के रूप में		10.00
केंद्रीय मंत्रिपरिषद्—1947-87 (सम्पूरक सहित)		14.00
भारत सरकार की पर्यटन नीति		10.00
निरस्त्रीकरण और विकास		15.00
भारत में परिवहन		12.00
प्रतिमान संसद, परिचायक संदर्शिका		7.00
नामीबिया समस्या		15.00
लोक सभा अध्यक्ष के निर्देश		5.00
लोक सभा सदस्य निर्देशिका		10.00
संसदीय पत्रिका (त्रैमासिक)	एक प्रति	3.00
	वार्षिक चंदा	12.00
केंद्रीय अधिनियम सार (त्रैमासिक)	एक प्रति	2.00
	वार्षिक चंदा	8.00
सारांश सेवा (त्रैमासिक)	एक प्रति	3.00
	वार्षिक चंदा	10.00
सरकारी उपक्रम (मासिक)	एक प्रति	2.00
	वार्षिक चंदा	20.00
मासिक समाचार सार (मासिक)	एक प्रति	2.50
	वार्षिक चंदा	30.00

दादा साहेब मावलंकर

लोक सभा के जनक

सुभाष काश्यप
संपादक